एम.ए. पूर्वार्द्ध
इतिहास, तृतीय प्रश्नपत्र

भारत का इतिहास

(1757 से 1857 तक)

(HISTORY OF INDIA FROM 1757-1857)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल
MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Mamta Chansoria
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)

2. Dr. Amita Singh
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Manisha Sharma
   Associate Professor
   Govt. P.G. College, Beena (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

3. Dr. L.P. Jharia
   Director, DME
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

4. Dr. Mamta Chansoria
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)

5. Dr. Amita Singh
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)

6. Dr. Manisha Sharma
   Associate Professor
   Govt. P.G. College, Beena (M.P.)

COURSE WRITERS

Prof. Brajesh Kumar Shrivastava, Head, Department of History, In-charge Head, Department of Adult Education, Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar (M.P.)
Units (1.0-1.1, 1.2, 1.2.1, 1.2.2, 1.2.3, 1.2.4, 1.4, 1.4.1, 1.4.2-1.4.3, 1.5-1.9, 2.0, 2.1, 2.4, 2.4.1, 2.4.2, 2.5-2.9, 3.0, 3.1, 3.5-3.9, 4.0, 4.1, 4.4-4.8, 5.0-5.1, 5.2-5.9)

Rajeev Garg, Former Faculty, Department of History, Ray Academy, New Delhi
Units (1.3, 1.3.1-1.3.2, 2.2, 2.3, 3.4)

Deepika Jain, Assistant Professor, Department of History, Govt. College, Umaria Pan, Katni, M.P.
Units (2.4.3, 3.2, 3.3, 4.2, 4.2.1-4.2.3, 4.3, 4.3.1, 4.3.2, 4.3.3)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

VIKAS®

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

भारत का इतिहास (1757 से 1857 तक)

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 भारत के इतिहास के स्रोत अभिलेखागारीय स्रोत व्यक्तिगत दस्तावेज समाचार पत्र एवं पत्रिकाएं मौखिक परंपराएं इतिहास के दृष्टिकोण एवं व्याख्या : विभिन्न विचारधाराएं इतिहास लेखन के विभिन्न उपागम (दृष्टिकोण) इतिहास लेखन की विभिन्न विचारधाराएं उत्तर पूर्व–औपनिवेशिक व्यवस्था : राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक राजनीतिक स्थिति आर्थिक स्थिति सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति	**इकाई 1** : भारतीय इतिहास के स्रोत, दृष्टिकोण एवं उत्तर पूर्व औपनिवेशिक व्यवस्था **(पृष्ठ 3–46)**
इकाई–2 ब्रिटिश सत्ता का विस्तार : विचारधारा, नीतियां और कार्यक्रम सत्ता विस्तार के साधन : युद्ध एवं कूटनीति भारत और औपनिवेशिक निर्माण प्रशासनिक संरचना पुलिस, सेना, कानून और नागरिक सेवा राज और नस्लीय दृष्टिकोण की विचारधारा	**इकाई 2** : ब्रिटिश सत्ता का विस्तार : सत्ता विस्तार के साधन एवं भारत का औपनिवेशिक निर्माण **(पृष्ठ 47–116)**
इकाई–3 भारतीय समाज के संदर्भ में ब्रिटिश समझ : प्राच्यवादी, इंजीलवादी, उपयोगितावादी और परिवर्तन के विचार अंग्रेजों का प्राच्यवादी दृष्टिकोण अंग्रेजों का इंजीलवादी दृष्टिकोण अंग्रेजों का उपयोगितावादी दृष्टिकोण परिवर्तन के विचार शिक्षा : स्वदेशी और आधुनिक प्राच्यवादी शिक्षा अंग्रेजी शासन काल में शिक्षा सामाजिक सुधार और उभरते सामाजिक वर्ग	**इकाई 3** : सामाजिक नीतियां एवं सामाजिक परिवर्तन **(पृष्ठ 117–161)**
इकाई–4 ग्रामीण अर्थव्यवस्था ब्रिटिश शासन से पहले का आर्थिक संगठन ग्रामीण अर्थतंत्र : पूर्वी भारत, मध्य भारत और उत्तरी भारत ग्रामीण अर्थतंत्र : पश्चिमी एवं दक्षिण भारत और देशी रियासतें शहरी अर्थव्यवस्था कारीगर और औद्योगिक उत्पादन विऔद्योगिकीकरण पर बहस आंतरिक बाजारों एवं शहरी केंद्रों का विकास तथा डाक, टेलीग्राफ व रेल संचार	**इकाई 4** : आर्थिक संगठन : परिवर्तन एवं निरंतरता **(पृष्ठ 163–246)**

इकाई–5

औपनिवेशिक शासन के विरोध की प्रकृति एवं स्वरूप
1857 से पूर्व किसान जनजाति और सांस्कृतिक विरोध
1857 का विद्रोह : विचारधारा, कार्यक्रम, विभिन्न स्तरों पर नेतृत्व, लोगों की भागीदारी तथा ब्रिटिश दमन और प्रतिक्रिया

इकाई 5 : औपनिवेशिक शासन का विरोध
(पृष्ठ 247–281)

विषय–सूची

परिचय **1**

इकाई 1 भारतीय इतिहास के स्रोत, दृष्टिकोण एवं उत्तर पूर्व औपनिवेशिक व्यवस्था **3–46**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारत के इतिहास के स्रोत
  1.2.1 अभिलेखागारीय स्रोत
  1.2.2 व्यक्तिगत दस्तावेज
  1.2.3 समाचार पत्र एवं पत्रिकाएं
  1.2.4 मौखिक परंपराएं
1.3 इतिहास के दृष्टिकोण एवं व्याख्या : विभिन्न विचारधाराएं
  1.3.1 इतिहास लेखन के विभिन्न उपागम (दृष्टिकोण)
  1.3.2 इतिहास लेखन की विभिन्न विचारधाराएं
1.4 उत्तर पूर्व–औपनिवेशिक व्यवस्था : राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक
  1.4.1 राजनीतिक स्थिति
  1.4.2 आर्थिक स्थिति
  1.4.3 सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 ब्रिटिश सत्ता का विस्तार : सत्ता विस्तार के साधन एवं भारत का औपनिवेशिक निर्माण **47–116**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 ब्रिटिश सत्ता का विस्तार : विचारधारा, नीतियां और कार्यक्रम
2.3 सत्ता विस्तार के साधन : युद्ध एवं कूटनीति
2.4 भारत और औपनिवेशिक निर्माण
  2.4.1 प्रशासनिक संरचना
  2.4.2 पुलिस, सेना, कानून और नागरिक सेवा
  2.4.3 राज और नस्लीय दृष्टिकोण की विचारधारा
2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.6 सारांश
2.7 मुख्य शब्दावली
2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 सामाजिक नीतियां एवं सामाजिक परिवर्तन **117–161**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य

3.2 भारतीय समाज के संदर्भ में ब्रिटिश समझ : प्राच्यवादी, इंजीलवादी, उपयोगितावादी और परिवर्तन के विचार
3.2.1 अंग्रेजों का प्राच्यवादी दृष्टिकोण
3.2.2 अंग्रेजों का इंजीलवादी दृष्टिकोण
3.2.3 अंग्रेजों का उपयोगितावादी दृष्टिकोण
3.2.4 परिवर्तन के विचार
3.3 शिक्षा : स्वदेशी और आधुनिक
3.3.1 प्राच्यवादी शिक्षा
3.3.2 अंग्रेजी शासन काल में शिक्षा
3.4 सामाजिक सुधार और उभरते सामाजिक वर्ग
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 आर्थिक संगठन : परिवर्तन एवं निरंतरता **163–246**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 ग्रामीण अर्थव्यवस्था
4.2.1 ब्रिटिश शासन से पहले का आर्थिक संगठन
4.2.2 ग्रामीण अर्थतंत्र : पूर्वी भारत, मध्य भारत और उत्तरी भारत
4.2.3 ग्रामीण अर्थतंत्र : पश्चिमी एवं दक्षिण भारत और देशी रियासतें
4.3 शहरी अर्थव्यवस्था
4.3.1 कारीगर और औद्योगिक उत्पादन
4.3.2 विऔद्योगिकीकरण पर बहस
4.3.3 आंतरिक बाजारों एवं शहरी केंद्रों का विकास तथा डाक, टेलीग्राफ व रेल संचार
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 औपनिवेशिक शासन का विरोध **247–281**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 औपनिवेशिक शासन के विरोध की प्रकृति एवं स्वरूप
5.3 1857 से पूर्व किसान जनजाति और सांस्कृतिक विरोध
5.4 1857 का विद्रोह : विचारधारा, कार्यक्रम, विभिन्न स्तरों पर नेतृत्व, लोगों की भागीदारी तथा ब्रिटिश दमन और प्रतिक्रिया
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'भारत का इतिहास (1757–1857 तक)' का लेखन विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम.ए. इतिहास (पूर्वार्द्ध) के पाठ्यक्रम के अनुरूप किया गया है।

18वीं सदी में उत्तरवर्ती मुगल शासकों के दुर्बल होने से मुगल साम्राज्य का पतन होना आरंभ हो गया था। ठीक इसी समय भारत में यूरोपीय शक्तियां पैर पसार रही थी जिनमें सबसे प्रमुख अंग्रेज थे। अंग्रेजों ने बंगाल से अपने प्रसार की प्रक्रिया प्रारंभ की थी। 18वीं शताब्दी में बंगाल अंग्रेजों की व्यापारिक गतिविधियों का केंद्र बना।

1757 के प्लासी के युद्ध ने भारत के लिए बहुत कुछ बदलकर रख दिया था। इस युद्ध में विजय के पश्चात ब्रिटिश इंडिया कंपनी के शासन ने भारत में अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। भारतीय जनता का कंपनी के शासन के विरुद्ध रोष 1857 की क्रांति के रूप में प्रकट हुआ तथा ब्रिटिश शासन के प्रति यह आक्रोश निरंतर बढ़ता ही गया। 10 मई, 1857 को विद्रोह प्रारंभ हुआ। इस विद्रोह के पश्चात भारत में कंपनी का शासन समाप्त होकर ब्रिटिश शासन आरंभ हो गया। 1857 के समान अन्य कोई विद्रोह न हो इसके लिए ब्रिटिश साम्राज्य ने पुलिस, सेना कानून व्यवस्था एवं नागरिक सेवा की सुव्यवस्था करने का प्रयत्न किया।

अध्ययन की सुविधा के लिए संपूर्ण पुस्तक को पांच इकाइयों में समायोजित किया गया है। प्रत्येक इकाई के प्रारंभ में विषय का विश्लेषण करने से पहले उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया है तथा इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता को परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं। इन इकाइयों का विवरण निम्नांकित हैं–

पहली इकाई में भारतीय इतिहास के स्रोत, दृष्टिकोण एवं उत्तर पूर्व औपनिवेशिक व्यवस्था का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है।

दूसरी इकाई में ब्रिटिश सत्ता का विस्तार, सत्ता विस्तार के साधन एवं भारत के औपनिवेशिक निर्माण के विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

तीसरी इकाई में भारतीय समाज के संदर्भ में ब्रिटिश समझ, स्वदेशी व आधुनिक शिक्षा, सामाजिक सुधार और उभरते हुए सामाजिक वर्ग को प्रतिपादित किया गया है।

चौथी इकाई ग्रामीण अर्थव्यवस्था और शहरी अर्थव्यवस्था पर आधारित है।

पांचवीं इकाई में औपनिवेशिक शासन के विरोध की प्रकृति एवं स्वरूप, 1857 से पूर्व किसान जनजाति और सांस्कृतिक विरोध तथा 1857 के विद्रोह के विषय में विस्तार से विवेचना की गई है।

पुस्तक की रचना इस प्रकार की गई है जिससे कि विद्यार्थियों को भारत के इतिहास के संबंध में विस्तृत ज्ञान प्राप्त हो सके और वे अपने ज्ञान में वृद्धि के लिए इसका उपयोग कर सकें। हमें आशा ही नहीं बल्कि पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक सभी अध्येताओं के लिए मार्गदर्शक एवं उपयोगी सिद्ध होगी।

इकाई 1 भारतीय इतिहास के स्रोत, दृष्टिकोण एवं उत्तर पूर्व औपनिवेशिक व्यवस्था

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारत के इतिहास के स्रोत
  1.2.1 अभिलेखागारीय स्रोत
  1.2.2 व्यक्तिगत दस्तावेज
  1.2.3 समाचार पत्र एवं पत्रिकाएं
  1.2.4 मौखिक परंपराएं
1.3 इतिहास के दृष्टिकोण एवं व्याख्या : विभिन्न विचारधाराएं
  1.3.1 इतिहास लेखन के विभिन्न उपागम (दृष्टिकोण)
  1.3.2 इतिहास लेखन की विभिन्न विचारधाराएं
1.4 उत्तर पूर्व–औपनिवेशिक व्यवस्था : राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक
  1.4.1 राजनीतिक स्थिति
  1.4.2 आर्थिक स्थिति
  1.4.3 सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोतों का स्वरूप प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय इतिहास के स्रोतों से भिन्न है। प्राचीन भारत का इतिहास जानने के लिए पुरातात्विक स्रोतों का महत्वपूर्ण स्थान है। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के स्रोतों में तत्युगीन साहित्य एवं ऐतिहासिक कृतियों का विशिष्ट महत्व है। इनसे अलग आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोतों में अभिलेखागारीय स्रोतों का विशिष्ट महत्व है। इनके अलावा तत्युगीन पत्र, पत्रिकाएं, आत्मकथा, निजी दस्तावेज एवं मौखिक साक्षात्कार भी आधुनिक भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। परंतु इन स्रोतों की कुछ सीमाएं भी हैं।

अभिलेखागार क्या होते हैं? अभिलेखागारीय स्रोतों का क्या महत्व है? आत्मकथा किस प्रकार आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोतों में महत्वपूर्ण साबित होती है? छाया चित्र एवं निजी पत्र किस प्रकार आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोत हो सकते हैं? यह बताने का प्रयास इस इकाई में किया गया है।

भारत छोड़ो आंदोलन एवं गोवा मुक्ति आंदोलन के कई प्रत्यक्षदर्शी आज हमारे बीच मौजूद हैं। कई लोग तो ऐसे भी हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन आंदोलनों में भाग लिया था। उनसे साक्षात्कार कर हम तत्युगीन ऐतिहासिक सामग्री जुटा सकते हैं। इनसे प्राप्त सूचनाओं को वैज्ञानिक दृष्टि से परखना आवश्यक है।

प्रस्तुत इकाई में आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोतों की सांगोपांग विवेचना प्रस्तुत की गई है। साथ ही भारतीय इतिहास के दृष्टिकोण एवं उत्तर पूर्व औपनिवेशिक व्यवस्था का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

टिप्पणी

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारत के इतिहास के स्रोतों के विषय में जान पाएंगे;
- भारतीय इतिहास के दृष्टिकोण को समझ पाएंगे;
- इतिहास लेखन की विभिन्न विचारधाराओं से अवगत हो पाएंगे;
- भारत की उत्तर पूर्व–औपनिवेशिक व्यवस्था से भलीभांति परिचित हो पाएंगे।

1.2 भारत के इतिहास के स्रोत

आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोतों का स्वरूप प्राचीन एवं मध्य युगीन भारतीय इतिहास के स्रोतों से भिन्न है। प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में हम पुरातात्विक स्रोतों पर अधिक निर्भर हैं। मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के निर्माण में हम तत्युगीन दरबारी इतिहासकारों की कृतियों पर निर्भर हैं। विदेशी यात्रियों के विवरण भी प्राचीन एवं मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण में स्रोतों का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। पुरातात्विक स्रोतों एवं दरबारी इतिहासकारों के स्थान पर आधुनिक काल के इतिहास के निर्माण में अभिलेखागारीय स्रोतों का महत्व बढ़ जाता है। अभिलेखागारीय दस्तावेज आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण के प्रमुख स्रोत हैं। राज्यस्तरीय एवं राष्ट्रीय अभिलेखागारों में विभिन्न दस्तावेजों की कई फाइलें मिलती हैं। इन दस्तावेजों में ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों के पत्र, निजी–पत्र, तत्युगीन समाचार–पत्र, तत्युगीन सरकारी फाइलें आदि मौजूद हैं। इनमें हमें ब्रिटिश कालीन भारत की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति की जानकारी प्राप्त होती है।

निजी पत्र भी आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण का प्रमुख स्रोत हैं। उदाहरण के लिए गांधीजी द्वारा अन्य लोगों को एवं अन्य लोगों द्वारा गांधी जी को लिखे गए पत्र निजी पत्रों की श्रेणी में आते हैं। ऐसे ही विभिन्न राजनीतिज्ञों के निजी पत्रों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनसे भी हमें आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण में मदद मिलती है। आधुनिक काल में समाचार–पत्रों का प्रकाशन आरंभ हो चुका था। इन समाचार–पत्रों से भी हमें आधुनिक भारतीय इतिहास के लेखन में मदद मिलती है।

आधुनिक भारत में कई पत्रिकाओं का भी प्रकाशन प्रारंभ हो चुका था, इन पत्रिकाओं में विभिन्न व्यक्तियों के लेख, शोध–पत्र रहते हैं। ये पत्रिकाएं भी आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण का महत्वपूर्ण स्रोत हैं। आज भी कई ऐसे वृद्ध जीवित हैं, जो कि 1942 ई. के भारत छोड़ो आंदोलन एवं भारत विभाजन के प्रत्यक्षदर्शी हैं। इनसे मौखिक साक्षात्कार करके हम उस समय की तथ्यपरक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

टिप्पणी

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोतों का स्वरूप प्राचीन एवं मध्ययुगीन भारतीय इतिहास स्रोतों से पूर्णतः भिन्न है। इनका विस्तृत विवचेन हम यहां प्रस्तुत करेंगे।

1.2.1 अभिलेखागारीय स्रोत

आधुनिक भारत के इतिहास में शोधरत छात्रों के लिए अभिलेखागारीय स्रोत अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। इनमें सामग्री सूचीबद्ध एवं नियोजित होती है।

अभिलेखागार क्या है?

अभिलेखागार शब्द यूनानी भाषा के आर्कियोन से निकला है, जिसका अर्थ है सार्वजनिक कार्यालय या टाउन हॉल। आधुनिक समय में अभिलेखागारों का सभी देशों में विशिष्ट महत्व है। अभिलेखागारों में अतीत के सभी सरकारी, गैर–सरकारी अभिलेख संग्रहीत रहते हैं। इनमें हस्तलिखित पांडुलिपियां, ब्रिटिश कालीन अभिलेख, पत्र, अखबार, मानचित्र, योजनाएं, डायरियां, फोटोग्राफ, कतरन, कानूनी दस्तावेज, रेखांकनों की फोटो कॉपी की गई सामग्री एवं माइक्रोफिल्म पर उतारी गयी सामग्री, वीडियो एवं ऑडियो रिकार्डिंग एवं कम्पयूटर डिस्क जैसी विविध प्रकार की सामग्री प्राप्त होती है।

आज कई अभिलेखागारीय सामग्रियां प्रकाशित हो गई हैं। 1857 की क्रांति के दौरान के ब्रिटिश दस्तावेजों के प्रकाशित होने से आज 1857 ई. की क्रांति के स्वरूप को समझना आसान हो गया है। आज आधुनिक भारतीय इतिहास पर शोध करने वाले विद्यार्थियों के लिए अभिलेखागार अत्यंत मददगार साबित हो रहे हैं।

राष्ट्रीय अभिलेखागार की स्थापना

राष्ट्रीय अभिलेखागार ब्रिटिश शासनकाल में 'इम्पीरियल रिकॉर्ड डिपार्टमेंट' के नाम से जाना जाता था। इम्पीरियल रिकॉर्ड विभाग की स्थापना 11 मार्च, 1891 ई. में कलकत्ता में की गई थी। इस विभाग के प्रथम प्रभारी अधिकारी सर जी. डब्ल्यू. फॉरेस्ट थे। इस पद का नाम कीपर ऑफ रिकॉर्ड्स ऑफ गवर्नमेंट ऑफ इंडिया किया गया। 1911 ई. में भारत स्थित ब्रिटिश सरकार की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली स्थानांतरित की गई। इसके पश्चात 1926 ई. में जनपथ मार्ग नई दिल्ली में राष्ट्रीय अभिलेखागार के विशाल भवन का निर्माण किया गया। 1926 ई. से 1937 ई. तक कलकत्ता से रिकॉर्डों का समस्त संग्रह दिल्ली स्थित राष्ट्रीय अभिलेखागार में लाया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात 'इम्पीरियल डिपार्टमेंट' का नाम, भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार रखा गया। वर्तमान में यह पदाधिकारी 'डायरेक्टर जनरल ऑफ आर्काइव्ज ऑफ इंडिया' कहा जाता है। 1976 ई. में अभिलेखीय प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना हुई, जिसका नाम 1980 ई. में स्कूल ऑफ आर्काइवल स्टडीज किया गया।

भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार एशिया में व्यवस्थित तरीके से अभिलेख संग्रहीत करने वाला अग्रणी संगठन है। मुख्य अभिलेखागार दिल्ली में स्थित है।

राज्य अभिलेखागार

भारत का प्रमुख अभिलेखागार जनपथ मार्ग नई दिल्ली में स्थापित है। इसके चार क्षेत्रीय कार्यालय भोपाल, भुवनेश्वर, जयपुर एवं पांडिचेरी हैं। इन क्षेत्रीय कार्यालयों के अतिरिक्त राज्य अभिलेखागार भी स्थित है। इन राज्य अभिलेखागारों में राजस्थान

टिप्पणी

राज्य अभिलेखागार बीकानेर का महत्वपूर्ण स्थान है। चूंकि ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के पूर्व भारत में मुगल सत्ता स्थापित थी और मुगल सत्ता के आधार स्तंभ राजपूत थे। राजपूतों के साथ मुगल पत्र व्यवहार एवं अन्य संबंधित दस्तावेज हमें राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर में प्राप्त होते हैं। 1955 ई. में राजस्थान राज्य अभिलेखागार का मुख्यालय राजस्थान राज्य की राजधानी जयपुर में स्थापित किया गया था। 1963 ई. में यह जयपुर से बीकानेर स्थानांतरित कर दिया गया।

राज्य अभिलेखागार के प्रमुखतः तीन कार्य हैं –

प्रथम : अभिलेखागार में अभिलेखों (प्रलेखों) की सुरक्षा तथा इन अभिलेखों से राज्य के सरकारी विभागों, न्यायालयों एवं जन–साधारण को सूचनाएं उपलब्ध कराना।

द्वितीय : अभिलेखागारों के नियमानुसार उन अभिलेखों को शोधार्थियों को ऐतिहासिक शोध के लिए उपलब्ध कराना।

तृतीय : शोध अधिकारी एवं पुरालेखपाल द्वारा शोधार्थियों को उनके शोध विषय से संबंधित अभिलेख श्रृंखलाओं से परिचित कराना तथा उन्हें अभिलेखों की सूचियां उपलब्ध कराना।

अभिलेखागारों के अभिलेखों की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता है। नियमित रूप से अभिलेखों को हवा लगाई जाती है, उन्हें साफ किया जाता है, कीटनाशक दवाओं से उनका उपचार किया जाता है। परिरक्षकों द्वारा उन्हें संवारा जाता है। इसके साथ ही पुराने एवं जर्जर अभिलेखों की मरम्मत एवं लेमीनेशन पद्धति द्वारा उनका संरक्षण किया जाता है।

अभिलेखागारीय दस्तावेज

राष्ट्रीय अभिलेखागार दिल्ली में सुरक्षित अभिलेख मुख्यतः सरकारी दस्तावेज हैं। ये समस्त दस्तावेज ईस्ट इंडिया कंपनी, ब्रिटिश सरकार एवं भारत सरकार से संबंधित हैं। इन दस्तावेजों में निष्पक्ष ऐतिहासिक सामग्री संग्रहीत है। ईस्ट इंडिया कंपनी के दस्तावेजों का यहां विपुल भंडार है, जिसके संबंध में ग्रांट डफ ने कहा था कि– संभवतः यह संसार की श्रेष्ठ ऐतिहासिक सामग्री है।

राष्ट्रीय अभिलेखागार दिल्ली में 1748 ई. के पश्चात सभी दस्तावेज संग्रहीत हैं। 1707 से 1748 ई. के बीच के दस्तावेजों का संग्रह कॉमन वेल्थ रिलेशंस ऑफिस लंदन से प्राप्त किया गया है। लार्ड कैनिंग ने महत्वपूर्ण दस्तावेजों को मुद्रित कराने की योजना आरंभ की थी। 1857 ई. के पश्चात के अधिकांश दस्तावेज मुद्रित हैं।

राष्ट्रीय अभिलेखागार से प्राप्त दस्तावेज आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण स्रोत सामग्री उपलब्ध कराते हैं।

1857 की क्रांति के पूर्व दस्तावेज

1857 ई. की क्रांति के पूर्व के दस्तावेजों में ईस्ट इंडिया कंपनी के दस्तावेज शामिल हैं। इनके तहत निम्नलिखित दस्तावेज आते हैं–

- **फाइनेंस डिपार्टमेंट (1810–1859 ई.)**– ये दस्तावेज मूलतः व्यापार एवं राजस्व से संबंधित हैं।

- **फॉरेन डिपार्टमेंट (1756–1856 ई.)**– इन दस्तावेजों द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी के मुगल, मराठा, जाट, सिख, मैसूर, बंगाल के नबाबों से संबंधों की जानकारी मिलती है।
- **होम डिपार्टमेंट (1704–1859 ई.)**– ये दस्तावेज राजनीतिक, सार्वजनिक, धार्मिक, शिक्षा, न्याय आदि से संबंधित हैं।
- **लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट (1777–1859 ई.)**– इनमें दीवानी, फौजदारी, न्याय व्यवस्था, इंडियन लॉ कमीशन एवं पुलिस विभाग से संबंधित दस्तावेज प्राप्त होते हैं।
- **मिलिट्री डिपार्टमेंट**– इनमें सैन्य विभाग से संबंधित दस्तावेज हैं। इनमें 1857 की क्रांति से संबंधित अति महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

1857 की क्रांति के पश्चात के दस्तावेज

सन् 1860 ई. के पश्चात भारत सरकार का कार्य कई विभागों द्वारा संभाला गया। 1947 ई. तक लगभग 18 विभाग कार्यरत थे। इन समस्त विभागों से संबंधित दस्तावेज अलग–अलग फाइलों में राष्ट्रीय अभिलेखागार से प्राप्त होते हैं।

1947 के पश्चात के दस्तावेज

1947 ई. में स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय गृह मंत्रालय की स्थापना की गई। इस विभाग में 1948 ई. से 1958 ई. के बीच के दस्तावेजों का संग्रह प्राप्त होता है। भारत के स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात राजनीतिक विभाग का नामकरण रियासती मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑफ स्टेट्स) किया गया। देशी रियासतों के भारतीय गणतंत्र में विलय के पश्चात रियासती मंत्रालय को समाप्त कर दिया गया। इस विभाग का कार्य गृह मंत्रालय को हस्तान्तरित कर दिया गया। रियासती मंत्रालय संबंधी दस्तावेज भी राष्ट्रीय अभिलेखागार में प्राप्त होते हैं।

राजपूताना राज्यों के राजनीतिक, आर्थिक एवं संवैधानिक विषयों से संबंधित रिकॉर्ड एवं राजपूत राज्यों के भारतीय संघ के विलय संबंधी दस्तावेज इस विभाग की फाइलों में सुरक्षित हैं। राष्ट्रीय अभिलेखागार द्वारा निर्मित 'इन्डेक्स टू द प्रॉसीडिंग्स ऑफ द मिनिस्ट्री ऑफ स्टेट्स फॉर द ईयर 1948 A.D.-1949 A.D.' में राज्य संबंधी जानकारी प्राप्त होती है।

उदाहरण के लिए राष्ट्रीय अभिलेखागार की फाइल क्रमांक 74P (सीक्रेट) वॉल्यूम III, 1948 A.D. मिनिस्ट्री ऑफ स्टेट, में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की अलवर एवं भरतपुर राज्यों की गतिविधियों एवं राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, खाकसार एवं मुस्लिम लीग पर भारतीय राज्यों में प्रतिबंध संबंधी जानकारी मिलती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय अभिलेखागार एवं राज्य अभिलेखागारों में आधुनिक भारतीय इतिहास के लेखन हेतु प्रचुर मात्रा में स्रोत संबंधी सामग्री प्राप्त होती है।

1.2.2 व्यक्तिगत दस्तावेज

व्यक्तिगत दस्तावेजों के तहत विभिन्न निजी पत्र एवं आत्मकथा आते हैं।

टिप्पणी

व्यक्तिगत पत्र

ये पत्र स्वाधीनता आंदोलन के दौरान एवं पश्चात विभिन्न स्वाधीनता संग्राम सेनानियों ने एक–दूसरे को लिखे थे। 1857 ई. की क्रांति के दौरान क्रांतिकारी नेताओं ने भी एक–दूसरे के साथ पत्र व्यवहार किया था। ये पत्र आज भी कतिपय स्वाधीनता संग्राम सेनानियों के परिवार वालों के पास सुरक्षित हैं। कुछ पत्र कहीं–कहीं म्यूजियम आदि में रखे हुए हैं। कुछ पत्र राज्य अभिलेखागार एवं राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित हैं। कुछ पत्र संग्रह तो प्रकाशित भी हो चुके हैं।

1857 ई. की क्रांति के दौरान बुंदेलखंड के विभिन्न क्रांतिकारियों ने तात्या टोपे को जो पत्र लिखे उनका संग्रह परशुराम शुक्ल 'विरही' द्वारा '1857 ई. की क्रांति के पत्र' के नाम से नगरपालिका शिवपुरी (म.प्र.) के सौजन्य से तात्या टोपे समिति शिवपुरी द्वारा प्रकाशित कराया गया है।

'बुंदेलखंड की पूर्व रियासतों के पत्र'– पांडुलिपियों का सर्वेक्षण नाम से तत्युगीन पत्र एवं पांडुलिपियों का प्रकाशन डॉ. कामिनी, डॉ. श्याम सुंदर सौनकिया, डॉ. श्याम बिहारी श्रीवास्तव एवं डॉ. सीताकिशोर आदि ने 1994 ई. में अनुराधा ब्रदर्स कानपुर से प्रकाशित कराया है।

ऐसे ही कुछ दस्तावेजों का संकलन 'मंडला के दस्तावेज' नाम से सुरेश मिश्रा ने स्वराज संस्थान भोपाल द्वारा 2004 में प्रकाशित कराया है।

भगवानदास गुप्त महोदय ने भी बुंदेलखंड संबंधी कुछ निजी पत्रों का संग्रह 'कन्टमप्रेरी सोर्सेज ऑफ द मीडिएविल एंड मॉडर्न हिस्ट्री ऑफ बुंदेलखंड' नाम से 1999 ई. में एस.एस. पब्लिशर्स, दिल्ली से प्रकाशित कराया है।

क्षेत्रिय स्तर पर ऐसे ही कई व्यक्तिगत दस्तावेज आज प्रकाशित हो चुके हैं। इनसे हमें भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का तथ्यपरक एवं प्रामाणिक इतिहास लिखने में अत्यधिक मदद मिलती है। ये पत्र तत्युगीन राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं।

राष्ट्रीय अभिलेखागार दिल्ली में भी अंग्रेजी भाषा के निम्नलिखित व्यक्तिगत पत्रों का संग्रह सुरक्षित है–

- मेक्कार्टनी पेपर्स (1776–1798 ई.)
- खापर्डे पेपर्स (1878–1938 ई.)
- गोखले पेपर्स (1889–1915 ई.)
- गांधी पेपर्स
- जयकर पेपर्स (1905–1955 ई.)

इन पत्रों में तत्युगीन भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण जानकारी संकलित है। महात्मा गांधी एवं जवाहरलाल नेहरू के पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। इन पत्रों से कई महत्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त होती हैं।

भारत में नई दिल्ली स्थित नेहरू स्मारक संग्रहालय व ग्रंथालय, (नेहरू मेमोरियल म्यूजियम लाइब्रेरी) व्यक्तिगत पत्रों व गैर सरकारी दस्तावेजों का सबसे बड़ा

संग्रहालय है। आधुनिक भारतीय इतिहास पर शोध करने वाले छात्रों के लिए यहां के पांडुलिपि विभाग का अध्ययन अपरिहार्य माना जाता है। इस संग्रहालय का सर्वप्रमुख आकर्षण जवाहर लाल नेहरू एवं अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पत्रों का संग्रह है। इन पत्रों को पूर्वार्द्ध 1947 ई. एवं उत्तरार्द्ध 1947 ई. इन दो कालों में विभाजित किया गया है।

नेहरू ग्रंथालय में उपलब्ध पत्र संग्रह आधुनिक भारतीय इतिहास के राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक इन सभी पक्षों पर प्रकाश डालता है। यदि कोई शोधार्थी, वैज्ञानिक एवं रक्षा अनुसंधान संबंधी शोध कर रहा है तो यहां उपस्थित एम. एन. साहा के पत्र उसके शोध में अत्यंत मददगार साबित होंगे। यदि कोई शोध अध्येता आधुनिक भारत में व्यापार की स्थिति पर शोध करना चाहता है तो उसके लिए बालचंद हीरालाल, जमनालाल बजाज या जी. डी. बिरला जैसे प्रारंभिक उद्योगपतियों के पत्रों का अध्ययन महत्वपूर्ण साबित होगा।

नेहरू जी के अलावा संग्रहालय में मोतीलाल नेहरू, गांधी जी, जयप्रकाश नारायण, बी. आर. अंबेडकर, मदन मोहन मालवीय, टी.टी. कृष्णमाचारी, तेज बहादुर सप्रू एवं एम. एन. शाह आदि के पत्र भी अत्यंत महत्व के हैं।

व्यक्तिगत पत्रों में अंतर्निहित इतिहास

1857 की क्रांति से लेकर 1947 ई. को भारत की स्वतंत्रता तक का इतिहास व्यक्तिगत पत्रों में अंतर्निहित मिलता है। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास की कई महत्वपूर्ण तथ्यपरक सामग्री इन पत्रों से मिलती है। इतिहास की कई अनसुलझी गुत्थियां भी इन पत्रों के माध्यम से सुलझाई जा सकती हैं। जिस प्रकार नित–नवीन प्राप्त होने वाली पुरातात्विक सामग्री प्राचीन भारतीय इतिहास में नित–नवीन परिवर्तन करती रहती है उसी प्रकार व्यक्तिगत पत्रों की प्राप्ति भी आधुनिक भारतीय इतिहास में नवीन कड़ियां जोड़ती है।

1857 ई. की क्रांति को ही लें, इसके बारे में कतिपय विद्वानों ने कहा है कि यह मात्र एक सैनिक व्रिदोह था, इस क्रांति की कोई पूर्व योजना तैयार नहीं की गई थी। ऐसी ही तमाम अवधारणाओं को 1857 ई. की क्रांति की प्रमुख सूत्रधार झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के एक पत्र ने परिवर्तित किया है।

मर्दन सिंह एवं बखतवली का सहयोग पाकर रानी लक्ष्मीबाई का हौसला इतना अधिक बढ़ गया कि उसने भारतीय इतिहास में प्रथम बार स्वराज का उल्लेख करते हुए राजाओं को पत्र में लिखा कि–

सुराज भऔ चाहिए, ये ही सलाह पर डटो राने है कायसे भारत अपुन को देश है,'

अपने इस कथन का उल्लेख रानी लक्ष्मीबाई ने कालपी से महाराज मर्दन सिंह को लिखे पत्र में पुनः किया था।

इस मूल पत्र की भाषा स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार है–

श्री महाराजाधिराज श्री राजा मर्दन सिंह जू देव

ऐते श्री महारानी श्री रानी लक्ष्मीबाई देवी के

वांचने आपर अंहां के समाचार भले चाहिजे इहां के

टिप्पणी

समाचार भले हैं आपर हमरी व अपुनी व राजा शाहगढ़ व

नाना साहब व तात्या टोपे की सलाह भई थी कै सुराज

भऔ चाहिजे यो ही सलाह पर डटो राने है कायसे कै

भारत अपुन का देश है, ई विदेसियों की गुलामी में

रहिवो अच्छो नहीं है उनसे लड़वो अच्छौ है

पाती समाचार देवे में आवे मिती कुवार वदी

संवत् 1914 मुकाम कालपी

रानी लक्ष्मीबाई का यह एक महत्वपूर्ण एवं दुर्लभ पत्र है। इसे सन् 1961 ई. में पंडित जवाहरलाल नेहरू को दिल्ली में भेंट किया गया था।

यह पत्र एक साथ कई महत्वपूर्ण सूचनाएं प्रदान करता है। इस पत्र से स्पष्ट होता है कि रानी लक्ष्मीबाई, मर्दन सिंह एवं बखतवली ने अंग्रेजों को देश के बाहर खदेड़ने की एक स्पष्ट कार्य योजना तैयार की थी। सागर के शाहगढ़ रियासत के राजा बखतवली एवं बानपुर राजा मर्दनसिंह के साथ मिलकर रानी लक्ष्मीबाई ने सुराज का नारा भारतीय इतिहास में उसी समय प्रथम बार दिया था। जो लोग यह मानते हैं कि–

- 1857 ई. की क्रांति में विभिन्न राजा अपने–अपने स्वार्थ की खातिर लड़ रहे थे।
- एक सैनिक विद्रोह मात्र था।
- देश की स्वतंत्रता से इसका कोई लेना–देना नहीं था।

ऐसे लोगों को रानी लक्ष्मीबाई का यह पत्र करारा जवाब प्रस्तुत करता है। इस पत्र से हमें एक साथ पता चलता है कि–

- स्वराज शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम रानी लक्ष्मीबाई ने किया था।
- सागर क्षेत्र सहित बुंदेलखंड के राजाओं ने क्रांति की एक स्पष्ट रूपरेखा तैयार की थी।
- इन नेताओं के लिए भारतवर्ष की आजादी निहित स्वार्थों से ऊपर थी।
- रानी लक्ष्मीबाई ने गुलामी से कहीं श्रेयस्कर अंग्रेजों से लड़कर मर जाना अच्छा माना। रानी लक्ष्मीबाई ने इस पत्र में जो कुछ भी कहा, वह करके भी दिखाया उन्होंने अंग्रेजों से लड़ते–लड़ते ही अपनी जान दे दी।
- एक और मुख्य बात यह पता चलती है कि इस समय अंग्रेज विरोधी व्यूह रचना तैयार करने में बखतवली, मर्दन सिंह, रानी लक्ष्मीबाई एवं तात्या टोपे के साथ–साथ रानी लक्ष्मीबाई के बचपन के साथी नाना साहब भी उनके साथ ही थे।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के दो महानायकों महात्मा गांधी एवं पं. जवाहरलाल नेहरू के आपसी संबंधों एवं तत्युगीन राजनीतिक परिस्थितियों को इन दोनों के बीच संपन्न पत्र व्यवहार द्वारा बेहतर ढंग से समझा जा सकता है।

1936 एवं 1937 ई. में पं. जवाहर लाल नेहरू भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों में जवाहर लाल नेहरू के प्रति कतिपय

टिप्पणी

लोगों के मन में कड़वाहट थी। जवाहरलाल नेहरू इससे अत्यधिक व्यथित थे। उन्होंने अपनी व्यथा महात्मा गांधी को इलाहाबाद से लिखे अपने 5 जुलाई, 1936 ई. के पत्र में इस प्रकार व्यक्त की है।

इलाहाबाद, 5 जुलाई 1936

मेरे प्रिय बापू,

... मुझे इस पद्धति में और कांग्रेस जो कुछ भी कर रही है, उसके बीच कोई टकराव नहीं दिखाई देता। जहां तक चुनावों का संबंध है, मेरा मानना है कि मेरा रवैया इस दिशा में निश्चय ही एक लाभकारी साधन था। परंतु मेरे कोमल और अस्पष्ट रवैये को मेरे सहयोगी खतरनाक और क्षतिकारक मानते हैं....

प्रेमपूर्वक आपका

जवाहर लाल

जब यह पत्र सेगांव में महात्मा गांधी को मिला, जवाहरलाल नेहरू की व्यथा जानकर गांधी जी ने उन्हें समझाते हुए 15 जुलाई, 1936 ई. को यह पत्र लिखा–

सेगांव, 15 जुलाई 1936

प्रिय जवाहरलाल,

तुम्हारा पत्र मेरा हृदय छू गया। ... तुम्हारे साथियों के पास तुम्हारे जैसा साहस और बेबाकी नहीं है।... इस कांटों के ताज (कांग्रेस की अध्यक्षता) के लिए तुम्हारा नाम मैंने ही प्रस्तावित किया था। भले ही सिर छिल जाए इसे उतारना नहीं। कमेटी की बैठकों में हास्य–विनोद दिखाओ। ... चिंतित, चिड़–चिड़े व्यक्ति का स्वभाव तुम पर नहीं जंचता।

मैं चाहता हूं कि तुम मुझे तार के माध्यम से बताओ कि पत्र पढ़ते ही तुम्हें वैसी ही खुशी मिली है, जैसे लाहौर में नव वर्ष के मौके पर तुम खुश हुए थे। सब कहते हैं कि तुम तिरंगे के चारों ओर झूम–झूमकर नाचे थे। अपने खिन्न को आराम दो।

मेरा प्यार

बापू

यह पत्र व्यवहार गांधी जी के दर्शन, तत्युगीन परिस्थितियों में नेहरू जी की वेदना को व्यक्त करता है। हम देखते हैं कि जब नेहरू जी लोगों की आलोचनाओं से खिन्न थे, तो किस तरह गांधीजी ने उन्हें उत्साहित किया था। उन्होंने कंठ को आराम देने, अर्थात किसी तरह का वाद–विवाद न करने की नेहरू जी को सलाह दी थी। गांधी जी ने नेहरू जी को सदैव प्रसन्नचित रहने की हिदायत भी दी थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निजी पत्र व्यवहार आधुनिक भारतीय इतिहास की अत्यंत महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करता है। इससे न केवल तत्युगीन राजनीति अपितु व्यक्ति विशेष के दर्शन की भी जानकारी मिलती है। हम इन पत्रों के द्वारा व्यक्ति विशेष के विचारों का मूल्यांकन भी करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यदि इन व्यक्तिगत पत्रों का अवलोकन करें, तो हम इनमें अंतर्निहित इतिहास भी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। निश्चित रूप से व्यक्तिगत पत्र आधुनिक भारतीय इतिहास को गति, दिशा एवं अर्थ प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

टिप्पणी

1.2.3 समाचार पत्र एवं पत्रिकाएं

आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण में समाचार–पत्र एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में सामने आते हैं। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय जन साधारण तक स्वतंत्रता का संदेश पहुंचाने में इन समाचार पत्रों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। स्वाधीनता संग्राम के कुछ नेताओं ने समाचार–पत्रों का प्रकाशन एवं संपादन किया था। ये समाचार–पत्र तत्युगीन साहित्य व संस्कृति की अभिव्यक्ति के साथ–साथ राजनीतिक स्थिति की भी जानकारी देते हैं।

समाचार–पत्रों का भारत में आरंभ मुगल शासन काल में हो गया था। ये हस्तलिखित होते थे एवं इनका स्वरूप राजकीय था। खफी खां की कृति 'मुन्तखब–अल–लुवाब' में हमें सर्वप्रथम बिना छापेखाने में छपे समाचार–पत्र का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें बताया गया है कि शिवाजी के वंश में राजाराम की मृत्यु का समाचार संवाद–पत्रों द्वारा ही शाही शिविर पहुंचा था।

आधुनिक भारत का प्रथम समाचार–पत्र 'हिकीज बंगाल गजट' था। इसका आरंभ जेम्स ऑगस्टस हिकी ने कलकत्ता से 29 जनवरी, 1780 ई. को किया। भारतीय पत्रकारिता का आरंभ यहीं से माना जाता है। इसकी कुछ प्रतियां आज भी राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता में सुरक्षित हैं। हिकी ने जब अपने इस पत्र में सरकारी अधिकारियों, सरकारी नीतियों एवं गवर्नर जनरल की कटु आलोचना की तो उसे सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। उस पर मुकदमा चलाकर उसे जेल की सजा दी गई। पत्र भी बंद करा दिया गया। सन् 1780 ई. से 1793 ई. के मध्य छः समाचार–पत्रों का प्रकाशन हुआ, जिनमें इंडिया गजट, कलकत्ता गजट एवं हरकारा उल्लेखनीय हैं।

भारत में नव जागरण के अग्रदूत राजा राम मोहन राय के प्रयासों से 1816 ई. में बंगाल गजट, 1821 ई. में संवाद कौमुदी एवं 1820 ई. में मिरातुल अखबार निकला। हिंदी का प्रथम समाचार–पत्र 'उदंत मार्तंड' था। इसे 30 मई, 1826 को युगल किशोर शुक्ल द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित किया गया। हिंदी भाषा का प्रथम दैनिक समाचार–पत्र, 'समाचार सुधा वर्षण' था। इसका भी प्रकाशन कलकत्ता से श्याम सुंदर सेन ने जून, 1854 ई. से किया।

1857 ई. की क्रांति के दौरान 'दूरबीन', 'सुल्तान–उल–अखबार', 'समाचार सुधा वर्षण', 'पयामे आजादी' एवं 'मुंबई समाचार' ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये भारतीय पत्र क्रांतिकारियों की हौसला अफजाई कर रहे थे। फलतः 13 जून, 1857 ई. को लार्ड कैनिंग ने अधिनियम XI द्वारा बिना लायसेंस वाले प्रिंटिंग प्रेस बंद करा दिए।

बाल गंगाधर तिलक, जो कि एक प्रखर उग्रवादी नेता थे, ने अपने राजनीतिक विचारों को जन–जन तक पहुंचाने के लिए समाचार–पत्र निकाले। तिलक ने 2 जनवरी, 1881 ई. को आंग्ल भाषा में 'मराठा' एवं 4 जनवरी, 1881 ई. को मराठी भाषा में 'केसरी' पत्र प्रकाशित किया। बंगाल की क्रांतिकारी अनुशीलन पार्टी ने 1906 ई. में 'युगांतर' पत्र निकाला। पं. मदन मोहन मालवीय ने 1907 में हिंदी में साप्ताहिक 'अभ्युदय' प्रकाशित किया।

राष्ट्रीय पत्रों के महत्व को देखते हुए प्रादेशिक स्तर पर भी समाचार–पत्र निकलने आरंभ हुए। मध्य प्रदेश में पत्रकारिता का आरंभ 6 मार्च, 1849 ई. को इंदौर

से 'मालवा अखबार' द्वारा हुआ। पं. माखनलाल चतुर्वेदी ने जबलपुर से 'कर्मवीर' पत्र निकाला। इस पत्र ने 1920 ई. के रतौना आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अंग्रेजों को रतौना में कसाइखाना खोलने की योजना निरस्त करने को बाध्य किया गया। मध्यप्रदेश से निकलने वाले विभिन्न समाचार–पत्रों की फाइलें "माधवराव सप्रे स्मृति समाचार–पत्र संग्रहालय एवं शोध संस्थान'' माधवराव सप्रे मार्ग भोपाल में सुरक्षित रखी हुई हैं। इसी प्रकार राष्ट्रीय स्तर के समाचार–पत्रों की फाइलें राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता एवं नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एवं पुस्तकालय नई दिल्ली में सुरक्षित रखी हुई हैं। इन समाचार–पत्रों द्वारा आधुनिक भारतीय इतिहास के शोध में अत्यधिक मदद मिलती है। एक ही समय में विभिन्न स्थानों से निकलने वाले समाचार पत्रों द्वारा घटना की पुष्टि भी आसानी से की जा सकती है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि समाचार–पत्र भी आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण के प्रमुख स्रोत हैं।

पत्रिकाएं

समाचार–पत्रों की भांति ही पत्रिकाओं एवं शोध पत्रिकाओं से भी आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण में मदद मिलती है। ये पत्रिकाएं पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक अथवा वार्षिक होती थीं। इन पत्रिकाओं से अत्यंत महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए 'सरस्वती पत्रिका' को ही लें। सन् 1900 ई. में काशी नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस के अनुमोदन पर सचित्र मासिक पत्रिका सरस्वती का प्रकाशन आरंभ हुआ। 1903 ई. में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी इसके संपादक हुए। महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के माध्यम से साहित्य के क्षेत्र में एक अभिनव क्रांति संपन्न की। सरस्वती पत्रिका ने इतिहास जगत को भी बहुत कुछ प्रदान किया। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सरस्वती पत्रिका में ऐतिहासिक महत्व के कई लेख लिखे। हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग में सरस्वती पत्रिका के अंकों का संग्रह आज भी सुरक्षित है।

राहुल सांकृत्यायन का एक आलेख 'आजमगढ़ की पुरातात्विक यात्रा' सम्मेलन पत्रिका के भाग 43, संख्या 3, प्रयाग संवत् 2014 में पृ. 3–4 पर प्रकाशित हुआ है। उन्हीं का एक और लेख 'जिला आजमगढ़ के ग्राम नामों में इतिहास' सम्मेलन पत्रिका, भाग–43, संख्या–1, प्रयाग संवत् 2013, पृ. 130–132 पर प्रकाशित हुआ है। इन लेखों से हमें उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले का समस्त इतिहास प्राप्त होता है। आजमगढ़ जिले पर शोध करने वाले इतिहास के अध्येता के लिए सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित ये लेख अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

सरस्वती के समान ही सुल्तानगंज बिहार से निकलने वाली पत्रिका 'गंगा' भी अत्यंत महत्वपूर्ण पत्रिका थी। इसके संपादक आचार्य राम गोविंद त्रिवेदी जी थे। इस पत्रिका ने विभिन्न विशेषांक निकाले जिनमें 'वेदांक' एवं 'पुरातत्वांक' अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। राहुल सांकृत्यायन के संपादन काल में 'गंगा' पत्रिका का पुरातत्व विशेषांक जनवरी, 1933 ई. में प्रकाशित हुआ। इस पुरातत्वांक में देश–विदेश के कई इतिहासविदों एवं पुराविद्ों के लेख प्रकाशित किए गए। यह विशेषांक आज भी इतिहास लेखन की महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करता है। आधुनिक भारत में पुरातत्व विभाग की स्थापना एवं विकास का तथ्यपरक विवरण इससे प्राप्त होता है।

टिप्पणी

मध्य प्रदेश में 7 अप्रैल, 1913 ई. को खंडवा से मासिक पत्रिका 'प्रभा' का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसके संपादक कालूराम गंगाड़े एवं माखनलाल चतुर्वेदी थे। इस पत्रिका ने राजनीति के साथ–साथ सामाजिक कुरीतियों एवं अंधविश्वासों के खिलाफ आवाज उठाई। प्रभा के 'झंडा विशेषांक' ने जनता में एक नवीन चेतना एवं स्फूर्ति पैदा की। 1922 ई. में लखनऊ से मासिक पत्रिका 'माधुरी' का प्रकाशन आरंभ हुआ, जिसके प्रकाशक विष्णु नारायण भार्गव थे। 1922 ई. में ही रामरख सिंह सहगल ने मासिक 'चांद' निकाला। चांद के भी कई महत्वपूर्ण विशेषांक निकाले।

पत्रिकाओं का यह क्रम अनवरत् चलता रहा। धर्मयुग, दिनमान एवं मध्यप्रदेश संदेश आदि ऐसी पत्रिकाएं हैं जिनके लेख आज भी तत्युगीन इतिहास की महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं। वर्तमान में भी इतिहास विषय की कई शोध पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही हैं, जिनसे इतिहास के लेखन में मदद मिलती है। कलकत्ता से निकलने वाली 'द क्वार्टरली रिव्यू ऑफ हिस्टॉरिकल स्टडीज', उज्जैन की 'शोध सामवेत', जयपुर की शोधक एवं अजमेर की 'लिनसिआन' इत्यादि अनेकानेक शोध पत्रिकाएं आज इतिहास के निर्माण हेतु महत्वपूर्ण स्रोत सामग्री प्रदान कर रही हैं।

1.2.4 मौखिक परंपराएं

आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोतों में मौखिक परंपराओं का विशिष्ट महत्व है। भारत में आज भी कई ऐसे वृद्धजन–जीवित हैं, जिनकी आयु 80 वर्ष से ऊपर है। 1942 ई. के भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान इनकी आयु 20–22 वर्ष रही होगी। इन लोगों ने प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से या तो भारत छोड़ो आंदोलन में भाग लिया या फिर ये लोग आंदोलन के प्रत्यक्षदर्शी हैं। इन्होंने अपने पिता अथवा दादा से 1857 ई. की क्रांति का आंखों देखा हाल सुना है। अतः ऐसे व्यक्तियों से साक्षात्कार करके हम भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का आंखों देखा विवरण प्राप्त कर सकते हैं। एक टेपरिकॉर्ड के साथ इन स्वाधीनता संग्राम सेनानियों से साक्षात्कार करके हम उस टेप की मदद से उस साक्षात्कार को लेखबद्ध कर सकते हैं। उन कैसेटों को हम आगामी शोधार्थियों के लिए सुरक्षित भी रख सकते हैं।

नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एंड लाइब्रेरी (NMML) में एक मौखिक इतिहास विभाग है। इस विभाग में भारत के कई स्वाधीनता संग्राम सेनानियों के साक्षात्कार के कैसेट रखे हुए हैं। हम वहां जाकर उन कैसेटों का उपयोग कर वांछित स्वाधीनता संग्राम सेनानियों का साक्षात्कार सुन सकते हैं।

राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर में भी राजपूताना राज्यों के 250 स्वाधीनता संग्राम सेनानियों के संस्मरण टेप में संग्रहीत हैं।

स्वाधीनता संग्राम सेनानियों के इन संस्मरणों में कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य उभरकर सामने आते हैं। चूंकि अभिलेखागारीय स्रोत मूक हैं, वे बोल नहीं सकते परंतु इन स्वाधीनता सेनानियों से साक्षात्कार करते समय हम अपनी प्रत्येक प्रकार की जिज्ञासा का समाधान कर सकते हैं।

चूंकि एक स्थान के एक से अधिक स्वाधीनता संग्राम सेनानियों ने उसी स्थान पर हुए स्वाधीनता आंदोलन में भाग लिया था, अतः हम इन दोनों के साक्षात्कारों का तुलनात्मक अध्ययन कर वास्तविकता की तह तक पहुंच सकते हैं।

मैंने झांसी में तहसील के पीछे मकान नं. 161/10 में रहने वाले 78 वर्षीय श्री लक्ष्मीनारायण श्रीवास्तव से साक्षात्कार करके भारत विभाजन के समय की जानकारी एकत्रित की। उन्होंने बताया कि 1945 ई. में वे बरुआसागर में थे। उस समय वहां कांग्रेसी नेता जुलूस निकाल कर अंग्रेजी शासन को भारत से खदेड़ने के नारे लगाते थे। उसी समय मुस्लिम लीग के नेता लेकर रहेंगे पाकिस्तान के नारे लगाते थे। श्री लक्ष्मीनारायण श्रीवास्तव ने बताया कि उस समय बुंदेलखंड में वे लोग चरखा चलाते थे और साथ ही सामूहिक रूप से यह बुंदेली लोकगीत गाते थे–

टूटे न चरखे का तार, चरखवा चालू रहे।
महात्मा गांधी दूल्हा बने, दुल्हन बनी सरकार।।
सबरे कांग्रेसी बने बराती, नऊआ बनौ थानेदार
चरखवा चालू रहे।
सबरे बराती जेबन बैठे, पत्तल परोसे तहसीलदार
महात्मा गांधी मड़वा तरे बैठे दायजे में मांगे स्वराज
चरखवा चालू रहे।।
लॉर्ड वैवेल लगे मनावन, जीजा गौने में देहों स्वराज
चरखवा चालू रहे।।

श्री श्रीवास्तव ने यह भी बताया कि 1947 ई. में भारत विभाजन के दौरान झांसी में कोई दंगा नहीं हुआ। मगर उस दौरान पंजाब में अत्यधिक मार–काट हुई। वहां से आने वाली ट्रेनें खून से सनी हुई होती थीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मौखिक परंपराएं आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण का अत्यंत ही महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इन साक्षात्कारों से हमें अत्यधिक रोचक एवं महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

गजेटियर

विभिन्न जिलों के गजेटियर में भी इतिहास की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। जिला गजेटियर विभाग मध्य प्रदेश, भोपाल द्वारा म.प्र. के विभिन्न जिलों के गजेटियर तैयार कराए गए हैं। इन गजेटियरों में जिला विशेष की सभी प्रकार की जानकारियां मिलती हैं। म.प्र. के सागर जिले के गजेटियर का अंग्रेजी संस्करण 1967 ई. में प्रकाशित हुआ। इसका संपादन वी. एस. कृष्णन द्वारा किया गया। म.प्र. के विभिन्न गजेटियरों के निर्माण में, शंभूदयाल गुरु की भी अहम् भूमिका रही है। गजेटियर को इतिहास का प्राथमिक स्रोत नहीं माना जा सकता, इसे द्वितीयक स्रोत के तहत ही रखा जा सकता है।

पुस्तकें

ईस्ट इंडिया कंपनी के विभिन्न प्रशासनिक अधिकारियों, भारत के विभिन्न महान व्यक्तियों ने कुछ पुस्तकों का सृजन किया था। ये पुस्तकें आज आधुनिक भारतीय इतिहास की जानकारी के प्रमुख स्रोत हैं। इनमें कुछ प्रमुख पुस्तकें इस प्रकार हैं–

1. जवाहरलाल नेहरू, एन. आटोबायोग्राफी (1936 ई.)
2. महात्मा गांधी, ऑटोबायोग्राफी (1940 ई.)
3. सुभाषचंद्र बोस, द इंडियन स्ट्रगल (1934 ई.)
4. लाल लाजपत राय, यंग इंडिया (1916 ई.)

टिप्पणी

5. दादा भाई नौरोजी, पॉवर्टी एंड ब्रिटिश रूल इन इंडिया (1976)

6. राजेंद्र प्रसाद, इंडिया डिवाइडेड (1946)

7. डब्लू. डब्लू. हंटर, द इंडियन मुसलमान (1871) आदि।

छायाचित्र

आधुनिक भारत में भारत एवं ब्रिटेन से निकलने वाले समाचार–पत्रों में जो कार्टून चित्र एवं छायाचित्र प्रकाशित हुए, वे भी तत्युगीन इतिहास की जानकारी के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इन छायाचित्रों के माध्यम से भी इतिहास की बहुत–सी घटनाओं को समझने में मदद मिलती है।

23 फरवरी, 1856 'के इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज' में दो चित्र छपे थे। एक चित्र में संथाल प्रदेश में स्थित राजमहल की निचली पहाड़ियों में स्थित गांव का चित्र था। दूसरे चित्र में संथाल आदिवासियों को कंपनी राज के सिपाहियों के साथ युद्ध करते दिखाया गया है। प्रथम चित्र से 1850 ई. के दशक के गांव की तस्वीर मिलती है तो दूसरे चित्र से यह पता चलता है कि संथाल आदिवासी तीर कमानों से युद्ध कैसे करते थे।

इसी प्रकार 'पंच' समाचार–पत्र में भी विभिन्न चित्र दिए गए हैं। 1857 ई. की क्रांति के दौरान लार्ड कैनिंग ने भारतीयों के प्रति दया भाव दिखलाया था। अतः पंच समाचार–पत्र के 24 अक्टूबर, 1857 के अंक में कैनिंग का एक कार्टून प्रकाशित किया गया। इसमें कैनिंग को एक नेक बुजुर्ग के रूप में दिखाया गया है। उसका एक हाथ भारतीय सिपाही के सिर पर रखा हुआ है।

निजी दस्तावेज

निजी दस्तावेज के तहत वे विभिन्न पत्र आते हैं, जो स्वाधीनता आंदोलन एवं उसके पश्चात विभिन्न लोगों ने एक–दूसरे को लिखे थे। महात्मा गांधी एवं जवाहर लाल नेहरू के पत्र तो प्रकाशित भी हो चुके हैं। 1857 ई. की क्रांति के दौरान बुंदेलखंड के विभिन्न क्रांतिकारियों ने तात्या टोपे को जो पत्र लिखे थे, उनका संग्रह परशुराम शुक्ल विरही द्वारा '1857 की क्रांति के पत्र' नाम से नगर पालिका शिवपुरी (म.प्र.) के सौजन्य से तात्या टोपे समिति ने प्रकाशित कराया है।

आज भी स्वाधीनता आंदोलन के विभिन्न नेताओं के पुत्रों के पास ऐसे निजी पत्र मौजूद हैं, जिनसे उस समय का इतिहास समझा जा सकता है।

24 जनवरी, 2008 की शाम 5 बजे मैंने (ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव) सागर के प्रख्यात स्वतंत्रता संग्राम सेनानी भाई अब्दुलगनी के पुत्र अब्दुल रफीक गनी से रतौना आंदोलन के संबंध में साक्षात्कार किया। उनके पास से मुझे कई पत्र मिले। इनमें उड़ीसा के पूर्व राज्यपाल एवं पूर्व सांसद विश्वंभर नाथ पांडेय के उनको व उनके पिता को भेजे गए 26 नवम्बर, 1983 ई., 5 जुलाई, 1988 ई. एवं 25 मार्च, 1989 ई. के पत्र प्राप्त हुए। इन पत्रों से भाई अब्दुलगनी की स्वाधीनता आंदोलन में भागीदारी से संबंधित महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न व्यक्तियों के पास मिले निजी दस्तावेजों से भी भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। निजी दस्तावेज एवं मौखिक साक्षात्कार भी आज आधुनिक भारतीय इतिहास की जानकारी के महत्वपूर्ण स्रोत सिद्ध हो रहे हैं।

1961 ई. में महारानी लक्ष्मीबाई के हाथ से लिखा गया एक पत्र पं. जवाहर लाल नेहरू को भेंट किया गया। इस पत्र से पता चलता है कि स्वराज शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग महारानी लक्ष्मीबाई ने किया था। यह पत्र 13–19 दिसंबर, 1992 के संडे मेल एवं 8 फरवरी, 2008 के सागर से निकलने वाले आचरण समाचार–पत्र में भी प्रकाशित किया गया है।

विदेशी यात्रियों के विवरण

गेरासिम स्टीपानोविच लिविदेव– जी. एस. लिविदेव आधुनिक भारत में भारत यात्रा पर आने वाला एक मात्र रूस का यात्री था। लिविदेव 1785 से 1797 ई. तक भारत में रहा। चूंकि भारत का इतिहास सर्वप्रथम अंग्रेजों ने ही लिखा और रूस से उनके संबंध अच्छे नहीं थे, अतः किसी भी इतिहासकार ने लिविदेव की भारत यात्रा का उल्लेख नहीं किया। भारतीय इतिहासकारों ने भी लिविदेव की भारत यात्रा का कोई उल्लेख नहीं किया। लिविदेव ने बंगाल में लिविदेव बंगाली थियेटर की स्थापना की थी। उसने कलकत्ता में एक संगीतज्ञ एवं रंगमंच विशेषज्ञ के रूप में ख्याति अर्जित की।

लिविदेव ने बताया कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने आम भारतीयों के साथ कोई संपर्क नहीं रखा। उनका भारतीयों से संपर्क मुख्यतः 4 प्रकार से था– न्यायालयों में, घरेलू नौकरों के साथ, वैश्यालय में एवं व्यापार के सिलसिले में। वह बताता है कि अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत एक समृद्ध देश था। कंपनी ने हर प्रकार से भारतीय समृद्धि को नुकसान पहुंचाया।

लिविदेव ने रूस जाकर वहां भारत विषयक ज्ञान एवं भारतीय विद्या को बढ़ावा दिया। इसी योगदान के कारण लिविदेव को रूस में भारतीय विद्या का जनक (The father of Indian Knowledge) कहा जाता है।

लिविदेव का यात्रा वृत्तांत 18वीं सदी के अंत के भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी का प्रमुख स्रोत है। हिंदुस्तानी ग्रामर (1801) एवं An Impartial Review of the East Indian Brahmani System of their Sacred Rites and National Custom (1805) उसकी प्रमुख पुस्तकें हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. अभिलेखीय प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना कब हुई थी?
   (क) 1976 (ख) 1978
   (ग) 1980 (घ) 1982
2. भारत का मुख्य अभिलेखागार कहां पर स्थित है?
   (क) बम्बई (ख) कलकत्ता
   (ग) दिल्ली (घ) मद्रास
3. दीवानी, फौजदारी, न्याय व्यवस्था, इंडियन लॉ कमीशन एवं पुलिस विभाग से संबंधित दस्तावेज किस डिपार्टमेंट में प्राप्त होते हैं?
   (क) फाइनेंस डिपार्टमेंट (ख) फॉरेन डिपार्टमेंट
   (ग) मिलिट्री डिपार्टमेंट (घ) लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट

टिप्पणी

1.3 इतिहास के दृष्टिकोण एवं व्याख्या : विभिन्न विचारधाराएं

इतिहास अतीत की घटनाओं का अध्ययन है। प्रारंभ में इतिहास का स्वरूप एवं प्रकृति भिन्न थी किंतु समय के साथ–साथ इसमें तेजी से परिवर्तन हुआ है। इन परिवर्तनों के कारण भारतीय इतिहास लेखन की प्रवृत्ति में भी परिवर्तन आया तथा इसमें कई आधुनिक धाराओं का समावेश हुआ। ये धारायें या प्रवृत्तियां भारतीय इतिहास लेखन को प्रभावित करने में सफल रही हैं।

इतिहास लेखन में अब इतिहास को समकालीन इतिहास मानने पर ज्यादा जोर दिया जा रहा है अर्थात् इतिहास की अतीत की घटनाओं को वर्तमान से जोड़ा जा रहा है तथा वर्तमान की घटनाओं का मूल्यांकन अतीत की पृष्ठभूमि में किया जा रहा है। परंपरागत इतिहास लेखन में जहां पुरुष प्रधान विषय–वस्तु की प्रधानता थी, वहीं वर्तमान इतिहास लेखन की धाराओं में एक नया समावेश यह हुआ है कि नारीवादी इतिहास लेखन को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। एक अन्य नयी धारा है–इतिहास लेखन में केवल राजनीतिक इतिहास लिखने के स्थान पर आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास लेखन पर जोर। अब इन क्षेत्रों के उपेक्षित पहलुओं को भी इतिहास लेखन में स्थान दिया जाने लगा है। परंपरागत इतिहास लेखन में सदैव समाज के उच्च वर्ग के संबंध में ही लिखा जाता था किंतु अब उच्च वर्ग के अतिरिक्त उपाश्रित या दलितों के इतिहास लेखन पर भी कार्य होने लगा है। इसे 'सबाल्र्टन इतिहास' के नाम से जाना जाता है।

भारतीय इतिहास लेखन की नयी धाराओं में इनके अतिरिक्त कई अन्य धाराओं का समावेश हुआ है। इनमें प्रमुख है–मार्क्सवादी इतिहास लेखन। अब राष्ट्रवादी या साम्राज्यवादी इतिहास लेखन के स्थान पर मार्क्सवादी इतिहास लेखन को ज्यादा महत्व दिया जाने लगा है। इसके अलावा सामाजिक इतिहास लेखन एवं कृषक इतिहास लेखन पर भी जोर दिया गया है। परंपरागत इतिहास लेखन में जहां श्रमिक इतिहास लेखन उपेक्षित था, अब यह विषय भी ज्यादा प्रभावी हो रहा है। इसके साथ ही शहरी इतिहास, मौखिक इतिहास एवं अंतर्विषयक इतिहास लेखन को भी महत्व प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार, भारतीय इतिहास लेखन में अनेक नवीन धाराओं का समावेश हुआ है तथा इन धाराओं ने भारतीय इतिहास लेखन की प्रकृति एवं स्वरूप दोनों को परिवर्तित किया है।

1.3.1 इतिहास लेखन के विभिन्न उपागम (दृष्टिकोण)

इतिहास लेखन की प्रक्रिया में उस दौर के राजनीतिक एवं सामाजिक संदर्भों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। ये संदर्भ इतिहास लेखन की सभी धाराओं पर मूलभूत प्रभाव डालते हैं। भारत में आधुनिक काल का शुभारंभ यूरोपीय शक्तियों के आगमन तथा उनके औपनिवेशिक विस्तार की प्रक्रिया से माना जाता है। निःसंदेह औपनिवेशीकरण की इस प्रक्रिया का तत्कालीन इतिहास लेखन को प्रभावित करना स्वाभाविक था। ब्रिटिश प्रशासन के प्रेरणास्वरूप ब्रिटिश विजेताओं तथा प्रशासकों को केंद्र बिंदु बनाकर

उस समय जिस इतिहास का लेखन किया गया, उसका प्रतिबिम्ब आज भी आधुनिक भारतीय इतिहास की कई कृतियों में परिलक्षित होता है, जबकि इसके ठीक विपरीत भारतीय राष्ट्रवादी लेखकों ने साम्राज्यवादी कुप्रभावों तथा स्वतंत्रता सेनानियों को मुख्य बिन्दु बनाकर इतिहास लेखन की प्रक्रिया संपन्न की। इस काल के 'राष्ट्र के भावी स्वरूप' को लेकर चल रहा विचार–विमर्श भी तत्कालीन इतिहास लेखन को प्रभावित किये बिना नहीं रह सका। साम्राज्यवादी, गांधीवादी, राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी एवं हिन्दू–मुस्लिम पृथक्तावादी विचारधाराओं ने विभिन्न इतिहासकारों की लेखनी पर अपने–अपने ढंग से प्रभाव डाला। इस प्रकार अब स्थिति यह है कि आधुनिक काल के सामीप्य के कारण जहां आधुनिक इतिहास लेखकों के लिये लिखित स्रोतों का बाहुल्य है, वहीं दूसरी ओर घटनाओं के काफी करीब होने के कारण इतिहासकारों के मध्य तथ्यों का चयन और मूल्यांकन अधिक विवादास्पद हो गया है। इसके अतिरिक्त किसी भी व्यापक दृश्य या परिघटना को अत्यधिक निकटता से देखकर निष्पक्ष रूप से परिकल्पित कर पाना थोड़ा दुष्कर हो जाता है। संभवतः इसी वजह से आधुनिक भारतीय इतिहासकारों में केंद्रीकृत व्याख्या एवं राजनीतिक घटनाओं एवं व्यक्तियों को अत्यधिक महत्व देने की प्रवृत्ति विद्यमान रही जबकि यह प्रक्रिया विषय–वस्तु की समुचित व्याख्या की होनी चाहिये थी। यह काल तीव्र सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तनों का काल था, अतः इतिहासकारों से यह अपेक्षित था कि वे इन परिस्थितियों को अपने लेखन का केंद्र बिन्दु बनायें।

आजादी के बाद के वर्षों में पश्चिमी एवं भारतीय दोनों इतिहासकारों ने अंग्रेजी प्रशासन के परंपरागत विषयों को लेकर अनेक रचनाओं का लेखन किया। इसके साथ ही इन्होंने गवर्नर–जनरलों के शासनकाल की विभिन्न घटनाओं का क्रमवार उल्लेख करने की पुरानी परंपरा त्याग दी तथा प्रशासनिक नीतियों और ढांचों को विषयगत रूप में लिखने की नई शैली का अनुकरण किया। लेखन की इस नई प्रवृत्ति के कारण भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के विभिन्न पहलुओं, जैसे– सामान्य प्रशासन, प्रशासनिक ढांचा, प्रशासनिक नीतियां, नौकरशाही, संवैधानिक विकास इत्यादि पर अनेक महत्वपूर्ण कृतियों की रचना की गयी। इसके साथ ही अंग्रेजी व्यवस्था के निरूपण कार्य एवं राजनीतिक प्रभुत्व तथा आधिपत्य के अप्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्ष पहलुओं पर प्रकाश डालने का सर्वथा नया कार्य भी इतिहासकारों द्वारा प्रारंभ किया गया है। आजादी के उपरांत के लेखन में भारतीय समाज के परिवर्तित होते स्वरूप को समझने की दिशा में भी अधिक ध्यान केन्द्रित किया जाने लगा है। इस नये रुझान की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें धर्मसुधार या आर्थिक शोषण या राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा के साथ ही क्रांतिकारी गतिविधियों, अन्य जन–आंदोलनों एवं मजदूर संघर्षों एवं वाम पंथ इत्यादि पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाने लगा है। देश के विभाजन हेतु उत्तरदायी सांप्रदायिकता के कारक पर भी कई शोध कार्य किये गये हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद के अखिल भारतीय स्तर के मुद्दों का विश्लेषण हुआ है तथा क्षेत्रीय अध्ययन का प्रचलन भी प्रारंभ हुआ है। क्षेत्रीय अध्ययन की परंपरा काफी लाभदायक सिद्ध हुयी है तथा इसके फलस्वरूप प्राथमिक स्रोतों का अधिक गहराई से अध्ययन हुआ है।

आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन में इतिहास को ज्यादा संतुलित ढंग से लिखा जाने लगा है क्योंकि अब स्थान एवं समय के अंतरों को भी ध्यान में रखा जाता है। इसके परिणामस्वरूप ही क्षेत्रीय अध्ययन की परंपरा बढ़ी है तथा क्षेत्रीय इतिहास को

ज्यादा महत्व प्राप्त होने लगा है। इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिकता, आर्थिक इतिहास, जन–आंदोलनों की पृष्ठभूमि तथा सुधार आंदोलन एवं उनके प्रभावों को समझने पर ज्यादा बल दिया जा रहा है। अखिल भारतीय स्तर पर मुद्दों को विश्लेषित करने की जो नयी परंपरा आधुनिक इतिहास लेखन में प्रारंभ हुयी है, वह इस क्षेत्र में एक नयी प्रवृत्ति ही है।

इन क्षेत्रों के अतिरिक्त समाज के विभिन्न वर्गों एवं समुदायों के व्यवस्थित अध्ययन की जो नयी परंपरा शुरू हुयी है, वह आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन का एक अन्य विषयगत रुझान है। यह परम्परा हाल के वर्षों में काफी विकसित हुयी है तथा इसने इस क्षेत्र को मौलिक रूप से प्रभावित किया है। आधुनिक भारतीय समाज का इतिहास अब केवल विरोधी गतिविधियों पर ही केन्द्रित नहीं रहा है। साम्राज्यवाद के कारण भारतीय समाज में आयी कठिनाइयों या परिवर्तनों के संबंध में तो पहले से ही लिखा जाता रहा है किंतु अब भारतीय समाज के कुछ वर्गों, यथा–मजदूरों, कृषकों, कारीगरों इत्यादि को सक्रिय हिस्सेदारों के रूप में देखा जाने लगा है। इस संबंध में सबसे सार्थक प्रयास मार्क्सवादी इतिहासकारों ने किया है।

पिछले कुछ वर्षों से आधुनिक इतिहास लेखन में नवीनीकरण की प्रक्रिया भी तीव्र हुयी है। इस प्रक्रिया में जहां विभिन्न वर्गों एवं समुदायों को केवल नेतृत्व या बाह्य शोषण के फलस्वरूप आंदोलनों एवं विद्रोहों से जोड़कर देखने की प्रवृत्ति को अनुचित माना गया है, वहीं भारतीय समुदाय को मात्र आर्थिक आधार पर वर्गीकृत करने की प्रवृत्ति को भी रोकने की मांग कुछ इतिहासकारों द्वारा की गयी है। इसीलिये अब इतिहासकार इस बात पर जोर दे रहे हैं कि भारतीय समाज को आर्थिक आधार के साथ ही लिंग, धर्म तथा जाति के दृष्टिकोणों से भी देखा जाये। इसी नयी प्रवृत्ति के कारण ही अब लोक संस्कृति, जातीय आंदोलनों, परिवार के स्वरूप एवं संबंध, महिलाओं के अध्ययन, शहरी जीवन, ग्रामीण समाज, विभिन्न प्रकार के कारीगर, हिजड़ों, अछूतों तथा अपराधियों इत्यादि पर भी शोध कार्यों की प्रक्रिया में तेजी आ रही है। अब भारतीय समाज की आंतरिक गतिशीलता को गहराई से समझा जाने लगा है। इतिहासकारों के लेखन की विषय–वस्तु अब विभिन्न समुदायों के जनांदोलनों या विद्रोहों तक ही सीमित नहीं है बल्कि अब उनके जीवन के बदलते हुये अनुभवों को अधिक बड़े पैमाने पर समझने के प्रयास भी किये जा रहे हैं। आधुनिक भारत के सामाजिक परिवर्तन को लेकर हाल के वर्षों में सूक्ष्म अध्ययन भी काफी हुआ है।

इतिहास लेखन की हाल की प्रवृत्तियों में एक अन्य नया क्षेत्र है, जिसे 'उप–इतिहास' के नाम से जाना जाता है। इस उप–इतिहास की एक शाखा बौद्धिक इतिहास आज के इतिहासकारों के मध्य तेजी से लोकप्रिय हो रही है। 'बौद्धिक इतिहास' मुख्यतः सोच या विचारों के इतिहास से संबंधित है। इस शाखा के अंतर्गत इतिहासकार आधुनिक भारत के विभिन्न धार्मिक नेताओं, समाज सुधारकों एवं महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारकों की सोच एवं कथनों का विस्तृत अध्ययन करते हैं। बौद्धिक इतिहास के लेखकों द्वारा साहित्य, विज्ञान, कला, दर्शन इत्यादि विषयों में आधुनिक काल में आने वाले परिवर्तनों का क्रमबद्ध विवरण भी दिया गया है। आज कई इतिहासकारों ने ऐतिहासिक स्रोतों से अधिक कल्पनाशील प्रयोग द्वारा बदलती हुयी मानसिकताओं के स्वरूप एवं कल्पनाशीलता के उपयोग द्वारा वस्तु–स्थिति को समग्रता

टिप्पणी

के साथ समझने की चेष्टा की है। यह प्रयास इतिहास की व्यापक व्याख्या की दृष्टि से निश्चय ही ज्यादा रोचक साबित हुआ है।

आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन की एक अन्य शाखा समसामयिक इतिहास है, जिसका विकास भी हाल के वर्षों में तेजी से हुआ है। इसके अतिरिक्त एक अलग तरीके का प्रयोग, 'मनोवैज्ञानिक जीवनी लेखन' है। यद्यपि इसका अनुकरण आधुनिक इतिहास लेखन में बहुत ज्यादा नहीं हुआ है फिर भी इसे इस क्षेत्र में एक नयी प्रवृत्ति माना जा सकता है। इतिहास लेखन में विशेषीकरण की प्रवृत्ति कुछ अन्य प्रकार के उप–इतिहासों में अधिक प्रभावशाली रही है। इनमें मुख्य है–वातावरण इतिहास एवं जन–सांख्यिकी इतिहास। इस प्रकार के इतिहास में गणित एवं सांख्यिकी के प्रतिमानों के साथ–साथ कम्प्यूटरों का प्रयोग भी इतिहासकारों द्वारा किया जा रहा है।

आधुनिक इतिहास लेखन में विशेषीकरण की इन प्रवृत्तियों के विपरीत इतिहास लेखन की कुछ ऐसी धारायें भी हैं, जो समुचित व्याख्या पर जोर देती हैं। इनमें से एक अत्यंत प्रभावशाली शाखा मानसिकताओं के अध्ययन की है। इस शाखा के इतिहासकार इस तथ्य पर जोर देते हैं कि इतिहास को मात्र अतीत की आर्थिक एवं राजनीतिक घटनाओं तक ही सीमित न रखा जाये अपितु स्रोतों के कल्पनाशील उपयोग द्वारा तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों की सहायता से अतीत की अंदरूनी जिंदगी के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन, गुजरते हुये समय की मानसिकताओं एवं सामाजिक जीवन में समय–समय पर आने वाले परिवर्तनों के विश्लेषण की ओर भी ले जाया जाये। यद्यपि इतिहास लेखन की इस धारा में सर्वसम्मत अवधारणायें या कोई मानक कार्यविधि नहीं बन पायी है।

आज के इतिहास लेखन में 'सम्पूर्ण इतिहास' पर काफी बल दिया जाने लगा है। निःसंदेह आधुनिक इतिहास लेखन में वास्तव में पिछले दशकों में काफी विविधता आयी है तथा अब केवल अर्थव्यवस्था एवं राजनीति ही नहीं बल्कि सामाजिक ढांचे एवं संस्कृति तथा मानसिकताओं का इतिहास भी लिखा जाने लगा है। इतिहास लेखन में आधुनिक युग की विभिन्न प्रवृत्तियों के अतिरिक्त इतिहासकारों की विभिन्न विचारधाराएं एवं दृष्टिकोण भी हैं, जिन्होंने आधुनिक इतिहास लेखन को प्रभावित किया है तथा इस क्षेत्र में नई प्रवृत्तियों के समावेश का मार्ग प्रशस्त किया है।

1.3.2 इतिहास लेखन की विभिन्न विचारधाराएं

इन विभिन्न विचारधाराओं एवं दृष्टिकोणों का वर्णन निम्नानुसार है–

अलगाववादी

इस विचारधारा के लेखक यद्यपि आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन में ज्यादा महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखते हैं किंतु अभी भी इनका कुछ न कुछ प्रभाव एवं योगदान इस क्षेत्र में बना हुआ है। इस विचारधारा के लेखक संकीर्ण मनोवृत्तियों से प्रभावित होते हैं तथा राष्ट्रीय एकता की प्रतिकूल दिशा में इतिहास लेखन का कार्य करते हैं। ये इतिहासकार अलगाववादी दृष्टिकोण के पक्षपोषक होते हैं तथा इसी के इर्द–गिर्द लेखन कार्य करते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से ये अलगाववादी प्रवृत्तियों को भी बढ़ावा देते हैं। इस विचारधारा के लेखकों ने प्रारंभ से ही विभिन्न इतिहासों को अलगाववादी नजरिए से देखा तथा भारत के संबंध में भी इन्होंने ऐसा ही दृष्टिकोण अपनाया। आधुनिक भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष

टिप्पणी

के चरण में इस विचारधारा के लेखक भारत एवं पाकिस्तान के विभाजन का समर्थन करते रहे तथा विभाजनोपरांत इस प्रक्रिया को उचित ठहराया।

यद्यपि आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन में यह प्रवृत्ति नकारात्मक दृष्टिकोण की परिचायक रही है फिर भी इसका उल्लेख आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन की प्रवृत्तियों में करना अपेक्षित है।

संरचनावाद तथा उत्तर–संरचनावाद

संरचनावाद में शिक्षा, धर्म आदि प्रत्यक्ष सांस्कृतिक प्रतीकों का अर्थ समझने की बजाय मात्र संकेतों के परस्पर 'संबंधों तथा विरोधों' को समझना आवश्यक माना जाता है। इसी आधार पर समाज के मिथकों, परम्पराओं, धार्मिक अनुष्ठानों इत्यादि में परिलक्षित सांकेतिक संरचनाओं से संबंधित विभिन्न शोध एवं लेखन कार्य हाल के समय में हुये हैं।

उत्तर–संरचनावाद भी संरचनावाद के समान है किंतु इसे संरचनावाद के नये रूप में समझा जा सकता है। उत्तर–संरचनावाद में संरचनावाद की विभिन्न कमियों को दूर करने का प्रयास किया गया है। उत्तर–संरचनावाद में सामाजिक एवं वैचारिक प्रवृत्तियों को संवाद अथवा पाठ के रूप में दर्शाया जाता है तथा उसमें निहित प्रतीकों एवं संकेतों के बहुविध अभिप्रायों की पुनर्व्याख्या के साथ–साथ इनके सामाजिक प्रभुत्व एवं सत्ता के संबंधों को समझने का भी प्रयास किया जाता है। यद्यपि संरचनावाद एवं उत्तर–संरचनावाद दोनों ही कमियों एवं आलोचनाओं से बच नहीं पाये हैं।

सामाजिक इतिहास

सामाजिक इतिहास से आशय एक नये तरह के सम्पूर्ण इतिहास से है, जो मानव अतीत के सभी आयामों को अधिकाधिक पूर्णता के साथ व्याख्यायित एवं विवेचित करने का प्रयास करता है। सामाजिक इतिहास महान व्यक्तियों की गतिविधियों मात्र तक ही सीमित नहीं है अपितु यह जन–साधारण या आम आदमी को पूर्ण महत्व प्रदान करता है। यह केवल अलग–अलग घटनाओं के अध्ययन तक ही सीमित नहीं है बल्कि रोजमर्रा की घटनाओं से संबंधित तथ्यों को भी इतिहास में परिवर्तित करने का आकांक्षी होता है। यह सामान्य आर्थिक और राजनीतिक तथ्यों तक ही सीमित नहीं है अपितु यह ऐतिहासिक स्रोतों का रचनात्मक उपयोग करके तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों से सहायता प्राप्त करके अतीत की दिनचर्या, समाजों की मानसिकता, आपसी संबंधों इत्यादि का भी समग्रता के साथ अध्ययन करने का अभिलाषी है।

सामाजिक इतिहास समाज के सभी आयामों पर समग्र दृष्टि रखता है। इससे इतिहास में रोचकता एवं गहराई तथा संतुलित नजरिये का निर्माण होता है।

साम्राज्यवादी

साम्राज्यवादी इतिहास लेखन का वास्तविक स्वरूप 19वीं शताब्दी के अंत से अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। इतिहास लेखन की इस परंपरा में दो प्रवृत्तियां विद्यमान थीं। इन दोनों ही प्रवृत्तियों में साम्राज्यवाद के मूल औचित्य को लेकर एकरूपता थी। हालांकि नीतियों के संबंध में इनके रुझान अलग–अलग थे। एक ओर हेनरी मेन, एल्फ्रेड लॉयल तथा एडवर्ड टॉमसन जैसे इतिहासकार थे, जिनका दृष्टिकोण कुछ

उदारवादी था तो दूसरी ओर शिरोल, वैलेन्टाइन, जॉन स्ट्रैची तथा लॉवटे जैसे इतिहासकार थे, जिन्होंने भारतीय समाज एवं राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति कट्टर आलोचनात्मक रवैया अपनाया। साम्राज्यवादी विचारधारा के लेखकों ने भारत की व्याख्या एक आधुनिक परिभाषा वाले राष्ट्र की बजाय विभिन्न धर्मों, जातियों एवं संस्कृतियों वाले कबीलाई देश के रूप में की। इनके मतानुसार भारत की ऐसी दशा उसके स्वयं के शासन संभालने के अनुकूल नहीं थी। इनके अनुसार यह ईश्वरीय कृपा थी कि अंग्रेज भारत में आए तथा उन्होंने अपनी बुद्धि एवं कौशल के द्वारा यहां विजय प्राप्त कर आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना की। इन इतिहासकारों ने तर्क दिया कि यद्यपि अंग्रेजी औपनिवेशिक सत्ता निहित स्वार्थों से प्रेरित थी किंतु उससे भारत को अत्यधिक लाभ हुआ तथा उसका चहुंमुखी विकास संभव हो सका। ये साम्राज्यवादी इतिहासकार इस विचारधारा के पक्षपोषक थे कि भारतीय संप्रदायों के मध्य न्याय करने, यहां शांति एवं सुव्यवस्था बनाए रखने तथा किसानों के हितों का संरक्षण करने के लिए अंग्रेजी शासन की विद्यमानता आवश्यक है। एल्फ्रेड लॉयल जैसे इतिहासकारों ने तर्क दिया कि भारतीय अपना शासन चलाने में अक्षम हैं तथा अंग्रेजी शासन उन्हें स्वयं का शासन चलाने के लिए प्रशिक्षित कर रहा है। गैरे एवं टॉमसन ने अपनी पुस्तक *'दि राइज एंड फुलफिलमेंट ऑफ इंडिया'* में इस प्रक्रिया को अंग्रेजी व्यवस्था में 'फुलफिलमेंट' या 'परितोष' की संज्ञा दी।

साम्राज्यवादी विचारधारा के इतिहासकार यह मानते थे कि जातीयता एवं बौद्धिक चातुर्य में वे भारतीयों से श्रेष्ठ हैं तथा उन पर शासन करना उनका दैवीय अधिकार है। उन्होंने भारतीयों को प्रगल्भ एवं झूठा माना तथा हिंदुओं को बर्बर एवं मुसलमानों को कट्टरपंथी, बेईमान और निर्दयी कहा। उनके अनुसार इन्हें सुधारने के लिए ही अंग्रेजों ने भारत में कदम रखे हैं तथा यहां वे साम्राज्यवादी शासन की स्थापना कर भारतीयों पर एहसान कर रहे हैं। इसके निमित्त भारतीयों को अंग्रेजों का आभारी होना चाहिए। इन साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने भारत के तथाकथित राष्ट्रीय आंदोलन को शिक्षित अल्पसंख्यकों का स्वार्थी एवं उत्तरदायित्वविहीन जमघट घोषित किया, जिसने अंग्रेजी शासन द्वारा प्रदान की गई रियायतों का अनुचित लाभ उठाने एवं भारतीयों को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काने का बार–बार कुत्सित प्रयास किया है। इसीलिए 1857 ई. के विद्रोह को जेम्स आउट्रम तथा डब्ल्यू.बी. टेलर ने हिंदू–मुस्लिम षड्यंत्र कहा, जिसमें हिंदू शिकायतों का लाभ उठाया गया था। दूसरी ओर एल.ई.आर. रीज ने इसे धर्मांधों का ईसाइयों के विरुद्ध युद्ध कहा। टी.आर. होम्स ने तो इसे बर्बरता तथा सभ्यता के बीच युद्ध तक की संज्ञा दे डाली। वास्तव में साम्राज्यवादी विचारधारा के इन सभी व्यक्तियों की मंशा अंग्रेजों को सत्य एवं भारतीयों को असत्य सिद्ध करने की रही। इस विचारधारा से प्रभावित सभी इतिहासकारों ने समसामयिक भारत के संदर्भ में तुच्छता एवं हीनता का दृष्टिकोण अपनाया। इस परंपरा में ब्रिटेन के उपयोगितावादी विचारकों, यथा–टी. बी. मैकाले एवं जेम्स मिल ने भारतीय समाज को अत्यंत पिछड़ा तथा दकियानूसी बताया और उसके पश्चिमीकरण के लिए अंग्रेजों की अधीनता को अनिवार्य एवं आवश्यक सिद्ध करने का प्रयास किया। जेम्स मिल की छह खंडों में प्रकाशित रचना *'हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया'* (1806–13 ई.) में इन विचारों को आसानी से देखा जा सकता है। मैकाले की कुख्यात शिक्षा नीति भी इसी सोच का प्रतिफल है। यद्यपि इन कट्टर साम्राज्यवादी इतिहासकारों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो तुलनात्मक

रूप से भारतीयों के प्रति थोड़ा उदार थे। इनमें मैल्कम, ग्रांट डफ एवं जेम्स टॉड जैसे विद्वान थे, जिन्होंने यद्यपि भारत में अंग्रेजों की उपस्थिति को वैध ठहराया परंतु, भारतीय समाज और इसकी संस्थाओं को नष्ट न करने का सुझाव भी दिया।

टिप्पणी

यद्यपि आज इतिहास की पश्चदृष्टि से इस साम्राज्यवादी विचारधारा का पर्दाफाश हो गया है परंतु राष्ट्रवादी इतिहास लेखन को भी अपनी कमियां दूर करनी चाहिए क्योंकि मूलरूप से इसका विकास साम्राज्यवादी इतिहास लेखन की प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ है।

राष्ट्रवादी

राष्ट्रवादी इतिहास लेखन मुख्यतया 19वीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ तथा 19वीं सदी के मध्य तक आते–आते यह न केवल पुष्ट हो गया बल्कि इसने उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठानी भी प्रारंभ कर दी। 1857 ई. के विद्रोह के पश्चात् भारतीय बुद्धिजीवियों में साम्राज्यवाद विरोधी भावनाएं तीव्र हो गईं तथा अनेक भारतीय विद्वानों ने साम्राज्यवाद के विरोध में राष्ट्रवादी साहित्य की रचना की। इस काल के राष्ट्रवादी इतिहासकारों में के.बी. फड़के (महाराष्ट्र), सर सैयद अहमद खां (उ. भारत) एवं रजनीकांत गुप्त तथा केदारनाथ दत्त (बंगाल) प्रमुख थे। इसी समय कई हिंदुस्तानी इतिहासकारों ने साम्राज्यवादी लेखन की अवधारणाओं एवं उद्देश्यों की आलोचना तथा व्यवस्थित खंडन का शुभारंभ भी किया। 1867 ई. में नीलकंठ कीर्तने ने ग्रांट डफ की कृति *'मराठों का इतिहास'* की तीक्ष्ण समीक्षा की तो विष्णु शास्त्री चिपलुंकर ने टामस मैकाले तथा जेम्स मिल के दुराग्रहों का *निबंधमाला* में पर्दाफाश कर दिया। किंतु उस समय के सर्वप्रमुख राष्ट्रवादी इतिहासकार रहे हैं बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय जिन्होंने न केवल उल्लेखनीय राष्ट्रवादी साहित्य की रचना की अपितु अन्य विद्वानों को भी इस दिशा में कार्य करने हेतु प्रोत्साहित किया।

अठारहवीं शताब्दी में एशियाटिक सोसायटी की खोजों एवं उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के मैक्समूलर तथा थियोसोफिकल सोसायटी के प्रचार ने जिस प्रकार भारत के ऐतिहासिक गौरव को पुनर्रेखांकित किया, उससे आधुनिक भारत के इतिहास लेखन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इससे विशिष्ट ऐतिहासिक शोध के लिए कई नई संस्थाएं खुलीं तथा ऐतिहासिक पत्रिकाओं के प्रकाशन का नया क्रम प्रारंभ हुआ। बंकिमचंद्र द्वारा निकाली गई शृंखला *ऐतिहासिक चित्र* (1899 ई.), के.एन. सेन की शृंखला *काव्येतिहासिक संग्रह* (1878 ई.), *वरेंद्र शोध संस्थान* (1910 ई.) और *भारत इतिहास संशोधक मंडल* (1910 ई.) विशेष रूप से भारतीय इतिहास लेखन की गुणवत्ता एवं प्रामाणिकता के विकास में सहायक रहीं। आर.डी. भंडारकर (महाराष्ट्र), कृष्ण प्रसन्न सेन (बंगाल), शिबली नुमानी (अलीगढ़) एवं जकाउल्लाह खां (दिल्ली) ने मूल स्रोतों के आधार पर प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास लेखन की परंपरा को आगे बढ़ाया। इसी क्रम में बी. के. रजवाड़े तथा डी.बी. परसनीस ने महाराष्ट्र में तथा अक्षय कुमार मित्र ने बंगाल में आधुनिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की परंपरा को आगे बढ़ाया। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अनेक उदारवादी साहित्यिक कृतियों की रचना की। विपिनचंद्र पाल, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी एवं आर.सी. दत्त जैसे राष्ट्रवादी इतिहासकार भी उल्लेखनीय हैं। इन सभी इतिहासकारों ने भारत के राष्ट्रीय गौरव को पुनर्स्थापित किया, साम्राज्यवादी विचारधाराओं का खंडन किया तथा अंग्रेजों के शोषण को जन–सामान्य के सम्मुख

अनावृत किया। इन सभी राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने तर्कपूर्ण एवं व्यवस्थित ढंग से यह सिद्ध कर दिया कि अंग्रेजों का शासन किसी भी रूप में भारतीयों के हित में नहीं है तथा वे किस प्रकार खुले रूप में भारत की लूट में संलग्न हैं। इन सभी राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने उपयुक्त आधारों पर यह सिद्ध किया कि भारतीय किसी भी प्रकार से अंग्रेजों से कम नहीं हैं तथा भारत से अंग्रेजों का शासन अतिशीघ्र समाप्त होना चाहिए। बीसवीं शताब्दी में भी राष्ट्रवादी विचारधारा ने आधुनिक इतिहास लेखन की परंपरा को प्रभावित करने की प्रक्रिया को बनाए रखा।

मार्क्सवादी

मार्क्सवाद, कार्ल मार्क्स (1813–83 ई.) एवं फ्रेडरिक एंगेल्स (1820–95 ई.) के दर्शन पर आधारित विचारधारा है। इस विचारधारा ने सामाजिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के साथ–साथ इतिहास पर भी अपना प्रभाव डाला है। मार्क्सवाद इतिहास को महान व्यक्तित्वों के क्रिया–कलापों की सूची या घटनाओं का क्रम मात्र न मानकर इसे समाज के आंतरिक संगठन तथा बदलाव करने वाले माध्यम के रूप में देखता है और इसी रूप में इसका अध्ययन करता है। यह इस बात पर बल देता है कि किसी भी समाज के इतिहास को समझने के लिए उस समाज की समस्त उत्पादन पद्धतियों को जानना आवश्यक है। उत्पादन पद्धति का अर्थ वस्तुओं एवं सेवाओं इत्यादि के निरंतर पुनरुत्पादन के तरीकों के साथ ही सामाजिक स्वामित्व से भी है क्योंकि इसी के आधार पर समाज के वर्ग–संबंध एवं उत्पादन संबंध निर्धारित होते हैं। वर्गों की असमानता एवं उनके मध्य के अंतर्विरोध से वर्ग–संघर्ष उत्पन्न होता है। अतः इतिहास की दृष्टि में 'सारा इतिहास वास्तव में वर्ग–संघर्ष का इतिहास है।'

आधुनिक इतिहास लेखन में यद्यपि मार्क्सवाद की रूढ़िवादी व्याख्या को आधार बनाकर कुछ इतिहासकारों ने इतिहास की व्याख्या की किंतु वास्तव में मार्क्सवाद की सरलीकृत अवधारणाओं को पहचानना एवं समझना आवश्यक है। रूढ़िवादी मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इस दर्शन को केवल अर्थव्यवस्था से जोड़कर देखा किंतु अंतोनियो ग्राम्शी, ई.पी. टॉमसन एवं रेमंड विलियम्स जैसे इतिहासकार इसे अर्थव्यवस्था के अतिरिक्त व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। इनके अनुसार मार्क्सवाद राज्य प्रणाली और संस्कृति जैसे पहलुओं के लिए भी समान रूप से सार्थक है।

आधुनिक भारत के इतिहास लेखन में भी मार्क्सवाद ने गहरा प्रभाव डाला है। इसमें रूढ़िवादिता का त्याग दो अलग–अलग चरणों में दो अलग–अलग दिशाओं में हुआ है। इसी वजह से स्वतंत्रता–संघर्ष में गांधीवादी राष्ट्रीयता के योगदान का मूल्यांकन नए सिरे से किया गया तथा रजत राय एवं विपिनचंद्र जैसे इतिहासकारों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा के प्रति रजनी पाम दत्त आदि की तुलना में अधिक उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया। विशेष रूप से इस आंदोलन के व्यापक एवं अखिल भारतीय स्वरूप तथा संगठनात्मक शक्ति की तारीफ की तथा इसकी सामाजिक सीमाओं को दृष्टिगत रखते हुए साम्राज्यवादी संघर्ष में इसे एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में देखा। हाल के वर्षों में मार्क्सवादी इतिहास लेखन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आया है कि इतिहासकारों ने आर्थिक नियतिवाद एवं यांत्रिक ढंग से वर्ग संबंधों से उद्धृत करने की प्रक्रिया को इतिहास लेखन में चुनौती दी है तथा संस्कृति एवं जनमानस इत्यादि को ऐतिहासिक व्याख्या में अधिक गंभीरता

टिप्पणी

से समझने पर बल दिया है। इन सुझावों का प्रभाव आधुनिक भारत के इतिहास लेखकों पर भी पड़ा है तथा कई मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इस संबंध में रुचिकर कार्य किए हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्य विचारधाराओं के समान ही मार्क्सवादी विचारधारा ने भी आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन को प्रभावित किया है तथा अब उसका परिष्कृत स्वरूप समाज के सामने आ रहा है।

मध्यवर्ती या सबाल्टर्न

इसे 'सबाल्टर्न अध्ययन' के नाम से भी जाना जाता है। इस विचारधारा के सभी इतिहासकारों में पूर्ण मतैक्य नहीं है। इस विचारधारा के प्रतिपादक रणजीत गुहा हैं। इतिहास की इस विचारधारा में मुख्यतः दलित जनता का इतिहास लेखन किया जाता है। श्री गुहा ने इस विचारधारा के संबंध में जो सुझाव दिए हैं उसके अनुसार भारतीय समाज को कुलीन एवं दलितों के विभाजन पर आधारित समाज के रूप में देखना चाहिए न कि विभिन्न प्रतियोगी गठबंधनों के जमघट वाले समाज के रूप में। इससे लोक चेतना एवं शोषण अनुभव के आधार पर गहराई से जुड़े हुए दलित समाज को अच्छी तरह से समझा जा सकेगा। वास्तव में इसी दृष्टिकोण के कारण इस प्रकार के इतिहास लेखन को सबाल्टर्न या अधीनस्थों या दलितों के अध्ययन की संज्ञा प्राप्त हुई। यद्यपि इस नाम या संज्ञा से कुछ इतिहासकारों ने अपनी असहमति भी व्यक्त की है। सबाल्टर्न सिद्धांत के समर्थक इतिहासकार दलित समाज के विशिष्ट ऐतिहासिक अध्ययन के अतिरिक्त इस बात पर भी बल देते हैं कि दलित समाज को निर्धन एवं पिछड़ा हुआ समाज समझने की बजाय उनकी मानसिकता एवं चेतना को समझना ज्यादा उपयुक्त होगा। चाहे वह दलित विद्रोहों का इतिहास हो या अन्य आंदोलनों में उनकी भागीदारी हो या उनके बलिदानों की दास्तान हो, इन सभी का भली प्रकार से तभी उपयोग हो सकेगा, जब इतिहासकार प्राथमिक स्रोतों के रचनात्मक अध्ययन के आधार पर उन्हें इतिहास लेखन का हिस्सा बना सकें। सबाल्टर्न के सभी इतिहासकार यह मानते हैं कि दलितों की चेतना में शोषण के प्रति विरोध एवं कुलीनों के प्रभुत्व का साधारण परिस्थितियों में विषम मिश्रण विद्यमान रहता है। यह चेतना, सत्ता अथवा व्यवस्था के टूटने पर स्वतः ही प्रवर्तित विद्रोही प्रवृत्तियों को जन्म दे सकती है। राजनीतिक संगठनों के अभाव में भी व्यापक आंदोलनों का प्रादुर्भाव हो सकता है। किंतु बाह्य नेतृत्व से दलितों के संबंध एवं विद्रोहों की दिशा के संबंध में इतिहासकारों में मतभेद हैं। क्षेत्रीयता एवं प्रतिवाद जैसी प्रवृत्तियां भी क्या स्वरूप धारण करेंगी यह भी विवादास्पद है। किंतु इसके साथ ही आवश्यकता दलितों की चेतना के अध्ययन की पद्धति या शोध विधि की है। वैसे दलित समाज की चेतना एवं उनकी मानसिकता को समझना इतना आसान नहीं है, किंतु सबाल्टर्न के इतिहासकारों ने इस मुद्दे को काफी चुनौती के रूप में ग्रहण किया है तथा उसे अपनी शोध प्रक्रिया का केंद्र बिंदु बनाया है। यहां यह तथ्य सबसे बड़ा विवाद बन गया है कि ऐसे इतिहासकारों में पूर्णतया निष्पक्षता होनी चाहिए तथा उनमें पक्षपात या संकीर्णता की भावना बिल्कुल नहीं होनी चाहिए।

कई इतिहासकार तो सबाल्टर्न शब्द की अवधारणा को ही भ्रामक मानते हैं। समाज को सुपरिभाषित वर्गों के अंतर्विरोधों के माध्यम से देखने के स्थान पर दलित एवं कुलीन जैसे अस्पष्ट तथा बहुप्रयोजक समूहों के माध्यम से देखना ऐतिहासिक विश्लेषण

को और दुर्गम बना सकता है। यहां यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि सबाल्र्टन इतिहासकार दलितों से संबद्ध सभी समूहों को एक ही नजरिए से देखना चाहते हैं तथा वे उनकी सोच एवं मानसिकता में कोई विभेद नहीं करते हैं, जबकि ऐसा करने से उनका अध्ययन या इतिहास लेखन निष्पक्ष नहीं रह जाता है। सबाल्र्टन अध्ययन एवं इससे संबंधित इतिहास लेखन में कुछ अन्य कमियां या कठिनाइयां भी हैं, जिन पर भविष्य में इस विचारधारा से संबद्ध इतिहासकारों या आधुनिक भारतीय इतिहास के लेखकों का विचार करना अपेक्षित होगा।

अपनी प्रगति जांचिए

4. राष्ट्रवादी इतिहास लेखन मुख्य रूप से कब प्रारंभ हुआ?

   (क) 19वीं शताब्दी से (ख) 18वीं शताब्दी से

   (ग) 17वीं शताब्दी से (घ) 16वीं शताब्दी से

5. मार्क्सवादी विचारधारा किनके दर्शन पर आधारित विचारधारा है?

   (क) गैरे एवं टॉमसन (ख) हेनरी मेन एवं एल्फ्रेड लॉयल

   (ग) कार्ल मार्क्स एवं फ्रेडरिक एंगेल्स (घ) एडवर्ड टॉमसन एवं जॉन स्ट्रैची

6. सबाल्र्टन विचारधारा के प्रतिपादक कौन हैं?

   (क) रजत राय (ख) रणजीत गुहा

   (ग) विपिनचंद्र (घ) केदारनाथ दत्त

1.4 उत्तर पूर्व–औपनिवेशिक व्यवस्था : राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक

आधुनिक भारत के इतिहास में 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की राजनीतिक प्रवृत्तियों की अहम् भूमिका थी। यह वह समय था जब भारत में कई राजनीतिक शक्तियां अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत थीं। मुगल साम्राज्य का पतन हो चुका था एवं पेशवाओं के अधीन मराठा शक्ति मुगल साम्राज्य का स्थान लेने हेतु प्रयासरत थी। मुगल साम्राज्य की कमजोरी से लाभ उठाकर विभिन्न क्षेत्रीय शक्तियां–अवध, बंगाल, हैदराबाद, मैसूर केरल एवं राजपूत आदि भी स्वतंत्र होकर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए प्रयासरत थीं। मुगल ईरानी, तूरानी एवं हिंदुस्तानी दलों में बंट चुके थे। इसका लाभ उठाकर नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण कर मुगल साम्राज्य की रीढ़ की हड्डी तोड़ दी। मुगलों का स्थान लेने में प्रयासरत मराठा शक्ति को पानीपत के तृतीय युद्ध 1761 ई. में अहमद शाह अब्दाली ने करारी शिकस्त दी। अतः 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत का इतिहास एक ऐसे मोड़ पर था कि यह निश्चित करना कठिन हो रहा था कि आखिर भारत पर कौन–सी शक्ति शासन करेगी। भारत की इस अंदरूनी संघर्ष पूर्ण स्थिति का सर्वाधिक लाभ ब्रिटिश शक्ति ने उठाया। प्लासी एवं बक्सर के युद्ध के पश्चात ब्रिटिश सत्ता ने भारत में अपनी जड़ें मजबूत कीं और उसने मराठा व मैसूर शक्ति के साथ संघर्ष किया।

टिप्पणी

भारत में औपनिवेशिक शासन की स्थापना का आरंभ प्लासी एवं बक्सर युद्ध (1764 ई.) के पश्चात से माना जाता है। ईस्ट इंडिया कंपनी ने औपनिवेशिक शासन में जो राज्य शासन प्रणाली अपनाई, वह उपनिवेशपूर्व भारत में प्रचलित राज्य शासन प्रणाली से पूर्णतः भिन्न थी। वस्तुतः औरंगजेब की मृत्यु (1707 ई.) के पश्चात भले ही क्षेत्रीय राज्य स्वतंत्र हुए मगर उनमें मुगल काल में प्रचलित राज्य शासन प्रणाली ही कमोवेश जारी रही। मुगल साम्राज्य के पतन के समय दक्षिण भारत में मराठा साम्राज्य का उदय हुआ। मराठों ने एक पृथक राज्यशासन प्रणाली को अपनाया। मराठा शक्ति के उत्कर्ष के जनक छत्रपति शिवाजी ने अपनी राज्यशासन प्रणाली में 'अष्ट प्रधान' को अपनाया था। इस अष्ट प्रधान में आठ मंत्री थे जो प्रशासन में सहायता करते थे। अष्ट प्रधान के ये आठ मंत्री– पेशवा, सेनापति (सर–ए–नौबत), अमात्य (मजूमदार), सचिव (सुरूनवीस), मंत्री (वाकयानवीस) सुमंत (दबीर), पंडित राव एवं न्यायाधीश थे। मराठा सैन्य प्रशासन में दो वर्ग थे– प्रथम पागा या वारगीर (अश्वारोही) जिन्हें घोड़े तथा अस्त्र–शस्त्र राज्य की ओर से दिए जाते थे। द्वितीय सिलेदार जिन्हें घोड़ों एवं अस्त्र–शस्त्रों की व्यवस्था स्वयं करनी होती थी।

उत्तर भारत में रणजीत सिंह का राज्य था। उनकी सरकार में पांच मंत्री–मुख्यमंत्री, विदेश मंत्री, रक्षा मंत्री, वित्त मंत्री, सदर ड्योड़ी थे। केंद्रीय सरकार में बारह प्रशासनिक विभाग थे।

इन 12 प्रशासनिक विभागों में दफ्तर ए असबाब उल माल (राजस्व विभाग), दफ्तर ए तौजीहत (राज्य के व्यय का लेखा–जोखा), दफ्तर ए मवाजिब (वेतन विभाग) दफ्तर ए रोजनामचा ए खर्चा (खर्चा का विवरण) प्रमुख थे।

मुगल साम्राज्य के पतन तक एवं उसके पश्चात भी कमोवेश मुगल राज्यशासन प्रणाली ही चलती रही। सम्राट राज्य का प्रमुख था। प्रधानमंत्री वकील कहलाता था। दीवान व वजीर वित्तमंत्री का कार्य संपन्न करता था। मीर बख्शी सेना का प्रधान था। धर्म एवं दान विभाग का प्रमुख सद्र–ए–सदूर (मुख्य सदर) था। राज्य भंडार का प्रबंधक (मीर ए सामान) होता था। मनसबदारी प्रथा मुगल राज्य शासन प्रणाली का एक प्रमुख स्तंभ थी।

1.4.1 राजनीतिक स्थिति

1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात मुगल साम्राज्य का पतन हो गया। परवर्ती मुगल सम्राट अयोग्य थे। वे नाम मात्र के सम्राट थे एवं विभिन्न उच्चाधिकारियों के हाथ की कठपुतली बने रहे। सम्राटों की अयोग्यता का लाभ उठाकर धीरे–धीरे मुगल साम्राज्य के विभिन्न सूबे स्वतंत्र होने लगे। इनमें हैदराबाद एवं अवध प्रमुख थे। दक्षिण में मराठों ने स्वतंत्र सत्ता स्थापित की मगर पानीपत की हार ने यह निश्चित कर दिया कि मुगलों द्वारा रिक्त स्थान की पूर्ति मराठे नहीं कर सकते। अब भारत में औपनिवेशिक शासन की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

मुगल साम्राज्य का पतन

मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया औरंगजेब के शासनकाल के अंतिम वर्षों में आरंभ हो गई थी। 1707 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात यह प्रक्रिया तीव्र हो गई। उसके उत्तराधिकारी दुर्बल थे। उत्तराधिकार के लिए युद्धों के कारण उनकी स्थिति और दुर्बल

हुई और अमीर वर्ग शक्तिशाली हो गया। औरंगजेब के पुत्रों में उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुआ जिसमें उसका ज्येष्ठ पुत्र सफल हुआ जो बहादुरशाह की उपाधि धारण करके सिंहासन पर बैठा। 1712 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात उसके चार पुत्रों में युद्ध हुआ जिसमें मुइनुद्दीन सफल हुआ। वह जहांदार शाह की उपाधि के साथ गद्दी पर बैठा। उसी समय बहादुरशाह के एक पौत्र फर्रूखशियर ने सिंहासन पर दावा किया। उसे अब्दुल्लाखां और हुसैनअली का समर्थन प्राप्त था। इतिहास में उन्हें सैयद भाई कहा गया है। उनकी सहायता से फर्रूखशियर ने सिंहासन प्राप्त कर लिया। लेकिन वह नाममात्र का सम्राट था। वास्तविक शक्ति सैयद भाइयों के हाथों में थी। सैयद भाई शिया थे इससे दरबार में दो दल शिया और सुन्नी अमीरों के बन गए। फर्रूखशियर ने सुन्नी तूरानी दल से मिलकर सत्ता प्राप्त करने का प्रयास किया जिसके कारण सैयद भाइयों ने उसे हटाकर मरवा डाला और मुहम्मदशाह को 1719 ई. में गद्दी पर बिठाया। मुहम्मद शाह चतुर व्यक्ति था। उसने तूरानी अमीरों से मिलकर षड्यंत्र किया जिसके फलस्वरूप दोनों सैयद भाई मारे गए। इस षड्यंत्र के फलस्वरूप राजसत्ता तूरानी दल के हाथों में आ गई। मुहम्मदशाह 1748 ई. में मृत्यु तक सुल्तान रहा लेकिन वह वास्तविक रूप में सम्राट न बन सका। दरबार में अमीरों के कुचक्रों के कारण मुगलों की सत्ता लगभग समाप्त हो चुकी थी। 1739 ई. में नादिरशाह के आक्रमण से मुगलों की रही–सही प्रतिष्ठा भी नष्ट हो गई। उत्तर भारत के विशाल क्षेत्रों में मराठा प्रसार हो रहा था। मुगलों में शक्ति नहीं थी कि वे मराठों को रोक सकें। मुगल साम्राज्य का पतन हो चुका था।

नादिरशाह व अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण

जब अमीरों के षड्यंत्रों, सूबेदारों के विद्रोहों तथा मराठों के उत्तर भारत में विस्तार से मुगल सत्ता लगभग नष्ट हो चुकी थी उस समय 1739 ई. में फारस के शासक नादिरशाह का आक्रमण एक भीषण आघात था जिसने मुगल सम्राट के नाममात्र के सम्मान को भी नष्ट कर दिया। उसने 60 दिनों तक दिल्ली तथा आस–पास के प्रदेशों को निर्दयता से लूटा और कत्लेआम किया। उसने दिल्ली को श्रीविहीन कर दिया और अपरिमित धन लूटकर ले गया जिसमें 70 करोड़ मूल्य का तख्त–ए–ताऊस भी था। वह मुगल राजकुमारियों को भी ले गया। इस आघात से मुगल राजवंश उबर नहीं पाया। उसके बाद अहमदशाह अब्दाली ने सात बार आक्रमण करके पंजाब छीन लिया, दिल्ली को लूटा और मुगल साम्राज्य को छिन्न–भिन्न कर दिया। इर्विन लिखते हैं कि ''इन आक्रमणकारियों ने उस आडंबर का अंत कर दिया जिसके कारण लोगों को अलंकृत लाश एक विशालकाय प्रेत के समान दिखाई पड़ती थी।''

मराठों का उत्थान

17 वीं शताब्दी में मराठा शक्ति का उत्थान आकस्मिक घटना नहीं थीं। मराठों को संगठित तथा प्रेरित करने वाली शक्तियां शताब्दियों से कार्य कर रही थीं। ग्रांट डफ ने मराठा उत्थान की तुलना सहाद्रि पर्वत श्रेणियों की दावाग्नि से की है जो अचानक लगने के बाद भयंकर रूप धारण कर लेती है लेकिन डफ का अनुमान सत्य नहीं है कि मराठा शक्ति का उत्थान अचानक हुआ था। शताब्दियों से महाराष्ट्र में इस प्रकार की सामाजिक और धार्मिक परंपराएं विकसित हो रही थीं जिन्होंने महाराष्ट्र के राष्ट्रीय संगठन तथा सामाजिक एकता में योगदान दिया था। रानाडे लिखते हैं कि मराठा

टिप्पणी

शक्ति के उत्थान के विश्लेषण के लिए दो प्रश्नों को समझना आवश्यक है। प्रथम, मुसलमानों के शासन को उखाड़ फेंकने के लिए पहला प्रयत्न पश्चिमी भारत में क्यों हुआ? द्वितीय, देश की प्रकृति, देशवासियों के स्वभाव और उनकी संस्थाओं के रूप में कौन–सी परिस्थितियां थीं जिन्होंने इस प्रयत्न का साथ दिया और सफलता में योग दिया।

मराठों के आश्चर्यजनक उत्थान के विभिन्न कारण थे जिन्हें भौगौलिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और सैनिक कारणों के अंतर्गत, अध्ययन की सुविधा के लिए विभाजित किया जा सकता है। इन सबकी समष्टि शिवाजी का शक्तिशाली व्यक्तित्व था जिन्होंने मराठों के उत्थान का नेतृत्व किया। अपनी माता के साथ शिवाजी पूना आ गए जो जागीर के रूप में शाहजी को प्राप्त हुआ था। यहीं शिवाजी की किशोरावस्था दादाजी कोंणदेव जैसे सुयोग्य आचार्य के संरक्षण में बीती। यहीं शिवाजी ने प्रशासन का अनुभव प्राप्त किया, राजस्व, पंचायत आदि ग्रामीण प्रणालियों में प्रशिक्षण प्राप्त किया। यहीं पहाड़ी मालव प्रदेश में उन्होंने कठोर सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त किया। भीषण गर्मी, वर्षा ने उन्हें कर्तव्यपालन की प्रेरणा दी। शिवाजी के प्रशिक्षण में दूसरा स्थान उनकी माता जीजाबाई का था जिन्होंने महाभारत तथा रामायण आदि के प्राचीन आदर्श वीरों की कथायें सुनाकर हिंदू धर्म की रक्षा का आदर्श उनके सम्मुख रखा।

पेशवाओं के अधीन मराठा शक्ति का विस्तार

मराठा शक्ति को जो सुदृढ़ आधार शिवाजी ने प्रदान किया था, उसे पेशवाओं ने और अधिक मजबूत किया। शिवाजी की 1680 ई. में मृत्यु के उपरांत मराठों में गृह युद्ध आरंभ हुआ जिससे मराठे दुर्बल हुए। शिवाजी के पुत्र संभाजी का औरंगजेब द्वारा वध करा दिया गया गया था एवं संभाजी के पुत्र शाहू को उसने बंदी बना लिया था। औरंगजेब की 1707 ई. में मृत्यु के पश्चात शाहू को मुक्ति मिली। शाहू मुगल कैद से तो आजाद हो गया लेकिन अब उसे ताराबाई के विरोध का सामना करना पड़ा। कुछ मराठा सरदार शाहू के पक्ष में थे तो कुछ ताराबाई के, इस प्रकार मराठों में गृह युद्ध की स्थिति निर्मित हुई।

इस संकट की घड़ी में शाहू ने बालाजी विश्वनाथ जैसे योग्य व्यक्ति को पेशवा पद पर नियुक्त कर एक अच्छा कार्य किया। पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने कूटनीति द्वारा मराठा शक्ति को गृह युद्ध की विभीषिका से बचाते हुए उसका उत्थान किया।

पेशवा बालाजी विश्वनाथ (1713–1720 ई.)

पेशवा बालाजी विश्वनाथ का जन्म कोंकण प्रदेश के चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पूर्वज जंजीरा राज्य में श्रीवर्धन के वंशानुगत देशमुख या कर संग्रहकर्ता थे। 1707 ई. में शाहू एवं उसकी चाची ताराबाई के बीच जो युद्ध हुआ, उसमें बालाजी ने शाहू का साथ दिया एवं अपनी कूटनीति से बालाजी ने ताराबाई के सेनापति धन्नाजी को अपनी ओर मिलाकर शाहू को विजयश्री दिलाई।

1717 ई. में सैय्यद बंधुओं में से एक अब्दुल्ला खां की स्थिति मुगल दरबार में अत्यंत नाजुक हो गई थीं। अतः उसे अपने भाई हुसैन अली को दक्षिण भारत से सहायतार्थ बुलाने के लिए बाध्य होना पड़ा। हुसैन अली ने शाहू के साथ एक संधि की और उसे मराठा साम्राज्य का स्वामी मान लिया। बदले में बालाजी विश्वनाथ ने सैय्यद

बंधुओं की मदद हेतु 15,000 सैनिकों के साथ हुसैन अली के संग दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। सैय्यद बंधुओं ने बालाजी की सहायता से अपने विरोधी सम्राट फर्रूखशियर को सम्राट बनाया जिसने उक्त मुगल–मराठा संधि को मान्यता प्रदान की। इस संधि को सर रिचर्ड टेम्पल ने मराठा साम्राज्य के लिए एक मैग्ना कार्टा की संज्ञा दी।

बालाजी विश्वनाथ ने उक्त संधि द्वारा मराठों को एक प्रमुख शक्ति बना दिया। सैय्यद बंधुओं से हुई इस संधि द्वारा मराठा राज्य को 30 लाख रुपया मिला एवं नियमित रूप से 35 प्रतिशत वार्षिक कर (चौथ एवं सरदेशमुखी के रूप में) प्राप्त होने लगा। इस प्रकार बालाजी की छवि अत्यंत ऊंची हो गई। उन्होंने न केवल मराठों को गृहयुद्ध की विभीषिका से बचाया अपितु मराठा शक्ति को एक प्रमुख शक्ति के रूप में प्रतिस्थापित किया। बालाजी एक ऐसे स्वयं निर्मित व्यक्ति थे जो अपनी ही योग्यता के बल पर शून्य से चलकर शिखर तक जा पहुंचे। 2 अप्रैल, 1720 ई. को उनका देहांत हो गया।

पेशवा बाजीराव प्रथम (1720–1740 ई.)

बालाजी बाजीराव की मृत्युपरांत उनका ज्येष्ठ पुत्र, बाजीराव प्रथम, जो कि मात्र 19 वर्ष का था, पेशवा बना। उसने हिंदू पद पादशाही का आदर्श स्थापित किया, ताकि समस्त हिंदू मुगलों के विरुद्ध एकजुट हो सकें। शाहू ने बाजीराव को योग्य पिता का योग्य पुत्र कहा। दक्षिण में हैदराबाद का निजाम मराठों के चौथ एवं सरदेशमुखी प्राप्त करने के अधिकार को चुनौती दे रहा था। अतः बाजीराव ने उसे 7 मार्च, 1728 ई. में पालखेड़ के युद्ध में करारी शिकस्त दी। निजाम आसफजाह निजामुलमुल्क को मुंगी शिवगांव की संधि मानने के लिए बाध्य होना पड़ा एवं उसने मराठों के चौथ व सरदेशमुखी प्राप्त करने के अधिकार को स्वीकार किया।

1730 ई. में गुजरात स्थित मुगल सूबेदार सरबुलन्द खां ने बाजीराव के छोटे भाई चिमनाजी के साथ संधि कर चौथ एवं सरदेशमुखी प्रदान करने का वचन दिया। 1735 ई. में मालवा पर भी मराठों का वर्चस्व स्थापित हो गया। बुंदेलखंड नरेश छत्रसाल ने पेशवा की शान में एक शानदार दरबार आयोजित किया। इलाहाबाद के मुगल सूबेदार मुहम्मद खां बंगश के घेरे से बाजीराव ने 80 वर्षीय महाराज छत्रसाल को मुक्त कराया था। इस सामयिक सहायता से कृतज्ञ होकर छत्रसाल ने बाजीराव को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। एक जनश्रुति के अनुसार महाराज छत्रसाल ने इसी समय मस्तानी नामक अपूर्व सुंदरी भी बाजीराव को भेंट की।

मुगल सम्राट को अपनी शक्ति दिखाने के निमित्त पेशवा ने 1737 ई. में दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। निजाम मुगल सम्राट की सहायतार्थ आया मगर भोपाल के निकट दोराहा के युद्ध में एक बार पुनः निजाम परास्त हुआ। निजाम ने मुगल सम्राट से पेशवा का समझौता कराने का व मालवा दिलाने का आश्वासन दिया। इस तरह उत्तर भारत में बाजीराव के प्रयासों से मराठों की विजय पताका फहराने लगी।

बाजीराव प्रथम ने इस प्रकार एक वृहद महाराष्ट्र की नींव डाली। वे गुणों के पारखी थे इसीलिए उन्होंने सिंधिया, होल्कर, पंवार जैसे नेताओं को खोजकर आगामी मराठा शक्ति का मुख्य आधार बनाया। मराठों का राज्य अब अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक फैल गया। दिल्ली के स्थान पर अब पूना भारतीय राजनीति का केंद्र बन गया।

टिप्पणी

बालाजी बाजीराव (1740–1761 ई.)

बाजीराव प्रथम की असामयिक मृत्युपरांत छत्रपति शाहू ने उनके पुत्र बालाजी बाजीराव को पेशवा नियुक्त किया। इस प्रकार पेशवा का पद पैतृक बन गया। 1750 ई. के संगोला समझौते द्वारा मराठा संगठन का वास्तविक नेता पेशवा बन गया, यह एक संवैधानिक क्रांति थी। मराठा छत्रपति अब नाममात्र के राजा रह गए। बालाजी बाजीराव ने भी मराठा शक्ति का यथासंभव उत्तर–दक्षिण में प्रसार किया। कटक से अटक तक मराठा साम्राज्य की तूती बोलने लगी। मराठा घोड़े अब सिंध नदी का भी पानी पीने लगे। मुगल सम्राट द्वारा जारी 4 जुलाई, 1741 ई. के एक शाही फरमान द्वारा पेशवा को मालवा का नायब मान लिया गया। 1742 ई. में बुंदेलखंड के झांसी पर भी मराठा नियंत्रण स्थापित हो गया। 1744 ई. में बंगाल तथा बिहार से भी मराठे चौथ वसूलने लगे। कर्नाटक के नबाव दोस्त अली को भी मराठों ने करारी शिकस्त दी। दोस्त अली के जमाता चांदा साहिब को बंदी बनाकर सतारा भेज दिया गया।

1745 ई. में हैदराबाद के निजाम आसफजाह निजामुल–मुल्क की मृत्युपरांत वहां गृह युद्ध की स्थिति निर्मित हुई। भलकी की संधि, 1752 ई. द्वारा मराठों ने निजाम से बराढ़ का आधा भाग ले लिया। दिसंबर 1757 ई. के सिन्दखेड़ युद्ध व 1760 ई. के उदगीर युद्ध में भी मराठों ने निजाम को पराजित कर 60 लाख रुपये वार्षिक कर वाले प्रदेश– अहमदनगर, दौलताबाद, बुरहानपुर एवं बीजापुर आदि प्राप्त कर लिए।

दिल्ली में मुगल सम्राट की दुर्बलता से लाभ उठाकर पठान तथा रूहैले, अहमदशाह अब्दाली की सहायता से दिल्ली में पठान राज्य की स्थापना हेतु प्रयासरत थे। इन परिस्थितियों से पार पाने के लिए 1751 ई. सें सफदर जंग ने मराठों से सहायता मांगी। अप्रैल 1752 ई. में एक समझौते द्वारा मराठों ने 50 लाख रुपया वार्षिक प्राप्त करने के बदले मुगल साम्राज्य की आंतरिक एवं बाह्य रक्षा का आश्वासन दिया। इसके बावजूद भी रूहैला सरदार नजीबुद्दौला निरंतर मराठों को चुनौती दे रहा था। अप्रैल 1758 ई. में लाहौर से अब्दाली के एजेंट को निकालकर मराठों ने अब्दाली से भी दुश्मनी मोल ले ली। सतलज से बनारस तक अब मराठा दुन्दुभी बजने लगी थी।

1759 ई. में अहमदशाह अब्दाली ने अटक पार कर दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में पूना से एक विशाल सेना अफगानों का सामना करने हेतु भेजी गई। 14 जनवरी, 1761 ई. के पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों को पराजय का सामना करना पड़ा। इसके साथ ही मराठों का समस्त भारत पर शासन करने का स्वप्न चकनाचूर हो गया। इसी वर्ष बालाजी बाजीराव का देहांत हो गया।

पानीपत का तृतीय युद्ध

पानीपत का तृतीय युद्ध भारतीय इतिहास का परिवर्तन बिंदु था। मराठा शक्ति के लिए यह एक आघात था। इस युद्ध में अब्दाली ने मराठों को करारी शिकस्त दी।

युद्ध की प्रमुख घटनाएं

29 अक्टूबर, 1760 को मराठा सेना पानीपत के मैदान में पहुंच गई थी। 2 दिन बाद अब्दाली भी यहां आ गया लेकिन उसकी सेना मराठा सेना और दिल्ली के बीच में थी। भाऊ के लिए यह अच्छा अवसर था कि वह अफगान सेना पर आक्रमण कर देता। उसकी सेना में कुंजपुरा की सफलता से उत्साह था लेकिन भाऊ ने रक्षात्मक नीति

अपनायी, अभी तक उसकी नीति आक्रामक रही थी। दिल्ली पर अधिकार, कुंजपुरा में अफगानों को पराजित करना इसी आक्रामक नीति के परिणाम थे। आक्रामक नीति इसलिए भी आवश्यक थी क्योंकि अफगान सेना उसकी सेना और दिल्ली के बीच में थी, इससे उसका दिल्ली से संबंध विच्छेद हो गया था। उसे रसद सामग्री दिल्ली से मिलती थी। भाऊ ने आक्रामक नीति को इब्राहिम गार्दी के परामर्श पर त्याग कर रक्षात्मक नीति अपनायी थी। भाऊ पर उसके तोपखाने का गहरा प्रभाव था। गार्दी के परामर्श के अनुसार मराठा शिविर के बाहर खाइयां बनायी गईं और उन पर तोपे लगा दी गई। नीति यह थी कि जब अफगान आक्रमण करेंगे, तब तोपों के आक्रमण से उन्हें नष्ट किया जा सकेगा। मल्हारराव ने गुरिल्ला युद्ध (गनीमीकावा) का परामर्श दिया था जिसे भाऊ ने स्वीकार नहीं किया।

अब्दाली ने भी अपने शिविर की सुरक्षा की व्यवस्था की। इसके बाद रोज दोनों में झड़पें होने लगीं। पहले मराठों ने अफगान सेना की रसद सामग्री काट दी। इसमें उन्हें सफलता मिली लेकिन इसके बाद अफगानों ने मराठा शिविर की रसद काट दी। इससे मराठा शिविर में खाद्यान्न का संकट उत्पन्न हो गया। यहां तक कि ईंधन और चारा मिलना भी बंद हो गया। 7 दिसंबर, 1760 को मराठा सेनापति बलवंत राव मेहैन्डेले मारा गया। इससे मराठा शिविर में निराशा फैल गई। भाऊ ने शांति वार्ता चलाने का प्रयास किया लेकिन नजीब के जेहाद के नारे के कारण सब व्यर्थ रहा। प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्ति भूख से मर रहे थे। अंत में 13 जनवरी को युद्ध करने का फैसला किया गया। संभवतः भाऊ का उद्देश्य युद्ध करते हुए दिल्ली की ओर जाना था लेकिन भाऊ की योजना असफल रही।

14 जनवरी को प्रातः 9 बजे युद्ध आरंभ हुआ और दोपहर 3 बजे तक निर्णय हो गया। अफगान सेना में 30,000 अफगान और 30,000 भारतीय मुसलमान थे। मराठा सेना में 45,000 सैनिक थे। आरंभ में मराठा सेना को सफलता मिली। भाऊ ने केंद्रीय सेना के साथ अफगानों पर भयंकर आक्रमण किया। अफगान मराठा तोपों से बचने के लिए दूर–दूर ही बने रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि मराठा सेना अपनी तोपों के आगे आ गई जिससे इन तोपों को बंद करना पड़ा। मराठा सेना के आक्रमण से अफगानों का वाम पक्ष अस्त–व्यस्त हो गया। अब्दाली ने सुरक्षित सेना भेजकर स्थिति संभाल ली। दोपहर होते–होते युद्ध ने भयंकर रूप धारण कर लिया था। इसी समय अचानक एक गोली विश्वासराव के सिर में लगी और उसकी मृत्यु हो गई। इससे भाऊ मानसिक संतुलन खो बैठा और अपने सैनिकों के साथ अफगान सेना में घुस गया। वे सभी मारे गए। मराठा सेना का दक्षिणी भाग जिसमें जसवंतराव होल्कर को संचालन करना था, निष्क्रिय बना रहा। मराठों की पराजय हुई। 27,000 सैनिक और 50,000 असैनिक मारे गए।

पानीपत की पराजय मराठों के लिए न केवल सैनिक बल्कि राजनीति के क्षेत्र में भी एक भीषण आघात था। ग्रांट डफ लिखता है, ''पिछले 40 वर्षों में इतना अनुकूल अवसर नहीं उपस्थित हुआ था जिसमें दक्षिण में मुगल सत्ता को पुनः स्थापित किया जाता। पानीपत की पराजय को मराठा, सिलेदार ब्राह्मणों के कारण मानते थे। देश के ब्राह्मण इसे स्वीकार करते थे लेकिन यह भी घोषित करते थे कि यह उनके कोंकण के भाइयों की दोषपूर्ण व्यवस्था के कारण हुआ था।'' इस प्रकार उनका भारतीय साम्राज्य की स्थापना

टिप्पणी

का स्वप्न, जो बहुत निकट था, सदैव के लिए नष्ट हो गया। दक्षिण में निजाम आक्रमणकारी और अंग्रेज निर्भय हो गए। अंत में अंग्रेजों की सर्वोच्च सत्ता स्थापित हुई। मराठों का पुनरुत्थान अवश्य हुआ लेकिन वे लुप्त गौरव व सत्ता को प्राप्त नहीं कर सके। मराठा इतिहासकारों ने इसे साधारण युद्ध मानकर इसके महत्व को कम करने का प्रयत्न किया है लेकिन वस्तुस्थिति स्पष्ट है, पानीपत की पराजय मराठों के लिए भीषण आघात थी जिसने उनके भारतीय साम्राज्य की कल्पना को सदैव के लिए नष्ट कर दिया था।

क्षेत्रीय सूबों का अभ्युदय

मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात भारत में जो राजनीतिक शून्यता की स्थिति निर्मित हुई, उसका सर्वाधिक फायदा कई महत्वपूर्ण सूबेदारों ने उठाया। उन्होंने अपने–अपने क्षेत्रीय सूबों में अपनी स्वतंत्र अथवा अर्द्ध–स्वतंत्र सरकार स्थापित की। मुगल साम्राज्य के पतनोपरांत जिन स्वतंत्र क्षेत्रीय सूबों का अभ्युदय हुआ, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है–

- **अवध**– मुगल साम्राज्य के पतन की अवस्था में अवध में सआदत खां ने स्वतंत्र सत्ता स्थापित की। सआदत खां ने सैय्यद बंधुओं के विरुद्ध षड्यंत्र में भाग लिया था फलतः वह मुगल सम्राट का कृपापात्र बन गया। उसे बुरहानुलमुल्क की उपाधि प्राप्त हुई। 1720–22 ई. में वह आगरा का भी गवर्नर रहा परंतु बाद में किन्हीं कारणों से उसे अवध का गवर्नर बना दिया गया। 1739 ई. में नादिरशाह के विरुद्ध लड़ने के लिए उसे दिल्ली आमंत्रित किया गया। सआदत खां ने कूटनीतिक चाल चलते हुए नादिरशाह को दिल्ली पर आक्रमण हेतु प्रेरित किया एवं उसे 20 करोड़ रुपये की आशा दिलाई। बाद में जब उससे यह धनराशि मांगी गई तो उसे विषपान कर आत्म हत्या करनी पड़ी। उसकी मृत्यु के पश्चात उसका भतीजा एवं दामाद सफदर जंग अवध का नबाब बना जो 1748 ई. में कालांतर में नबाब वजीर कहलाया।
- **बंगाल**– बंगाल सूबे में स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने का श्रेय मुर्शीद कुली खां को जाता है। मुगल सम्राट औरंगजेब के समय से ही मुर्शीद कुली खां बंगाल का दीवान एवं नायब गवर्नर था। 1713 ई. में राजकुमार फर्रूखशियर के अधीन मुर्शीद कुली खां को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया। उड़ीसा भी 1719 ई. में उसके अधीन कर दिया गया। मुर्शीद कुली खां एक योग्य प्रशासक सिद्ध हुआ, उसके समय में बंगाल के व्यापार–वाणिज्य में प्रगति हुई, उसकी मृत्यु के पश्चात 1727 ई. में उसका दामाद शुजाउद्दीन बंगाल का गवर्नर बना। 1733 ई. में बंगाल का कार्यभार भी मुहम्मदशाह ने उसे सौंप दिया। उसकी मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र सरफराज खां 1739 ई. में बंगाल का गवर्नर बना। सरफराज खां अधिक समय तक गवर्नर न रह सका। 1740 ई. में बिहार के नायब सूबेदार अलीवर्दी खां ने विद्रोह कर अप्रैल 1740 ई. में घेरिया नामक स्थान पर सरफराज खां को परास्त कर मार डाला। बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा तीनों सूबों का गवर्नर अब अलीवर्दी खां बन गया। 2 करोड़ रुपये का नजराना प्रदान कर अलीवर्दी खां ने मुगल सम्राट से भी अनुमति प्राप्त कर ली। कालांतर में वह स्वतंत्र रूप

टिप्पणी

से व्यवहार करने लगा और बंगाल, बिहार, उड़ीसा मुगल सम्राट के हाथ से निकल गए।

- **हैदराबाद**– जुल्फिकारखां को 1708 ई. में मुगल सम्राट बहादुर शाह ने दक्कन का वायसराय नियुक्त किया था। 1713 ई. में जुल्फिकार खां की मृत्युपरांत चिनकिलिच खां दक्कन का वायसराय बना। 1715 ई. में सैय्यद बंधुओं में से एक हुसैन अली स्वयं दक्कन का वायसराय बना परंतु चिनकिलिच खां शायद भाग्य का धनी था क्योंकि हुसैन अली के वध के पश्चात वह एक बार पुनः दक्कन का सूबेदार बन गया। 1722 ई. में दक्कन के निजाम को मुगल साम्राज्य का वजीर नियुक्त किया गया। निजाम के वजीर के रूप में किए गए कुछ अच्छे कार्यों से कुछ लोगों में उसके प्रति ईर्ष्या एवं द्वेष की भावना उत्पन्न हुई। अतः 1723 ई. में निजाम चुपचाप दक्कन चला गया। मुगल सम्राट को निजाम का यह रूख नागवार गुजरा। अतः उसने मुबारिज खां को दक्कन का निजाम नियुक्त कर दिया। 1724 ई. को शंकर खेड़ा के युद्ध में निजाम ने मुबारिज खां को परास्त कर दिया। मुबारिज खां मारा गया। अब निजाम चिनकिलिच खां दक्कन का स्वामी बन गया। मुगल सम्राट ने चिनकिलिच खां को ही निजाम नियुक्त कर उसे आसफजाह की उपाधि प्रदान की।

  चिनकिलिच खां को ही हैदराबाद के आसफजाही वंश का प्रवर्तक माना जाता है, उसे प्रायः निजामुलमुल्क भी कहा गया है। यद्यपि निजाम अत्यंत दूरदर्शी व योग्य व्यक्ति था, तथापि उसे मराठा पेशवा बाजीराव से परास्त होना पड़ा। वह एक कूटनीतिज्ञ एवं परोपकारी शासक था। मुगल सम्राट की ओर से उसने करनाल के युद्ध में नादिरशाह के विरुद्ध भी भाग लिया था। सिडनी ओवन ने निजामुलमुल्क को एक चालाक, कूटनीतिज्ञ एवं अवसरवादी व्यक्ति की संज्ञा दी है। जो भी हो, वह सही मायने में हैदराबाद के स्वतंत्र सूबे का संस्थापक था।

- **मैसूर**– मैसूर का राजा वाडियार चिक्का कृष्ण राज था। 1731–34 ई. के बीच मुख्य सेनापति देवराज एवं राजस्व अधीक्षक नंजाराज, जो कि दोनों भाई थे, ने मैसूर राज्य की समस्त शक्ति अपने हाथों में ले ली। निजाम, मराठे, अंग्रेज एवं फ्रांसीसियों के बीच के संघर्ष ने मैसूर को भी अपने साथ ले लिया। 1753 से 1759 ई. के बीच मराठों ने चार बार मैसूर पर आक्रमण किया। देवराज एवं नंजाराज मैसूर की रक्षा करने में असमर्थ रहे। ऐसे संकट काल में हैदरअली मैसूर का संकटमोचक सिद्ध हुआ। हैदरअली का जन्म 1727 ई. में हुआ था। वह एक वीर योद्धा था। निरक्षर होते हुए भी उसकी स्मृति शक्ति एवं बुद्धि अत्यंत तीव्र थी। उसने न सिर्फ मैसूर की बाह्य शक्तियों से रक्षा की अपितु 1761 ई. तक वह अपनी योग्यता के बल पर मैसूर का शासक बन गया। फ्रांसीसियों की सहायता से उसने डिंडीगूल में एक शस्त्रागार स्थापित किया। 1761 ई. से 1763 ई. के बीच उसने आसपास के कई स्थानों–होजकोट, दोड़बेल्लापुर, बेदनूर एवं दक्षिण के पोलीगारों को जीत लिया।

  1764, 1766 एवं 1771 ई. में मराठों ने हैदरअली को परास्त कर जो क्षेत्र जीते थे, उन्हें 1774–76 ई. के बीच हैदरअली ने पुनः प्राप्त कर लिया। कृष्ण–तुंगभद्रा

टिप्पणी

घाटी के प्रमुख प्रदेश–बेलारी, कुड्डपा, गुरु तथा करनूल आदि प्रदेशों को हैदरअली ने अब मैसूर प्रांत का अंग बना लिया।

1766–69 ई. में हैदरअली व अंग्रेजों के मध्य प्रथम आंग्ल–मैसूर युद्ध हुआ। इस युद्ध में अंग्रेज सेनानायक जनरल स्मिथ था। प्रारंभिक विजय के उपरांत अंग्रेजों को अंततः परास्त हो हैदरअली के साथ संधि करने को बाध्य होना पड़ा। यह संधि 4 अप्रैल, 1769 ई. को मद्रास में संपन्न हुई।

1780–84 ई. के बीच द्वितीय आंग्ल–मैसूर युद्ध में एक बार पुनः हैदरअली ने कर्नल बेली एवं कर्नल ब्रेटबैथ के अधीन अंग्रेजी सेना को परास्त किया। 7 दिसंबर, 1782 ई. को हैदरअली की मृत्युपरांत युद्ध की कमान उसके पुत्र टीपू सुल्तान ने संभाली। 1784 ई. में मंगलौर की संधि द्वारा युद्ध समाप्त हुआ।

इस प्रकार हैदरअली ने अपने जीते जी मैसूर की स्थिति को सुदृढ़ बनाया। आगामी दो युद्ध उसके पुत्र टीपू सुल्तान द्वारा लड़े गए। चतुर्थ युद्ध में टीपू सुल्तान मारा गया। मैसूर पर अग्रेजों का अधिकर हो गया।

- **कर्नाटक**– हैदराबाद के निजाम के अधीन कर्नाटक दक्षिण के सूबों में से एक था। चूंकि हैदराबाद मुगल साम्राज्य से स्वतंत्र हो गया था, अतः कर्नाटक के डिप्टी गवर्नर को भी कर्नाटक का नवाब कहकर संबोधित किया जाता था। कालांतर में कर्नाटक के नवाबों ने स्वयं को दक्कन के वायसरायों से स्वतंत्र कर अपने पद को वंशानुगत बना लिया। कर्नाटक के नवाब सैफुदौल्ला खां ने बिना निजाम की स्वीकृति के अपने भतीजे अली को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। मुगल सम्राट ने भी उसे मान्यता प्रदान की। 1740 ई. में मराठों ने कर्नाटक पर आक्रमण किया। दोस्त अली परास्त हुआ व रणक्षेत्र में ही मारा गया। दोस्त अली का पुत्र सफदर अली नवाब बना व उसने मराठों को 1 करोड़ रुपये देने का आश्वासन दिया परंतु मुर्तजाअली सफदर अली का वध कर नबाब बन गया। निजाम ने 1743 ई. में कर्नाटक पर आक्रमण कर मराठों को परास्त किया एवं सफदर अली के अल्प आयु पुत्र सईद मुहम्मद को नवाब एवं अनबरुद्दीन को उसका संरक्षक बनाया। अनबरुद्दीन अल्प आयु बालक सईद मुहम्मद का वध कर स्वयं कर्नाटक का नवाब बन गया और निजाम से मान्यता प्राप्त कर ली। मराठों ने दोस्त अली के दामाद चांदा साहब को कैद से मुक्त कर दिया और अब कर्नाटक के नवाब पद हेतु अनबरुद्दीन व चांदा साहब के बीच संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में अंग्रेज व फ्रांसीसियों ने विभिन्न पक्षों का साथ दिया। इस संघर्ष की विस्तृत विवेचना हम द्वितीय कर्नाटक युद्ध 1748–54 ई. में प्रस्तुत करेंगे।
- **राजपूत**– मुगल सम्राट अकबर की राजपूत नीति अत्यंत सफल सिद्ध हुई थी। अधिकांश राजपूतों ने अकबर का समर्थन किया। कुछ राजपूत घरानों से तो अकबर ने वैवाहिक संबंध भी स्थापित किए। अकबर के विपरीत औरंगजेब की निरंकुश व संदेहशील नीति के कारण कई राजपूत औरंगजेब से अप्रसन्न हो गए। 18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य की दुर्बलता से लाभ उठाकर कई राजपूत घरानों ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली।

(क) **मारवाड़ (जोधपुर)**– औरंगजेब की असहिष्णु नीति से नाराज होकर मारवाड़ के अजीत सिंह, बीकानेर के राठौर व आमेर के कछवाहा राजपूत वंशों ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। इन परिस्थितियों में मुगल सम्राट बहादुरशाह ने 1708 ई. में जोधपुर पर आक्रमण किया। जोधपुर नरेश अजीत सिंह ने मुगल आधीनता तो स्वीकार कर ली परंतु साथ ही आमेर शासक जयसिंह द्वितीय एवं बीकानेर के दुर्गादास राठौर के साथ मिलकर एक गठजोड़ बना लिया। इन परिस्थितियों में मुगल सेनापति हुसैन अली ने 1714 ई. में मारवाड़ पर आक्रमण किया। अजीतसिंह को बाध्य होकर अपनी पुत्री का विवाह मुगल सम्राट फर्रूखशियर से करना पड़ा। सैय्यद बंधुओं ने अजीतसिंह को अजमेर व गुजरात की सूबेदारी भी सौंपी। 1724 ई. में अजीतसिंह की उसके पुत्र बख्तसिंह के हाथ दुखद मृत्यु हुई। अजीतसिंह का ज्येष्ठ पुत्र अभयसिंह 1749 ई. तक मारवाड़ पर शासन करता रहा।

(ख) **आमेर (जयपुर)**– सवाई जयसिंह (1699–1743 ई.) जयपुर का सर्वप्रतापी शासक था। जयपुर जैसे प्रमुख शहर की स्थापना का श्रेय उसे ही जाता है। उसने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, बनारस एवं मथुरा आदि शहरों में वेधशालाओं की स्थापना की। आगरा तथा मालवा के सूबेदार के रूप में उसने मुगल साम्राज्य की सेवा की। मराठों की लूटमार से बचने के लिए जयसिंह ने राजस्थान के सभी राजाओं को एकजुट करने की असफल कोशिश की। 21 सितंबर, 1743 ई. को उसकी मृत्यु हो गई।

जयसिंह की मृत्युपरांत ईश्वरीसिंह व उसके छोटे भाई माधोसिंह के बीच संघर्ष छिड़ गया। 1750 ई. में ईश्वरी सिंह ने आत्महत्या कर ली एवं माधोसिंह जयपुर का शासक बन गया।

(ग) **मेवाड़ (उदयपुर)**– मुगल–मेवाड़ संघर्ष का पुराना इतिहास रहा है। राजा संग्राम सिंह को 1527 ई. के खानवा के युद्ध में बाबर ने परास्त किया था। 1576 ई. में हल्दीघाटी के युद्ध में अकबर के हाथों राणा प्रताप को पराजय मिली थी। 1613 ई. में मेवाड़ के राजा अमर सिंह ने जहांगीर से संधि कर मुगल आधीनता स्वीकार कर ली। अमरसिंह के पुत्र करण सिंह को जहांगीर ने 5,000 का मनसबदार नियुक्त किया। 17 वीं शताब्दी में मेवाड़ शासक राजसिंह ने औरंगजेब के साथ संघर्ष किया। 1710–1733 ई. में संग्राम सिंह द्वितीय मेवाड़ का शासक बना। 1734–1751 ई. तक जगत सिंह ने शासन किया। 1736 ई. में जगत सिंह ने पेशवा बाजीराव प्रथम का स्वागत किया। उसके उत्तराधिकारी प्रतापसिंह द्वितीय से मराठों ने काफी पैसा वसूल किया। राजसिंह द्वितीय (1754–61 ई.) के काल में मराठों की लूटमार ने मेवाड़ को कंगाल बना दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुगल साम्राज्य की कमजोरी से लाभ उठाकर विभिन्न राजपूत रियासतें स्वतंत्र भले ही हो गईं लेकिन वे अपने साम्राज्यों को स्थायित्व प्रदान न कर सकीं। राजपूत रियासतों में आपसी कलह बनी रही। राजपूत रजवाड़ों की दुर्बलता का सर्वाधिक लाभ मराठों ने उठाया और इन्हें कंगाल बना दिया।

टिप्पणी

1.4.2 आर्थिक स्थिति

सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से 18वीं सदी एक अंधकारमय सदी थी। लगातार युद्ध तथा राजनीतिक व्यवस्था भंग होने से भारत की आर्थिक समृद्धि का ह्रास होने लगा था। इन परिस्थितियों का कृषि–व्यवसायों तथा व्यापार पर इतना बुरा प्रभाव पड़ा कि कुछ समय के लिये व्यापार लगभग ठप हो गया। कृषि की दृष्टि से भारत पिछड़ा रहा। संपूर्ण 18वीं सदी में उसकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। भारत का किसान न अपनी क्षमता में विकास कर सका न शोषण से मुक्त हो सका। कृषि की दृष्टि से भारत पिछड़ा रहा। भारत ने कृषि–उत्पादन के साधनों में कोई परिवर्तन नहीं किये और न उत्पादन की मात्रा में कोई सफलता प्राप्त की। केवल किसानों के शारीरिक श्रम ने स्थिति को गंभीर रूप से खराब नहीं होने दिया। उनके अत्यधिक श्रम के कारण भारत अपने नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल रहा। परंतु कृषक–वर्ग की स्वयं की स्थिति गंभीर रूप से खराब रही। सरकार निरंतर लगान की मांग में वृद्धि करती गयी तथा जमींदार, जागीरदार अथवा ठेकेदार किसानों का शोषण करते रहे। राज्य–परिवारों के शहजादों के उत्तराधिकार के युद्धों, महत्वाकांक्षी सरदारों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धाओं, नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों और लूटमार तथा भारत के उच्च एवं धनाढ्य–वर्ग की धनलोलुपता और शोषण की प्रवृत्ति ने किसानों तथा अन्य सभी निर्धन–वर्ग के व्यक्तियों को पीड़ित किया। भारतीय किसान केवल जीवन–मात्र की रक्षा हेतु ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ रह सके और वह भी इस कारण कि उनकी आवश्यकताएं बहुत ही न्यूनतम थी। किसान अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रायः अपने–अपने गांव या निकट के गांवों में शारीरिक श्रम से उत्पन्न की गयी वस्तुओं से कर लिया करते थे। उनकी न्यूनतम आवश्यकताएं उनकी एकमात्र शक्ति रही अन्यथा शासन और समाज की ओर से उनके शोषण में कोई कमी नहीं थी। इस प्रकार भारतीय कृषकों की आर्थिक स्थिति दयनीय थी। संपूर्ण अठारहवीं सदी में उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। इस प्रकार, भारत का बहुसंख्यक–वर्ग अर्थात् किसान न अपनी क्षमता में वृद्धि कर सका, न शोषण से मुक्त हो सका और न भारत के आर्थिक साधनों में वृद्धि कर सका।

भारत, इस सदी में, व्यापार और उद्योग की दृष्टि से भी प्रगति करने में असमर्थ रहा। राजनीतिक अस्थिरता, गृह–युद्ध, विदेशी आक्रमण आदि के कारण भारत में शांति और व्यवस्था स्थापित रखना किसी भी शासक के द्वारा संभव न हुआ। इन परिस्थितियों में आंतरिक और विदेशी व्यापार की हानि हुई। उसका प्रभाव उद्योगों पर भी आया। व्यापार की प्रगति के अभाव में उद्योग लाभप्रद न रहे और नष्ट होने लगे। राजनीतिक विभक्तीकरण भी इनके नष्ट होने का कारण बना। भारत में अनेक स्वतंत्र राज्य हो गये थे। उससे भारत की आर्थिक क्षमता को एक स्थान पर एकत्रित करके उद्योगों के विकास के लिए उपयोग में लाया जाना संभव न हो सका। विभिन्न स्वतंत्र राज्य अपनी सीमाओं पर व्यापारिक कर लेते थे जिससे वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि तथा व्यापारिक वस्तुओं के पारस्परिक आदान–प्रदान में असुविधा हुई। इससे व्यापार की हानि हुई। विदेशी आक्रमणकारियों ने संपन्न नगरों को लूटा। वे नगर ही व्यापार तथा उद्योगों के केंद्र–स्थल थे।

टिप्पणी

आर्थिक दुर्बलता के कारण भारतीयों की आवश्यकताओं में कमी हो गयी जिसका कुप्रभाव उद्योगों और व्यापार पर आया। इस प्रकार, विभिन्न परिस्थितियां ऐसी बनी जिन्होंने अठारहवीं सदी में व्यापार और उद्योगों को हानि पहुंचायी।

परंतु तब भी भारतीय उद्योग तथा व्यापार पूर्णतया नष्ट नहीं हुए। निस्संदेह, पिछली कुछ सदियों की तुलना में अठारहवीं सदी में भारत में उद्योगों और व्यापार की स्थिति दुर्बल रही परंतु तब भी वह इस क्षेत्र में संतुलन बनाये रख सका। यह कहना सत्य के अधिक निकट है कि अठारहवीं सदी में आर्थिक दृष्टि से दुर्बल होकर भी भारत अपनी संपन्नता को बनाये रखने में समर्थ हो सका। पिछली कुछ सदियों की तुलना में गिरावट आने के पश्चात भी भारत, इस सदी में भी, विश्व–व्यापार का एक प्रमुख केंद्र स्थल बना रह सका जिसके कारण विभिन्न यूरोपीय राज्यों ने भी भारत से प्रत्यक्ष व्यापारिक संबंध स्थापित करने के प्रयत्न किये जो सफल भी हुए। भारत उस समय भी प्रचुर मात्रा में कपास, रेशम, शक्कर, जूट, नील, चाय, अफीम, दवाइयां, कीमती पत्थर, मोती आदि विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करता था। भारत के तत्कालीन उद्योगों में सबसे अधिक प्रगतिशील उद्योग और व्यापार सूती कपड़े का था। भारत बहुत श्रेष्ठ कोटि का और विभिन्न किस्म तथा रंगों का सूती कपड़ा तैयार करता था जिसकी मांग संसार के सभी महत्वपूर्ण राज्यों में थी। इस उद्योग के प्रभाव के केंद्र–स्थल ढाका, मुर्शिदाबाद, पटना, सूरत, अहमदाबाद, बड़ौदा, बुरहानपुर, जौनपुर, बनारस, लखनऊ, आगरा, मुल्तान, लाहौर, मछलीपट्टम, विशाखापटनम, बंगलौर, कोयम्बटूर, मदुरई आदि थे। कश्मीर अपने ऊनी वस्त्रों के लिए विख्यात था। रेशमी कपड़ा भी भारत तैयार करता था। समुद्री जहाजों का निर्माण भी भारत का एक प्रमुख उद्योग था। यूरोपीय व्यापारी भी भारत में बने हुए समुद्री जहाजों को खरीदते थे। भारत का विदेशी व्यापार उस सदी में भी उसके पक्ष में था। यूरोप, अफ्रीका और एशिया के विभिन्न देशों से उसका व्यापार होता था। इस व्यापार से भारत पर्याप्त लाभ प्राप्त करता था जिससे उसकी संपन्नता–वृद्धि में सहायता मिलती थी।

परंतु आर्थिक दृष्टि से भारत में एक दुर्बलता प्रमुख रही। भारत में आर्थिक विषमताएं बहुत गंभीर थीं। विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों के आर्थिक साधनों में बहुत गंभीर अंतर था। समाज में एक वर्ग पर्याप्त संपन्न था। उस वर्ग में शासक, कुलीन, जागीरदार, उद्योगपति, व्यापारी आदि सम्मिलित थे। इस वर्ग के व्यक्ति सभी सुविधाओं का उपभोग करने की स्थिति में थे। दूसरा वर्ग निर्धनों का था जो बहुसंख्यक वर्ग था। इस वर्ग में कृषक, कृषक–मजदूर, औद्योगिक मजदूर, साधारण कारीगर आदि सम्मिलित थे। भारत की सभी वस्तुओं के उत्पादन का उत्तरदायित्व इसी वर्ग के व्यक्तियों पर था। वे इस उत्तरदायित्व की पूर्ति भी करते थे, परंतु वे उसके लाभों से वंचित थे। इस वर्ग के व्यक्ति जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति भी बहुत कठिनाई से कर पाते थे। समाज का इन दो असमान वर्गों में विभक्तिकरण अन्यायपूर्ण और हानिकारक था। यह भारतीय समाज की एकता को बनाने में भी सबसे बड़ी बाधा थी। निर्धन–वर्ग जो अपने परिश्रम से सभी कुछ बनाता हो परंतु जिसे न्यायपूर्ण ढंग से जीवन की सुविधाओं से वंचित रखा गया हो कभी भी राष्ट्र–प्रेम और राष्ट्र–सेवा की भावना का निर्माण नहीं कर सकता था। यही कारण था कि अंग्रेजों को यहां वफादार सैनिक मिल सके। उन्हीं भारतीय सैनिकों की सहायता से वे भारत में अपना साम्राज्य स्थापित कर सके। अपनी आर्थिक

टिप्पणी

विषमताओं के कारण भारत न केवल अपनी आर्थिक प्रगति करने में असमर्थ रहा बल्कि अपनी रक्षा करने में भी असफल रहा।

1.4.3 सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति

अठारहवीं सदी में सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत, निस्संदेह, गिरावट की स्थिति में था। आर्थिक विषमताओं के कारण भारत निर्धन और धनवान दो वर्गों में बंटा हुआ था। इन दो वर्गों के सांस्कृतिक जीवन में कोई समानता नहीं हो सकती थी। दोनों वर्गों के जीवन की पृथक–पृथक मान्यताएं थीं। इसके अतिरिक्त सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक अंतर, विभिन्न भाषाओं की उपस्थिति, क्षेत्रीय अंतर आदि के आधार पर भी भारतीय समाज विभिन्न वर्गों में बंटा हुआ था। अनेक ऐसे कारण भी थे जिनसे इन विभिन्न वर्गों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और विरोध था।

हिंदू भारतीय समाज का बहुसंख्यक वर्ग था। वह न केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों में ही विभाजित था बल्कि इन सभी की उप–जातियां होने के कारण अनेक वर्गों में बंटा हुआ था। जाति–व्यवस्था कठोर थी और विभिन्न जातियों में पारस्परिक विवाह–संबंध तथा खान–पान संभव न था। जाति–पंचायतें जाति के नियमों को कठोरता से लागू करती थीं और नियमों का उल्लंघन करने वाले सदस्यों को कठोर दंड देती थीं। अधिकांशतया व्यक्ति की जाति ही उसके व्यवसाय को निश्चित करती थी। धन की कमी या वृद्धि जाति की निम्नता अथवा श्रेष्ठता को निश्चित नहीं करती थी। जाति का निर्धारण एकमात्र व्यक्ति के जन्म पर निर्भर करता था। परंतु तब भी धन और शक्ति को प्राप्त करके एक व्यक्ति समाज में सम्मान प्राप्त कर सकता था। भारतीय समाज का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग मुसलमानों का था। वह भी धर्म, धन, व्यवसाय आदि के आधार पर विभाजित था। उनमें एक गम्भीर विभाजन भारतीय और विदेशी मुसलमानों के आधार पर था। विदेशी मुसलमान अपने को भारतीय मुसलमानों (वे मुसलमान जो हिंदू से मुसलमान बनाये गये थे) से श्रेष्ठ मानते थे। विदेशी मुसलमान भी राष्ट्रीयता के आधार पर बंटे हुए थे। ईरानी, तूरानी, अफगान आदि आपस में अंतर मानते थे। भारतीय मुसलमान अपनी पूर्व–जाति के आधार पर आपस में अंतर करते थे यद्यपि ये अंतर गंभीर न थे। मुसलमानों में व्यवसायों के आधार पर भी अंतर था। धार्मिक आधार पर भी वे शिया, सुन्नी, सूफी आदि वर्गों में बंटे हुए थे। अन्य विभिन्न धार्मिक और सामाजिक आधारों पर भी भारतीय समाज विभिन्न वर्गों में विभक्त था। भारतीय समाज में अनेक विभिन्न कुरीतियां भी थी। हिंदू समाज विभिन्न अमानवीय और घृणित कुरीतियों से ग्रस्त था। बाल–विवाह, दहेज–प्रथा, सती–प्रथा, देवदासी–प्रथा, बाल–हत्या, विधवा–विवाह का वर्जित होना आदि ऐसी कुप्रथाएं थीं, जिनसे मुख्यतया हिंदू नारियां पीड़ित थीं। मुसलमानों में स्त्री–संबंधी कुरीतियों में मुख्यतया बहुविवाह और पर्दा–प्रथा का प्रचलन था। इन स्त्री–संबंधी कुरीतियों के कारण भारतीय समाज का प्रायः अर्द्ध–भाग अपंग बना हुआ था।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी भारत गिरावट की स्थिति में था। अठारहवीं सदी से पहले की कुछ सदियों में साहित्य, ललित–कला आदि की दृष्टि से भारत की प्रगति का एक प्रमुख कारण भारतीय शासकों द्वारा इनको संरक्षण प्रदान करना था। महान मुगल बादशाहों, कुलीनों, जागीरदारों तथा हिंदू नरेशों ने सांस्कृतिक प्रगति में सहयोग दिया

था। उन्होंने अपने धन का प्रयोग यदि विलासिता के लिए किया तो विभिन्न ललित–कलाओं और साहित्यिक प्रगति के लिए भी किया। लेकिन अठारहवीं सदी में न महान बादशाह रहे और न महान कुलीन। जिनके पास धन था भी उन्होंने उसका उपयोग अधिकांशतया व्यक्तिगत विलासिता अथवा स्वार्थ–पूर्ति के लिए किया। इस कारण सांस्कृतिक दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों में गिरावट आयी। स्थापत्य–कला (भवन निर्माण–कला) और चित्रकला की दृष्टि से गिरावट पूर्णतया स्पष्ट थी। उसी प्रकार पर्शियन साहित्य की प्रगति भी रुक गयी। तब भी सभी कुछ नष्ट नहीं हुआ। विभिन्न क्षेत्रीय शासकों ने इन ललित–कलाओं और साहित्यिक प्रगति में रुचि ली। इसके परिणामस्वरूप कुछ क्षेत्रों में प्रगति हुई। चित्रकला में कांगड़ा और राजपूत शैली ने श्रेष्ठता प्राप्त की। नृत्यकला और गान–विद्या भी विभिन्न शासकों के संरक्षण में सुरक्षित रह सकी। साहित्यिक क्षेत्र में प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में कुछ उन्नति हुई। इस क्षेत्र में इस सदी की सबसे मुख्य विशेषता उर्दू भाषा की प्रगति और मुख्यतया उसके पद्य–साहित्य का निर्माण था। इस प्रकार, हिंदी, गुजराती, बंगाली, पंजाबी, मलयालम, तमिल आदि भाषाओं के साहित्य की भी कुछ प्रगति हुई यद्यपि इनमें से कोई भी श्रेष्ठता की स्थिति में नहीं पहुंच सका।

इस सदी की एक विशेषता भारत के उच्च–वर्ग की नैतिक गिरावट थी। धन और सम्मान के लिए प्रतिस्पर्धा, आर्थिक दुर्बलता और विषमता, सामाजिक और विभिन्न कुरीतियों की उपस्थिति तथा सांस्कृतिक रुचि की गिरावट ने भारत के उच्च–वर्ग, धनाढ्य और शासक–वर्ग के जीवन की नैतिक मान्यताओं को नष्ट कर दिया। शासकों, कुलीनों, जागीरदारों और धनाढ्य व्यक्तियों का जीवन विलासिता के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं रह गया। वफादारी, ईमानदारी, न्याय आदि सच्चरित्रता के गुण उच्च–वर्ग ने नष्ट कर दिये। उसके सदस्यों का एकमात्र लक्ष्य केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति रह गया। निस्संदेह, इससे भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में गिरावट आयी। परंतु तब भी एक तथ्य आश्चर्यजनक रहा। भारतीय निर्धन–वर्ग इन बुराइयों से अपने आप को बचा सका। जनसाधारण अधिकांशतया अपने परंपरागत नैतिक जीवन को निभाता रहा। यह कोई बहुत लाभदायक स्थिति तो न थी क्योंकि बिना नैतिक मान्यताओं को बदले हुए सामाजिक प्रगति संभव न थी परंतु तब भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि जनसाधारण ने भारत की नैतिक गिरावट में सहयोग नहीं दिया।

भारत की एक प्रमुख दुर्बलता विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में उन्नति न कर पाने की रही। भारतीय इन क्षेत्रों में प्रगति करने के प्रति पिछली कई सदियों से उदासीन रहे थे। इस सदी में भी उन्होंने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। जबकि यूरोपीय देश इन क्षेत्रों में तीव्रता से प्रगति करने का प्रयत्न कर रहे थे, भारतीयों ने इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया। यही नहीं, उन्होंने यह भी जानने का प्रयत्न नहीं किया कि पश्चिमी राष्ट्रों में इन क्षेत्रों में क्या प्रयत्न किये जा रहे हैं। विज्ञान और तकनीकी प्रगति के प्रति उदासीनता भारतीयों के लिए उनकी सबसे बड़ी भूल सिद्ध हुई। भारतीय न केवल अपने आर्थिक और सैनिक साधनों की वृद्धि करने में असमर्थ रहे बल्कि इसी अभाव के कारण उनकी बुद्धि का विकास आधुनिकता की ओर न हो सका। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में भारतीय परंपरावादी बने रहे। इस कारण वे अपने शासन, आर्थिक ढांचा, सामाजिक व्यवस्था आदि जीवन के किसी भी क्षेत्र में न किसी नवीनता को जन्म दे सके और न उसमें परिवर्तन कर सके। ऐसी स्थिति में वे जीवन के किसी भी क्षेत्र में उन्नति

न कर सके और पश्चिमी देशों की तुलना में बहुत पिछड़ गये। इसका अंतिम परिणाम भारत का गुलाम होना हुआ।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

7. औरंगजेब की मृत्यु कब हुई थी?

(क) 1707 ई. (ख) 1709 ई.

(ग) 1711 ई. (घ) 1713 ई.

8. शिवाजी की मृत्यु कब हुई थी?

(क) 1650 ई. (ख) 1660 ई.

(ग) 1670 ई. (घ) 1680 ई.

9. वृहद् महाराष्ट्र की नींव किसने रखी थी?

(क) शिवाजी (ख) पेशवा बाजीराव प्रथम

(ग) पेशवा बालाजी विश्वनाथ (घ) बालाजी बाजीराव

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (घ)
4. (क)
5. (ग)
6. (ख)
7. (क)
8. (घ)
9. (ख)

1.6 सारांश

आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोतों का स्वरूप प्राचीन एवं मध्य युगीन भारतीय इतिहास के स्रोतों से भिन्न है। प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में हम पुरातात्विक स्रोतों पर अधिक निर्भर हैं। मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के निर्माण में हम तत्युगीन दरबारी इतिहासकारों की कृतियों पर निर्भर हैं। विदेशी यात्रियों के विवरण भी प्राचीन एवं मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण में स्रोतों का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। पुरातात्विक स्रोतों एवं दरबारी इतिहासकारों के स्थान पर आधुनिक काल के इतिहास के निर्माण में

अभिलेखागारीय स्रोतों का महत्व बढ़ जाता है। अभिलेखागारीय दस्तावेज आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण के प्रमुख स्रोत हैं। राज्यस्तरीय एवं राष्ट्रीय अभिलेखागारों में विभिन्न दस्तावेजों की कई फाइलें मिलती हैं। इन दस्तावेजों में ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों के पत्र, निजी–पत्र, तत्युगीन समाचार–पत्र, तत्युगीन सरकारी फाइलें आदि मौजूद हैं। इनमें हमें ब्रिटिश कालीन भारत की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति की जानकारी प्राप्त होती है।

निजी पत्र भी आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण का प्रमुख स्रोत हैं। उदाहरण के लिए गांधीजी द्वारा अन्य लोगों को एवं अन्य लोगों द्वारा गांधी जी को लिखे गए पत्र निजी पत्रों की श्रेणी में आते हैं। ऐसे ही विभिन्न राजनीतिज्ञों के निजी पत्रों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनसे भी हमें आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण में मदद मिलती है। आधुनिक काल में समाचार–पत्रों का प्रकाशन आरंभ हो चुका था। इन समाचार–पत्रों से भी हमें आधुनिक भारतीय इतिहास के लेखन में मदद मिलती है।

इतिहास अतीत की घटनाओं का अध्ययन है। प्रारंभ में इतिहास का स्वरूप एवं प्रकृति भिन्न थी किंतु समय के साथ–साथ इसमें तेजी से परिवर्तन हुआ है। इन परिवर्तनों के कारण भारतीय इतिहास लेखन की प्रवृत्ति में भी परिवर्तन आया तथा इसमें कई आधुनिक धाराओं का समावेश हुआ। ये धारायें या प्रवृत्तियां भारतीय इतिहास लेखन को प्रभावित करने में सफल रही हैं।

इतिहास लेखन में अब इतिहास को समकालीन इतिहास मानने पर ज्यादा जोर दिया जा रहा है अर्थात् इतिहास की अतीत की घटनाओं को वर्तमान से जोड़ा जा रहा है तथा वर्तमान की घटनाओं का मूल्यांकन अतीत की पृष्ठभूमि में किया जा रहा है। परंपरागत इतिहास लेखन में जहां पुरुष प्रधान विषय–वस्तु की प्रधानता थी, वहीं वर्तमान इतिहास लेखन की धाराओं में एक नया समावेश यह हुआ है कि नारीवादी इतिहास लेखन को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। एक अन्य नयी धारा है–इतिहास लेखन में केवल राजनीतिक इतिहास लिखने के स्थान पर आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास लेखन पर जोर। अब इन क्षेत्रों के उपेक्षित पहलुओं को भी इतिहास लेखन में स्थान दिया जाने लगा है। परंपरागत इतिहास लेखन में सदैव समाज के उच्च वर्ग के संबंध में ही लिखा जाता था किंतु अब उच्च वर्ग के अतिरिक्त उपाश्रित या दलितों के इतिहास लेखन पर भी कार्य होने लगा है। इसे 'सबाल्र्टन इतिहास' के नाम से जाना जाता है।

आज के इतिहास लेखन में 'सम्पूर्ण इतिहास' पर काफी बल दिया जाने लगा है। निःसंदेह आधुनिक इतिहास लेखन में वास्तव में पिछले दशकों में काफी विविधता आयी है तथा अब केवल अर्थव्यवस्था एवं राजनीति ही नहीं बल्कि सामाजिक ढांचे एवं संस्कृति तथा मानसिकताओं का इतिहास भी लिखा जाने लगा है। इतिहास लेखन में आधुनिक युग की विभिन्न प्रवृत्तियों के अतिरिक्त इतिहासकारों की विभिन्न विचारधाराएं एवं दृष्टिकोण भी हैं, जिन्होंने आधुनिक इतिहास लेखन को प्रभावित किया है तथा इस क्षेत्र में नई प्रवृत्तियों के समावेश का मार्ग प्रशस्त किया है।

आधुनिक भारत के इतिहास में 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की राजनीतिक प्रवृत्तियों की अहम् भूमिका थी। यह वह समय था जब भारत में कई राजनीतिक शक्तियां अपने

टिप्पणी

अस्तित्व के लिए संघर्षरत थीं। मुगल साम्राज्य का पतन हो चुका था एवं पेशवाओं के अधीन मराठा शक्ति मुगल साम्राज्य का स्थान लेने हेतु प्रयासरत थी। मुगल साम्राज्य की कमजोरी से लाभ उठाकर विभिन्न क्षेत्रीय शक्तियां–अवध, बंगाल, हैदराबाद, मैसूर केरल एवं राजपूत आदि भी स्वतंत्र होकर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए प्रयासरत थीं। मुगल ईरानी, तूरानी एवं हिंदुस्तानी दलों में बंट चुके थे। इसका लाभ उठाकर नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण कर मुगल साम्राज्य की रीढ़ की हड्डी तोड़ दी। मुगलों का स्थान लेने में प्रयासरत मराठा शक्ति को पानीपत के तृतीय युद्ध 1761 ई. में अहमद शाह अब्दाली ने करारी शिकस्त दी। अतः 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत का इतिहास एक ऐसे मोड़ पर था कि यह निश्चित करना कठिन हो रहा था कि आखिर भारत पर कौन–सी शक्ति शासन करेगी। भारत की इस अंदरूनी संघर्ष पूर्ण स्थिति का सर्वाधिक लाभ ब्रिटिश शक्ति ने उठाया। प्लासी एवं बक्सर के युद्ध के पश्चात ब्रिटिश सत्ता ने भारत में अपनी जड़ें मजबूत कीं और उसने मराठा व मैसूर शक्ति के साथ संघर्ष किया।

भारत की एक प्रमुख दुर्बलता विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में उन्नति न कर पाने की रही। भारतीय इन क्षेत्रों में प्रगति करने के प्रति पिछली कई सदियों से उदासीन रहे थे। इस सदी में भी उन्होंने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। जबकि यूरोपीय देश इन क्षेत्रों में तीव्रता से प्रगति करने का प्रयत्न कर रहे थे, भारतीयों ने इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया। यही नहीं, उन्होंने यह भी जानने का प्रयत्न नहीं किया कि पश्चिमी राष्ट्रों में इन क्षेत्रों में क्या प्रयत्न किये जा रहे हैं। विज्ञान और तकनीकी प्रगति के प्रति उदासीनता भारतीयों के लिए उनकी सबसे बड़ी भूल सिद्ध हुई। भारतीय न केवल अपने आर्थिक और सैनिक साधनों की वृद्धि करने में असमर्थ रहे बल्कि इसी अभाव के कारण उनकी बुद्धि का विकास आधुनिकता की ओर न हो सका। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में भारतीय परंपरावादी बने रहे। इस कारण वे अपने शासन, आर्थिक ढांचा, सामाजिक व्यवस्था आदि जीवन के किसी भी क्षेत्र में न किसी नवीनता को जन्म दे सके और न उसमें परिवर्तन कर सके। ऐसी स्थिति में वे जीवन के किसी भी क्षेत्र में उन्नति न कर सके और पश्चिमी देशों की तुलना में बहुत पिछड़ गये। इसका अंतिम परिणाम भारत का गुलाम होना हुआ।

1.7 मुख्य शब्दावली

- **स्रोत** : सूचना देने वाला माध्यम
- **अभिलेखागार** : सार्वजनिक कार्यालय
- **दस्तावेज** : वह पत्र लिखा गया हो जो कई लोगों के बीच में होने वाले व्यवहार के संबंध में
- **वेदना** : पीड़ा
- **कृति** : रचना
- **समृद्धि** : अत्यधिक संपन्नता
- **उपाश्रित** : जो किसी दूसरे पर आश्रित हो

- **उपागम** : समीप आना
- **परिष्कृत** : शुद्ध किया हुआ, संवारा गया

टिप्पणी

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भारत के इतिहास के स्रोतों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
2. 1857 की क्रांति के प्रमुख नेता कौन–कौन थे, ऐतिहासिक रूपरेखा संक्षेप में दीजिए।
3. इतिहास लेखन की अलगाववादी विचारधारा के विषय में संक्षेप में बताइए।
4. मराठा शक्ति का उत्थान किस प्रकार हुआ? संक्षेप में विवेचना कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. टिप्पणी लिखिए–
   (क) अभिलेखागारीय स्रोत
   (ख) समाचार पत्र एवं पत्रिकाएं
2. इतिहास लेखन के विषय में विभिन्न उपागमों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालिए।
3. इतिहास लेखन की निम्न विचारधाराओं पर टिप्पणी लिखिए–
   (क) साम्राज्यवादी
   (ख) मार्क्सवादी
   (ग) उदारवादी।
4. भारत की उत्तर पूर्व–औपनिवेशिक व्यवस्था का विस्तार से विवेचन कीजिए।

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. Arthur Marwic, The Nature of History, 1973.
2. Bajpayee, S. R., Methods of social survey and research, kitabghar, Kanpur, 1984.
3. Bhargav, K. D., An Introduction to Archives, Director of Archive, Government of India, New Delhi, 1958.
4. Basu, Purnendu, Archives and Records : Why are they ? National Archives of India, New Delhi, 1960.
5. कुमार रवींद्र, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1997.
6. पामदत्त रजनी, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी दिल्ली, 2011.

7. माथुर एल. पी., आधुनिक भारत का इतिहास, जैन पुस्तक मंदिर जयपुर, 1992.
8. महाजन विद्याधर, आधुनिक भारत का इतिहास, एस. चंद्र एंड कंपनी, नई दिल्ली, 1993.
9. श्रीवास्तव, बी. के., इतिहास लेखन : अवधारणा विधाएं एवं साधन, एस. बी. पी. डी. पब्लिशिंग हाऊस, आगरा, 2008.
10. श्रीवास्तव, बी. के., भारतीय इतिहास की विषयवस्तु, एस. बी. पी. डी. पब्लिकेशन, आगरा, 2010.

इकाई 2 ब्रिटिश सत्ता का विस्तार : सत्ता विस्तार के साधन एवं भारत का औपनिवेशिक निर्माण

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 ब्रिटिश सत्ता का विस्तार : विचारधारा, नीतियां और कार्यक्रम
2.3 सत्ता विस्तार के साधन : युद्ध एवं कूटनीति
2.4 भारत और औपनिवेशिक निर्माण
  2.4.1 प्रशासनिक संरचना
  2.4.2 पुलिस, सेना, कानून और नागरिक सेवा
  2.4.3 राज और नस्लीय दृष्टिकोण की विचारधारा
2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.6 सारांश
2.7 मुख्य शब्दावली
2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

अंग्रेजों द्वारा भारत में अपनी सत्ता का विस्तार मुख्य रूप से 1757 से 1758 के बीच किया गया। इसके लिए उन्होंने दो प्रकार के तरीके अपनाए। पहला, युद्ध के द्वारा अन्य राज्य पर विजय प्राप्त करना और दूसरे कूटनीतिक तरीके से। कंपनी ने बंगाल, मैसूर, मराठा और सिख जैसी शक्तियों को पराजित करके ब्रिटिश सत्ता के अधीन किया।

कूटनीतिक गतिविधियों में अंग्रेजों ने मुख्य रूप से तीन नीतियों को अपनाया– 1. रिंग फेंस पॉलिसी 2. सहायक संधि 3. व्यपगत का सिद्धांत या विलय की नीति।

रिंग फेंस पॉलिसी का जन्मदाता वारेन हेस्टिंग्स था। बंगाल विजय के पश्चात भी अंग्रेज इतने शक्तिशाली नहीं थे कि वे मुगल, मराठा या सिख सेना का सामना कर सकें इसलिए उन्होंने घेर की नीति को अपनाया।

लॉर्ड वेलेजली द्वारा अपनाई गई सहायक संधि की नीति रिंग फेंस नीति का ही परिष्कृत रूप थी। इस संधि के अनुसार कंपनी राज्य को सुरक्षा का वचन देकर साथ ही एक अंग्रेज अधिकारी 'रेजिडेंट' उस राज्य में नियुक्त कर देती थी। इस प्रकार इन राज्यों की स्वतंत्रता समाप्त कर दी जाती थी और ये राज्य अंग्रेजी दया पर निर्भर हो जाते थे। विलय की नीति का प्रयोग लॉर्ड डलहौजी ने किया। इस नीति के अनुसार यदि किसी शासक की मृत्यु हो जाती है और उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं है, तो ब्रिटिश कंपनी उस राज्य का अधिग्रहण कर लेगी। इस नीति के द्वारा अनेक राज्यों की रियासतों को कंपनी द्वारा हड़प लिया गया।

प्रस्तुत इकाई में ब्रिटिश सत्ता के विस्तार और भारत के औपनिवेशिक निर्माण का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- ब्रिटिश सत्ता के विस्तार को समझ पाएंगे;
- ब्रिटिश सत्ता की नीतियों के विषय में जान पाएंगे;
- सत्ता के विस्तार के साधनों से अवगत हो पाएंगे;
- भारत के औपनिवेशिक निर्माण की प्रक्रिया को जान पाएंगे।

2.2 ब्रिटिश सत्ता का विस्तार : विचारधारा, नीतियां और कार्यक्रम

ब्रिटिश सत्ता के विस्तार को निम्न प्रकार से समझाया गया है–

18वीं सदी में भारत की राजनीतिक स्थिति

18वीं सदी में उत्तरवर्ती मुगल शासकों के दुर्बल होने के कारण मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी तथा भारत में कई स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ। ठीक इसी समय भारत में यूरोपीय शक्तियां भी धीरे–धीरे अपने पांव पसार रही थीं, जिनमें सबसे प्रमुख अंग्रेज थे। अंग्रेजों ने बंगाल से अपने प्रसार की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी थी। इसके बाद उन्होंने अन्य यूरोपीय शक्तियों को भारत से भगाना प्रारंभ कर दिया। इस समय भारत में कई नये राज्यों का उदय हुआ, जो इस प्रकार हैं–

अवध

इस स्वतंत्र राज्य की स्थापना तूरानी दल के नेता सआदत खां अथवा बुरहान–उल–मुल्क ने की, जिसने सैयद बंधुओं के पतन में एक विशेष भूमिका निभायी थी। मुहम्मद शाह इससे संतुष्ट नहीं था तथा इसे दरबार से दूर रखने के लिये अवध का सूबेदार (1722 ई.) बना दिया गया लेकिन सआदत खां ने अवध में स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली।

दक्कन के निजाम

मोहम्मद शाह के समय तूरानी दल के नेता चिनकिलिच खां (निजाम–उल–मुल्क) ने हैदराबाद में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। 1722 ई. में उसे वजीर नियुक्त किया गया। वह इस समय दक्षिण का सूबेदार था। निजाम–उल–मुल्क वृद्ध था तथा दरबार की अनुशासनहीनता को वह सहन न कर सका। अतः वह चुपके से दक्षिण की ओर चला गया जहां उसने दक्षिण के सूबेदार मुबरेज खां को युद्ध में मार डाला तथा 1725 ई. में दक्षिण के मुगल सूबों पर अधिकार कर लिया। उसने हैदराबाद को अपनी राजधानी बनाया।

बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के स्वतंत्र राज्य

बंगाल के स्वतंत्र राज्य की स्थापना मुर्शिद कुली खां ने की थी। उपयुक्त तीनों सूबों का सूबेदार शुजाउद्दौला असद खां था। 1739 ई. में उसकी मृत्यु हो जाने पर ये तीनों

सूबे उसके पुत्र सरफराज खां को मिले। सरफराज खां निर्बल था अतः अली वर्दी खां ने उसे हरा दिया तथा बंगाल के स्वतंत्र राज्य का गवर्नर बन बैठा। इसके बाद बिहार तथा उड़ीसा भी उसके अधीन हो गये। अतः 1740 ई. तक ये तीनों सूबे व्यावहारिक रूप से स्वतंत्र हो गये।

जाट

दिल्ली, मथुरा तथा आगरा के समीपवर्ती क्षेत्रों में कृषि कार्य में संलग्न जाट लोगों ने औरंगजेब की नीति के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। यद्यपि विद्रोह तो दब गया लेकिन वहां अशांति बनी रही। चूड़ामन ने थीम के स्थान पर सुदृढ़ दुर्ग बना लिया तथा मुगलों की सत्ता को चुनौती दी। 1721 ई. में आगरा के सूबेदार जयसिंह ने भी मुगल सेना के विरुद्ध अभियान शुरू किया। चूड़ामन के पश्चात् उसके भतीजे बदन सिंह ने जाटों का नेतृत्व संभाला। इसने 'महेंद्र' की उपाधि धारण की तथा आधुनिक भरतपुर की नींव रखी। 1756 ई. में इस राज्य का उत्तराधिकारी सूरजमल बना। इसने अपनी शक्ति एवं चतुराई से जाटों की शक्ति को चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया। इसे जाटों का 'अफलातून' या 'प्लैटो' कहते थे। 1763 ई. में इसकी मृत्यु के बाद जाट राज्य का पतन हो गया।

राजपूत

राजपूतों ने, जो अंग्रेजों की नीति से अप्रसन्न थे, 18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाकर अपनी प्राचीन स्वतंत्रता पुनः स्थापित कर ली तथा चारों दिशाओं में अपने राज्यों का विस्तार कर लिया।

सिख

सिखों के अंतिम गुरु, गुरु गोविन्द सिंह ने धर्म तथा स्वतंत्रता की रक्षा के लिये सिखों को योद्धाओं में परिणत कर दिया। पहले सिखों का नेतृत्व बंदा बहादुर ने किया फिर 1716 ई. में उसकी हत्या के बाद नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों से मुगलों की केंद्रीय सत्ता कमजोर हो गयी तथा 1760 ई. के पश्चात् सिखों ने पंजाब में अपना प्रभुत्व जमा लिया।

मराठे

मुगलों को उत्तर तथा दक्षिण में सबसे कड़ी चुनौती मराठों से मिली। पेशवाओं के योग्य नेतृत्व में मराठों ने मुगलों को मालवा तथा गुजरात से उखाड़ फेंका और 1730 ई. के पश्चात् राजस्थान में भी अपना प्रभुत्व बना लिया। उन्होंने मुगलों के विघटन से उत्पन्न हुये खालीपन को भरने का प्रयास किया। 1750 ई. तक मराठों की शक्ति चरमोत्कर्ष पर पहुंच गयी। 1761 ई. के पानीपत के तृतीय युद्ध के बाद ही उन पर अंकुश लगाया जा सका।

कंपनी की विजय से पूर्व का बंगाल

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में आरंभ में व्यापारिक गतिविधियों को अपनाया। उन्होंने बंगाल के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित किया तथा वहां के उत्पादों के लिए विदेशों में नए–नए बाजारों की तलाश की। कंपनी ने 1757 ई. में नवाब को पराजित किया, 1764 ई. में बक्सर के युद्ध में विजय प्राप्त की और अंततः द्वैध शासन को समाप्त कर शासन का संपूर्ण भार अपने हाथों में ले लिया। तब बंगाल में वर्तमान पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा के भारतीय प्रांत के साथ–साथ बांग्लादेश भी सम्मिलित था।

18वीं शताब्दी में बंगाल अंग्रेजों की व्यापारिक गतिविधियों का केंद्र बना रहा। यहां से यूरोपीय देशों को शोरा, नील, चावल, काली मिर्च, सूती वस्त्र, रेशम, चीनी आदि का निर्यात व्यापक पैमाने पर किया जाता था। उस समय अंग्रेजों के लिए व्यापारिक दृष्टि से बंगाल कितना अधिक महत्वपूर्ण था इसका प्रमाण हमें इस तथ्य से मिल जाता है कि उस समय ब्रिटेन को एशिया से प्राप्त होने वाले संपूर्ण आयात का 60 प्रतिशत बंगाल से ही पूरा होता था।

जहां तक बंगाल के नवाबों का प्रश्न है, तो 1757 ई. में सिराजुद्दौला के पराजित होने और अंग्रेजों के प्रभुत्व की स्थापना के पूर्व स्वतंत्र बंगाल राज्य की स्थापना 1700 ई. में बंगाल के दीवान बनाए गए मुर्शीद कुली खां ने की। उसके बाद उसका दामाद शुजाउद्दीन थोड़े समय के लिए शासक बना। शुजा के बाद थोड़े समय के लिए मुर्शीद का बेटा शासक बना, परंतु उसे अपदस्थ कर अली वर्दी खां ने बंगाल की सत्ता प्राप्त कर ली और 1756 ई. तक शासन किया। मुर्शीद कुली खां, शुजाउद्दीन और अलाउद्दीन ने अपनी प्रतिभा के आधार पर बंगाल को सुदृढ़ता प्रदान की परंतु उनके बाद के शासक अयोग्य सिद्ध हुए और धीरे–धीरे बंगाल अंग्रेजों के अधिकार में चला गया।

मुर्शिद कुली खां के शासनकाल से लेकर अली वर्दी खां के शासनकाल तक बंगाल में आंतरिक व्यापार के साथ–साथ विदेशी व्यापार में भी तीव्रता आई। अली वर्दी खां की 1756 ई. में मृत्यु होने के पूर्व और 1706 ई. के मध्य बंगाल ने विदेशों में अपनी वस्तुओं के निर्यात से 6.5 करोड़ रुपये की चांदी अर्जित की और इसके अतिरिक्त 2.3 करोड़ रुपये मूल्य के अन्य सौदे भी किए। इस काल में बंगाल में लघु उद्योग और कृषि विकसित अवस्था में थी तथा लगभग संपूर्ण जनता आर्थिक दृष्टि से संपन्न थी।

बंगाल में धीरे–धीरे अनेक नगरों का विकास हो रहा था, जिनमें कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद प्रमुख थे। मुर्शिदाबाद बंगाल की राजधानी थी, परंतु कलकत्ता ने तीव्र गति से विकास किया और 1773 ई. में तो यह बंगाल की राजधानी ही बन गया। कलकत्ता की जनसंख्या में भी तीव्र गति से वृद्धि हो रही थी। 1706 ई. में इसकी जनसंख्या मात्रा 15 हजार थी, जो 1750 ई. में बढ़कर लगभग 1 लाख हो गई। जनसंख्या की वृद्धि जिस गति से हो रही थी, उस अनुपात में संसाधनों का विकास नहीं हो रहा था। बंगाल को जब तक योग्य नेतृत्व मिला तब तक तो सभी समस्याओं का समाधान ढूंढा जाता रहा, परंतु शासकों की अयोग्यता की स्थिति में उसकी खुशहाली को कायम रखना लगभग असंभव ही हो गया।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का विकास

1609 ई. में जब ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का निर्माण हुआ तो उसे आरंभिक वर्षों में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जेम्स तथा मिडल्टन के नेतृत्व में अंग्रेजों ने पहली दो यात्राएं पूर्वी द्वीपों की ओर की लेकिन वहां पहले से डचों का वर्चस्व होने के कारण उन्हें विशेष सफलता नहीं मिल पाई। अतः अंग्रेज व्यापारियों ने भारत की ओर रुख किया। विलियम हॉकिन्स के नेतृत्व में तीसरे व्यापारिक जत्थे ने सूरत में अपना डेरा डाला।

अंग्रेज कंपनी के लिए व्यापारिक सुविधाएं जुटाने हेतु हॉकिन्स को मुगल सम्राट जहांगीर के पास राजदूत बनाकर भेजा गया। सम्राट जहांगीर ने उसे 'इंगलिश खां'

की उपाधि दी तथा अर्मीनिया की एक स्त्री के साथ उसका विवाह करा दिया। बादशाह को हॉकिन्स की ओर उन्मुख होते देख पुर्तगालियों को काफी अप्रसन्नता हुई तथा उन्होंने दरबार के अमीरों की सहायता से अंग्रेजों को निकाल बाहर करने की बात ठान ली। वे इस प्रयास में सफल भी हुए। सम्राट जहांगीर ने अंग्रेजों को किसी प्रकार की व्यापारिक सहायता देने से इंकार कर दिया। निराश होकर हॉकिन्स 1612 ई. में इंग्लैंड वापस चला गया। इस बीच कुछ और अंग्रेज व्यापारी भारत आ चुके थे। पुर्तगालियों ने उनका भी दृढ़तापूर्वक विरोध किया। 1612 ई. में टॉमस रो वेस्ट कंपनी का जहाज लेकर स्वेली होल में उतरा। पुर्तगालियों ने उस जहाज पर आक्रमण कर दिया, लेकिन वे पराजित हो गए। स्वेली होल का यह युद्ध, वास्तव में प्लासी के युद्ध के समान ही भाग्य निर्णायक था। उसी युद्ध के उपरांत अंग्रेजों को भारत में कदम रखने की जगह मिली। मुगल सम्राट जहांगीर ने अंग्रेजों को सूरत में स्थायी रूप से एक कारखाना स्थापित करने की आज्ञा दे दी।

सर टॉमस रो को इंग्लैंड के शासक जेम्स प्रथम ने 1613 ई. में सम्राट जहांगीर के दरबार में भेजा था। आकर्षक व्यक्तित्व के कारण वह मुगल दरबार में शीघ्र ही स्थान बनाने में सफल हो गया। उसने नूरजहां के भाई आसफ खां से मित्रता कर ली तथा इसी मित्रता की आड़ में उसने शहजादे खुर्रम से एक आदेश जारी कराया। अंग्रेजों के लिए सूरत, आगरा, अहमदाबाद तथा भड़ौच में कारखाने बनाने की अनुमति प्राप्त कर ली। इस प्रकार टॉमस रो का मुगल दरबार में आना अंग्रेजों के लिए कंपनी के विकास में एक महत्वपूर्ण घटना रही।

1619 ई. से 1650 ई. तक कंपनी का विकास

17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अंग्रेजों ने भारत में अपनी स्थिति में निर्णायक सुधार कर लिए थे। अंग्रेजों ने डचों की ही भांति मसूलीपट्टनम में अपना कारखाना खोल दिया। 1622 ई. में अंग्रेजों ने सामुद्रिक युद्ध में भी पुर्तगालियों को पराजित किया और इस प्रकार फारस की खाड़ी में भी अपने पैर जमा लिए। 1626 ई. में मसूलीपट्टनम से कुछ दूरी पर स्थित अमरगांव नामक स्थान पर अंग्रेजों ने कारखाने स्थापित किए। 1633 ई. में अंग्रेजों ने उड़ीसा में भी कारखाना स्थापित कर लिया। उड़ीसा में ये कारखाने हरिहरपुर तथा बालासोर नामक स्थान पर खोले गए। 1634 ई. में उड़ीसा में अंग्रेज सभी प्रकार के करों से मुक्त हो गए इसलिए डचों की तुलना में उनकी स्थिति अधिक सुदृढ़ हो गई। जब अंग्रेजों को यह आवश्यक लगा कि सुदूर पूर्व में व्यापारिक स्थिति मजबूत करने के लिए दक्षिणी प्रदेशों से सस्ते कपड़े आदि प्राप्त किए जा सकते हैं तो 1639 ई. में मसूलीपट्टनम के समीप उन्होंने एक किलेबंद कारखाने की स्थापना की अनुमति स्थानीय शासक से ले ली। यह किलेबंद कारखाना कालांतर में विकसित होकर सेंट जॉर्ज दुर्ग बना। इसी केंद्र को 1652 ई. में पूर्वी प्रेसिडेंसी की राजधानी बनाया गया। 1650–51 ई. में बंगाल में हुगली में एक बस्ती बनाई गई तथा देश के आंतरिक भागों में कारखाने खोले गए।

1650 ई. से 1740 ई. तक कंपनी का विकास

इंग्लैंड के गृहयुद्ध ने यद्यपि भारत में कंपनी के विकास को काफी प्रभावित किया तथापि क्रामवैल एवं चार्ल्स द्वितीय के शासनकाल में (विशेषकर 1649–58 ई. तक) उन्हें पर्याप्त

राजकीय सहयोग भी प्राप्त हुआ। क्रामवैल ने 1657 ई. में जहाजरानी अधिनियम (नेवीगेशन एक्ट) द्वारा डचों के साथ लड़ाई लड़कर पुर्तगाल से संधि कर ली। 1657 ई. में अधिकार–पत्र द्वारा कंपनी की स्थिति को काफी सुदृढ़ बना दिया गया। नेवीगेशन एक्ट द्वारा क्रामवैल ने यह नियम बनाया कि इंग्लैंड में बाहर से माल या तो अंग्रेजी जहाजों में आ सकता है या उन देशों के जहाजों में जहां उस माल का उत्पादन हुआ हो। इस एक्ट से अंग्रेजों को समुद्री व्यापार में काफी सहायता मिली। 1657 ई. में क्रामवैल की मृत्यु के बाद चार्ल्स द्वितीय ने ईस्ट इंडिया कंपनी को संरक्षण देना जारी रखा। 1661 से 1685 ई. के बीच उसने कंपनी को पांच अधिकार–पत्र प्रदान किए, जिससे कंपनी एक राज्य शक्ति बन गई। चार्ल्स द्वितीय ने कैथरीन ऑफ ब्रगैन्जा के साथ विवाह कर लिया, जिससे बंबई उसे दहेज के रूप में प्राप्त हो गई। उसने बंबई को मात्र 10 पौंड वार्षिक किराए पर कंपनी को दे दिया। शीघ्र ही बंबई एक विशाल व्यापारिक केंद्र बन गया। 1687 ई. में राजधानी को सूरत से बंबई लाया गया।

17वीं शताब्दी के अंत तक इस व्यापारिक संस्था ने राज्य शक्ति के रूप में विस्तार की नीति अपनानी शुरू कर दी। इसका कारण यह था कि अंग्रेज इस बात से आश्वस्त हो गए थे कि केवल मुगलों द्वारा प्रदत्त सुरक्षा पर वे निर्भर नहीं रह सकते। कंपनी की इस नीति में परिवर्तन का एक कारण जोशुआ चाइल्ड की 1681 ई. की नीति भी थी, जब वह कंपनी का गवर्नर बना था। अंग्रेजों ने साम्राज्यवादी नीति के तहत किलेबंदी तथा दुर्ग निर्माण का कार्य आरंभ कर दिया। इस नीति के कारण उन्हें आरंभ में मुगलों का कड़ा मुकाबला करना पड़ा। 1686 ई. में अंग्रेजों ने हुगली को लूट लिया और बालासोर पर भी आक्रमण कर दिया। इसके प्रत्युत्तर में मुगलों द्वारा की गई कार्यवाही से अंग्रेजों के अनेक कारखाने तथा संपत्ति मुगलों के अधिकार में आ गए।

1690 ई. में अंग्रेजों ने मुगल सम्राट से संधि के लिए याचना की। अंग्रेजों ने क्षतिपूर्ति के लिए 1.5 लाख रुपये दिए और चाइल्ड को पदमुक्त कर दिया। अतः अंग्रेजों को पुनः उनके कारखाने लौटा दिए गए। 1698 ई. में अंग्रेजों ने केवल 1200 रुपये में सूतानाटी, कालिकता तथा गोविंदपुर की जमींदारी खरीदने की अनुमति प्राप्त कर ली। ईस्ट इंडिया कंपनी की एक विरोधी कंपनी का प्रादुर्भाव तब हुआ, जब 1668 ई. की शानदार क्रांति के बाद इंग्लैंड की सत्ता पर ह्विग दल का अधिकार हो गया। इसके फलस्वरूप 'न्यू कंपनी' को पूर्व के देशों में व्यापार का अधिकार–पत्र दिया गया, परंतु पुरानी कंपनी आसानी से अपने पूर्वाधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुई। 1708–09 ई. में इंग्लैंड की संसद के एक्ट द्वारा दोनों कंपनियों का विलय कर दिया गया। इस सम्मिलित कंपनी का नाम 'यूनाइटेड ईस्ट इंडिया कंपनी' रखा गया। दोनों कंपनियों के विलय के बाद अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी का द्रुत गति से विकास हुआ।

1711 में इंग्लैंड की संसद ने कंपनी के व्यापार की अवधि को 1763 ई. तक तथा बाद में 1799 ई. तक बढ़ा दिया। 1714 ई. में बंबई, बंगाल तथा मद्रास प्रेसिडेंसियों ने मिलकर सर जॉन सरमैन की अध्यक्षता में मुगल साम्राज्य फर्रूखशियर के दरबार में एक प्रतिनिधिमंडल भेजा। इस प्रतिनिधिमंडल में एक डॉक्टर भी था जिसने मुगल सम्राट को एक असाध्य रोग से निजात दिलाई थी। इससे प्रसन्न होकर सम्राट ने अंग्रेजों के पक्ष में तीन फरमान जारी कर दिए। ये फरमान हैदराबाद, गुजरात तथा बंगाल के प्रांताध्यक्षों के नाम जारी किए गए थे। इन फरमानों के अनुसार कंपनी को मात्र 3000

रुपये वार्षिक कर पर बंगाल में व्यापार करने की अनुमति मिल गई। इसके अतिरिक्त कंपनी को कलकत्ता के पास भूमि किराए पर लेने का अधिकार मिल गया, हैदराबाद में कंपनी को करों से छूट मिल गई और सूरत के बंदरगाह को मात्र दस हजार रुपये वार्षिक कर के बदले चुंगी कर से मुक्त कर दिया गया।

इन फरमानों से प्राप्त अधिकारों को कंपनी ने बड़ी कुशलता से उपयोग किया। सरमैन के प्रतिनिधिमंडल की यह उपलब्धि भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के एक नए युग को शुरू करने में सहायक हुई।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा इन राज्यों को विजित कर उन्हें अंग्रेजी साम्राज्य में शामिल कर लिया गया तथा तेजी से ब्रितानी साम्राज्य का विकास किया गया। वर्ष 1855 ई. तक अंग्रेजों द्वारा प्रारंभ किया गया यह क्रम अनवरत रूप से जारी रहा। किंतु 1857 की क्रांति के उपरांत जब 1858 में अधिनियम लागू किया गया तो उसमें कई प्रकार के परिवर्तन किये गये। इसके माध्यम से भारत में कंपनी का शासन समाप्त कर दिया गया एवं भारतीय उपमहाद्वीप से संबंधित सभी अधिकार क्राउन के हाथों में आ गये। इसके उपरांत अंग्रेज भारत की सर्वोच्च शक्ति बनकर उभरे। आधुनिक भारत के इतिहास को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. कंपनी का काल, एवं
2. क्राउन का काल।

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन का अवलोकन करने पर निम्नलिखित विशेषतायें परिलक्षित होती हैं–

1. प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी विशुद्ध रूप से एक व्यापारिक कंपनी थी, किंतु भारत की दुर्बल राजनीतिक स्थिति का इसने लाभ उठाया एवं उसने भारतीय राज्यों में हस्तक्षेप एवं धीरे–धीरे उनका अधिग्रहण प्रारंभ कर दिया।
2. भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के लिये मुख्य रूप से चार व्यक्ति उत्तरदायी हैं–रॉबर्ट क्लाइव, लॉर्ड वेलेजली, वारेन हेस्टिंग्स एवं लॉर्ड डलहौजी।

ब्रिटिश काल में भारत पर कदम जमाने हेतु ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने निम्नलिखित तीन नीतियां अपनायीं–

1. क्लाइव की द्वैधा शासन व्यवस्था,
2. वेलेजली की सहायक संधि की नीति, एवं
3. लॉर्ड डलहौजी की हड़प नीति।

रॉबर्ट क्लाइव और बंगाल में द्वैधा शासन

भारत में अपने कार्यकाल के दौरान रॉबर्ट क्लाइव ने कंपनी की स्थिति को मजबूती प्रदान की तथा अंग्रेजों की स्थिति में सुधार किया। 1757 में प्लासी एवं 1764 में बक्सर के युद्ध में विजयोपरांत क्लाइव ने अपनी कूटनीति से बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला, अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा मुगल सम्राट शाहआलम द्वितीय को स्वयं पर आश्रित बना लिया और बंगाल में अंग्रेजी हुकूमत के विरोध को पूरी तरह से समाप्त कर दिया।

क्लाइव 1757 से 1760 तक बंगाल का गवर्नर रहा। इसके पश्चात वह इंग्लैंड लौट गया। क्लाइव के बाद हालवैल तथा उसके बाद वेंस्टिटार्ट बंगाल के गवर्नर बने।

जब अंग्रेजों ने बक्सर में जीत हासिल कर ली तो इंग्लैंड में एक बार पुनः यह मांग की जाने लगी कि क्लाइव को दोबारा भारत भेजा जाना चाहिये। इस मांग के पीछे यह तर्क था कि भारत में अंग्रेजों की विजय की नींव क्लाइव ने रखी है, इसलिये भारत का साम्राज्य उसे ही संभालना चाहिये। इसके बाद 1765 में पुनः रॉबर्ट क्लाइव को भारत भेजा गया। भारत पहुंचकर उसने बंगाल के गवर्नर एवं मुख्य सेनापति का कार्यभार संभाल लिया।

क्लाइव का दूसरा कार्यकाल

भारत आने पर क्लाइव ने देखा कि उस समय बंगाल का शासन अराजक स्थिति में पहुंच चुका है। बंगाल का नवाब अयोग्य था तथा कंपनी के कर्मचारी भ्रष्टाचार में लिप्त होकर केवल धन कमाने के काम में लगे हुये थे। कंपनी का प्रशासन पूरी तरह से ठप्प हो गया था तथा जनता पर अत्यधिक अत्याचार हो रहे थे। इसके लिये सबसे पहले उसने कंपनी से भ्रष्टाचार को दूर करने के लिये आवश्यक कदम उठाये। उसने कंपनी के कर्मचारियों द्वारा रिश्वत या भेंट आदि लेने पर रोक लगा दी तथा अंग्रेज सैन्य अधिकारियों का भत्ता कम कर दिया।

इलाहाबाद की संधि

अंग्रेजों ने क्योंकि मुगल बादशाह को पराजित किया था क्लाइव ने अवध के नवाब सिराजुद्दौला से 16 अगस्त, 1765 को इलाहाबाद की द्वितीय संधि की। संधि के अनुसार अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी यानी राजस्व वसूली का अधिकार मिल गया तथा इसके बदले में अंग्रेजों द्वारा मुगल बादशाह को 26 लाख वार्षिक देना तय हुआ। संधि की शर्तें कुछ इस प्रकार हैं–

1. नवाब ने कंपनी की क्षतिपूर्ति के रूप में 50 लाख देने का वादा किया।
2. अवध प्रांत से कड़ा और इलाहाबाद के जिले लेकर मुगल बादशाहों को दे दिए गए।
3. शुजाउद्दौला को अवध वापस मिल गया तथा उसने चुनार अंग्रेजों को सौंप दिया।
4. अंग्रेजों की संरक्षकता में बनारस और गाजीपुर की जागीर राजा बलवंत सिंह को पैतृक जागीर के रूप में दे दी गई।
5. नवाब को एक और संधि द्वारा यह वचन देना पड़ा कि अपनी सीमाओं की सुरक्षा के लिए वह अंग्रेजों से सैनिक सहायता लेने पर पूरा सैन्य खर्च वहन करेगा।

यह संधि करके क्लाइव ने अत्यधिक दूरदर्शिता का परिचय दिया। इसके द्वारा उसने अवध के नवाब को अपना आश्रित बना लिया तथा मुगल सम्राट को मात्र एक पेंशनर। मुगल सम्राट अब केवल कंपनी का एक रबर स्टैंप था। इस संधि के द्वारा क्लाइव ने सीधे उत्तरदायित्व लेने से बचते हुये अत्यधिक राजनीतिक लाभ प्राप्त किये।

बंगाल का द्वैध शासन

रॉबर्ट क्लाइव द्वारा मुगल सम्राट शाह आलम से दीवानी प्राप्त कर लेने के बाद बंगाल में जो शासन व्यवस्था कायम हुई उसे द्वैध शासन के नाम से जाना जाता है। द्वैध शासन में प्रशासनिक दायित्व तो बंगाल के नवाब के हाथों में था लेकिन राजस्व वसूली का दायित्व ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के पास था।

अगस्त, 1765 ई. में स्थापित द्वैध शासन व्यवस्था के अनुसार वित्त अर्थात कर वसूली का अधिकार कंपनी को मिला जबकि प्रशासन नवाब के हाथों में बने रहने दिया गया। सबसे बड़ी बात यह है कि नवाब और कंपनी दोनों की अलग–अलग स्वतंत्रता थी। बक्सर के युद्ध के बाद बंगाल अंग्रेजों के कब्जे में आ गया था। इसके बाद अंग्रेजों ने बंगाल में द्वैध शासन की शुरुआत की। यह असल में द्वैध शासन के नाम पर बंगाल में लूट का आरंभ था। यह योजना रॉबर्ट क्लाइव ने बनायी थी। बंगाल में द्वैध शासन 1765 से 1772 तक चला। वैसे द्वैध शासन का जनक लियोनेल कर्टिस को माना जाता है।

दीवानी का अर्थ होता है मालगुजारी वसूल करने का अधिकार। दीवानी और निजामत दोनों अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद ही कंपनी ने बंगाल में द्वैध शासन की शुरुआत की।

उसके बाद अंग्रेजों ने बंगाल के नवाब निजामुद्दौला को 53 लाख रुपये देकर उससे बंगाल की सूबेदारी अर्थात कानून व्यवस्था का अधिकार भी प्राप्त कर लिया। अब बंगाल में प्रशासनिक अधिकारी की नियुक्ति का अधिकार कंपनी को मिल गया था। इसके बाद अंग्रेजों ने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में अपनी पसंद के भारतीयों को उप–दीवान तथा नायब सूबेदार नियुक्त किया। कंपनी ने बंगाल में मोहम्मद रजा खाँ, बिहार में राजा शिताब राय तथा उड़ीसा में राय दुर्लभ को उपदीवान नियुक्त किया। मोहम्मद रजा खाँ को नायब सूबेदार भी बनाया गया। इस प्रकार बंगाल में वास्तविक अधिकार तो कंपनी के पास थे पर प्रशासन का उत्तरदायित्व नवाब का था। बंगाल की यही शासन व्यवस्था ही द्वैध शासन प्रणाली कहलायी। कंपनी के इस दोहरे शासन का जाल देशी राजाओं, अपने यूरोपीय प्रतिद्वंदियों तथा ब्रिटिश सरकार को वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ बनाये रखने के लिये रचा गया था। क्लाइव की यह व्यवस्था 7 वर्षों तक जारी रही।

द्वैध शासन व्यवस्था का औचित्य

क्लाइव द्वारा स्थापित यह दोहरी शासन प्रणाली बड़ी विचित्र तथा जटिल थी। इस शासन व्यवस्था के अंतर्गत बंगाल के शासन का समस्त कार्य नवाब के नाम पर चलता था लेकिन वास्तव में उसकी शक्ति नाममात्र की थी तथा वह एक प्रकार से कंपनी का पेंशनर था। इसका कारण यह था कि कंपनी शासन के खर्चे के लिये नवाब को एक निश्चित राशि देती थी। दूसरी ओर, वास्तविक शक्ति कंपनी के हाथों में थी। वह शासन कार्यों में नवाब को दिशा–निर्देश देती थी। इसके अलावा दीवानी के अधिकार मिल जाने से बंगाल की आय पर कंपनी का पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो गया किंतु वह बंगाल के शासन के लिये जिम्मेदार नहीं थी तथा नवाब के अधीन होने का दिखावा भी करती थी।

द्वैध शासन व्यवस्था से कंपनी को लाभ

द्वैध शासन व्यवस्था से कंपनी को कई प्रकार के लाभ प्राप्त हुये, जो इस प्रकार हैं–

1. बंगाल से ही कंपनी द्वारा भारत को कच्चे माल के स्रोत के रूप में बनाना आरंभ किया गया।
2. कंपनी और नवाब दोनों द्वारा प्रशासन की व्यवस्था को ही बंगाल में द्वैध शासन कहा गया जिसकी विशेषता थी, उत्तरदायित्व रहित अधिकार और अधिकार

रहित उत्तरदायित्व। इस तरह कंपनी ने प्रशासन पर भी अपना प्रभावी नियंत्रण स्थापित कर लिया।

3. दीवानी का अधिकार प्राप्त हो जाने से कंपनी की स्थिति में आमूलचूल परिवर्तन हुआ। दीवानी का कार्य मालगुजारी के साथ–साथ आंशिक स्तर पर न्याय करना भी था। रॉबर्ट क्लाइव ने दीवानी का भार बंगाल में मोहम्मद रजा खाँ तथा बिहार में राजा शिताब राय नामक दो भारतीय अधिकारियों को सौंपा। प्रमुख दीवानी कार्यालय मुर्शिदाबाद और पटना में स्थापित किए गए।
4. कंपनी के पास ऐसे अधिकारियों की बहुत कमी थी, जो भारत की भाषा एवं संस्कृति से परिचित थे। ऐसी दशा में सभी अंग्रेज अधिकारियों को नियुक्त कर शासन का संचालन करना अत्यंत कठिन ही नहीं बल्कि असंभव भी था। इस व्यवस्था से क्लाइव ने शासन के संचालन का पूरा दायित्व बंगाल के नवाब पर डाल दिया।
5. इंग्लैंड में कंपनी को अभी भी मूल रूप से एक व्यापारिक कंपनी ही समझा जाता था। यदि क्लाइव बंगाल का शासन सीधे अपने हाथों में ले लेता तो इंग्लैंड की संसद कंपनी के कार्यों में हस्तक्षेप कर सकती थी।
6. यदि क्लाइव बंगाल के शासन को सीधे कंपनी के हाथों में ले लेता तो उस समय की अन्य यूरोपीय कंपनियों से सीधे उसकी दुश्मनी हो जाती क्योंकि ये कंपनियां भी भारत में व्यापार करने आयी थीं तथा वे ईस्ट इंडिया कंपनी की कट्टर विरोधी थीं।
6. यदि क्लाइव बंगाल के शासन को सीधे कंपनी के हाथों में ले लेता तो उससे कंपनी की वास्तविक मंशा उजागर हो जाती एवं भारतीय आपस में एकजुट होकर उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकते थे।
7. द्वैध शासन से कंपनी एवं नवाब के बीच होने वाला टकराव सदैव के लिये समाप्त हो गया तथा अब बंगाल में कंपनी के विरुद्ध होने वाली राजनीतिक क्रांतियों पर रोक लग गयी।
8. यद्यपि 1765 तक बंगाल पर कंपनी का पूरी तरह से अधिकार स्थापित हो चुका था लेकिन क्लाइव ने जनता को धोखे में रखने के लिये नवाब को दिखावे के लिये शासन का प्रमुख बनाये रखा।

इस प्रकार, क्लाइव ने अत्यंत चतुराई से 1965 में कंपनी के विरुद्ध होने वाली क्रांति की संभावना को समाप्त कर दिया तथा भारतीय एवं देशी राजाओं के मन में किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न नहीं होने दिया।

द्वैध शासन व्यवस्था की कमियां

क्लाइव की द्वैध शासन व्यवस्था में अनेक कमियां थीं, जो इस प्रकार हैं–

1. द्वैध शासन के परिणामस्वरूप बंगाल में व्यवसायियों से अधिक कर वसूला गया। किसानों से अत्यधिक भू राजस्व की वसूली की गई। जुलाहों को हतोत्साहित किया गया, उनसे जबरन कपड़े का कच्चा माल तैयार कराया गया। जिस कारण बंगाल में व्यवसाय तथा खेती का पतन हो गया। एक अत्यंत समृद्ध प्रांत

को कंपनी द्वारा मनमाने तरीके से लूटा गया। जिस कारण यह अत्यंत दुर्बल एवं दरिद्र हो गया।

2. बंगाल में द्वैध शासन के दुष्परिणाम देखने को मिले। समूचे बंगाल में अराजकता और अव्यवस्था तथा भ्रष्टाचार का माहौल बन गया। व्यापार और वाणिज्य का पतन हुआ, व्यापारियों की स्थिति भिखारियों जैसी हो गई, समृद्ध और विकसित उद्योग विशेषतया रेशम और कपड़ा उद्योग नष्ट हो गए, किसान भयानक गरीबी के शिकार हो गए।
3. क्लाइव ने बंगाल में द्वैध शासन प्रबंध की स्थापना को इसलिए महत्व दिया क्योंकि उस समय बंगाल जैसे विशाल प्रान्त का संपूर्ण शासन प्रबंध अपने हाथों में लेने के लिए कंपनी के पास पर्याप्त अधिकारी नहीं थे। इससे प्रशासनिक अराजकता फैल गयी।
4. इस शासन व्यवस्था से बंगाल में कृषि का विनाश हो गया। भू–राजस्व के संग्रहण का अधिकार उसे दिया जाता था जो अधिक से अधिक बोली लगाता था लेकिन कृषि के विकास में उसकी कोई रुचि नहीं होती थी। ठेकेदार अधिक से अधिक मुनाफा कमाना चाहते थे। निरंतर लगान बढ़ने से किसान धीरे–धीरे गरीब होते चले गये तथा कई किसानों ने खेती करना ही छोड़ दिया।
5. इस व्यवस्था से व्यापार एवं वाणिज्य का ह्रास हो गया। इस व्यवस्था की कमियों का लाभ उठाकर कंपनी के कर्मचारी निरंतर धनवान होते गये तथा कंपनी की आर्थिक स्थिति खराब होने लगी। नियंत्रण के अभाव में कर्मचारियों के बीच भ्रष्टाचार अपने चरम पर पहुंच गया। भारतीय व्यापारियों का अंग्रेजों के मुकाबले में व्यापार करना अत्यंत कठिन हो गया। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार हो गया तथा उसके व्यापारियों ने भारतीयों से कम मूल्य पर माल खरीद कर उन्हें अत्यधिक हानि पहुंचायी। इससे कई भारतीय व्यापारियों को अपना पैतृक व्यवसाय छोड़ने पर बाध्य होना पड़ा। एक बार स्वयं क्लाइव ने एक सभा में कहा था कि "कंपनी के कार्यकर्ता एक व्यापारी की भांति व्यापार न करके संप्रभु के समान व्यवहार करते हैं तथा उन्होंने हजारों व्यापारियों के मुंह से रोटी छीनकर उन्हें भिखारी बना दिया है।"

द्वैध शासन की समाप्ति

क्लाइव द्वारा स्थापित शासन को 1772 ई. में वारेन हेस्टिंग्स ने समाप्त कर दिया।

द्वैध शासन की समाप्ति का आधार हेस्टिंग्स ने इस व्यवस्था के दोषों के निराकरण को बताया उसने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के नायक दीवान मोहम्मद रजा खां और राजा शिताब राय को पद मुक्त कर दिया तथा शासन का संपूर्ण दायित्व अपने हाथों में केंद्रित कर लिया ।

हेस्टिंग्स ने बंगाल के नवाब को शासन कार्य से पूर्ण रूप से मुक्त कर दिया तथा उसके लिए 16 लाख रुपए वार्षिक पेंशन निश्चित की।

1773 ई. के रेगुलेटिंग एक्ट से बंगाल के गवर्नर के पद को गवर्नर जनरल का पद बना दिया गया तथा भारत की तत्कालीन सभी प्रेसीडेंसियों का शासन भार उसके

हाथों में सौंप दिया गया। 1773 ई. में वारेन हेस्टिंग्स को पहला गवर्नर जनरल बनाया गया इस तरह से बंगाल भारत में ब्रिटिश राजनीति का केंद्र बन गया और कंपनी ने यहीं से अपने साम्राज्य विस्तार की प्रक्रिया शुरू कर दी।

वेलेजली की सहायक संधि की नीति

लॉर्ड वेलेजली सहायक संधि का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाला व्यक्ति नहीं था। सहायक संधि का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रांसीसी गवर्नर 'डूप्ले' द्वारा किया गया था। लेकिन इस संधि का व्यापक प्रयोग लॉर्ड वेलेजली द्वारा किया गया। इसलिए लॉर्ड वेलेजली को सहायक संधि का जनक कहा जाता है। इस सिद्धांत के द्वारा कुछ महत्वपूर्ण रियासतें अंग्रेजी साम्राज्य में विलय कर लीं गयीं।

सहायक संधि की विशेषताएं

1. बड़े राज्य अपने राज्य में अंग्रेजी सेना रखेंगे, जिसकी कमान अंग्रेज अधिकारियों के हाथों में होगी। जबकि सेना का खर्चा राज्य को उठाना होगा।
2. भारतीय राजाओं के विदेशी संबंध कंपनी के अधीन होंगे। वे कोई युद्ध नहीं करेंगे और अन्य राज्यों से विचार विमर्श कंपनी करेगी।
3. राज्यों को अपने राज्य की राजधानी में एक अंग्रेजी रेजीडेंट रखना अनिवार्य होगा।
4. कंपनी राज्य की अन्य शत्रुओं से रक्षा करेगी तथा कंपनी राज्य के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी।
5. राज्य, कंपनी की अनुमति के बिना किसी युरियन को अपनी सेवा में नहीं रखेगा।

नीति का कार्यान्वयन

जिस समय लॉर्ड वेलेजली 1798 में भारत का गवर्नर बना उस समय अंग्रेजी कंपनी की भारत में स्थिति कुछ विशेष मजबूत नहीं थी। लॉर्ड वेलेजली ने भारतीय प्रांतों पर नियंत्रण रखने, फ्रांसीसी प्रभाव को कम करने और एक प्रतिद्वंद्वी सेना बनाने के लिए एक योजना तैयार की, जिसे आज के इतिहास में सहायक संधि के नाम से जाना जाता है।

यह एक प्रकार की मैत्री संधि थी, जिसका प्रयोग 1798–1805 तक भारत के गवर्नर–जनरल रहे लॉर्ड वेलेजली ने भारत के देशी राज्यों से संबंध स्थापित करने के लिए किया था।

सहायक संधि अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति पर आधारित थी। इस संधि के प्रयोग से भारत में अंग्रेजी सत्ता की श्रेष्ठता स्थापित हो गयी। भारत में सहायक संधि को स्वीकार करने वाला पहला शासक हैदराबाद का निजाम था।

डलहौजी के अनुसार, भारत में तीन प्रकार की रियासतें थीं–

(1) वे रियासतें, जो कभी सर्वोच्च सत्ता के अधीन नहीं थीं तथा कर अदा नहीं करतीं थीं।

(2) वे रियासतें, जो कभी मुगलों या मराठों के अधीन थीं तथा अब अंग्रेजों के अधीन आ गयीं थीं।

(3) वे रियासतें, जो अंग्रेजों द्वारा जीवित या पुनर्स्थापित की गयीं थीं।

इस संधि को दो चरणों में भारतीय राज्यों पर लागू किया गया–

पहला चरण : अंग्रेजों ने आर्थिक लाभ और अन्य शर्तों के साथ मित्र शासकों को अपनी सेनाएं उधार दी।

दूसरा चरण : जब देशी राज्य धन देने में असमर्थ होने लगे तो सेना के व्यय के बदले में प्रदेश लेना प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रकार डलहौजी ने ऐसी सभी रियासतों को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाने का प्रयास किया जो उसके अधीन नहीं थी। उसने इस नीति द्वारा जिन राज्यों या रियासतों को कंपनी साम्राज्य में मिला लिया, वे इस प्रकार थीं–

हैदराबाद (1798)

मैसूर (1799)

तंजौर (अक्टूबर, 1799)

अवध (नवंबर, 1801)

पेशवा (दिसंबर, 1802)

बरड के भोसले (दिसंबर, 1803)

सिंधिया (फरवरी, 1804)

डलहौजी ने अनेक मनमाने सिद्धांतों के आधार पर इस नीति के द्वारा अनेक रियासतों को कंपनी साम्राज्य के अधीन हड़प लिया। इस नीति से कई भारतीय रियासतों की स्वतंत्रता छिन गयी तथा कई रियासतों का अस्तित्व सदैव के लिये समाप्त हो गया। इस नीति के कारण बची हुई रियासतों के शासक अत्यंत घबरा गये तथा वे मानने लगे कि उनका साम्राज्य छिनना समय का प्रश्न है। डलहौजी की इस नीति से भारतीय रियासतों में तीव्र असंतोष उत्पन्न हुआ तथा 1857 के विद्रोह का एक प्रमुख कारण बना।

सहायक संधि के प्रभाव या परिणाम

सहायक संधि के प्रभाव या परिणाम निम्न प्रकार हैं–

1. **कंपनी का विस्तार** : अंग्रेजों को इस संधि से सेना के बदले विशाल धनराशि और प्रदेश प्राप्त हुआ। जिसके परिणामस्वरूप कंपनी का अभूतपूर्व विस्तार हुआ और उसकी शक्ति में भी अत्यधिक वृद्धि हुई।
2. **कंपनी को आर्थिक लाभ** : इस संधि द्वारा अंग्रेजों को अत्यधिक लाभ मिला किंतु भारतीय रियासतों को अत्यधिक हानि सहनी पड़ी और उन पर इस व्यवस्था के दूरगामी परिणाम हुये। उनकी स्वतंत्रता समाप्त हो गयी और वे अंग्रेजों की दया पर आश्रित हो गये।
3. **आर्थिक स्थिति** : सहायक संधि के बदले दिया जाने वाला धन काफी अधिक था। जिस कारण से राज्यों को इस अतिरिक्त आर्थिक बोझ को प्रभावी करना पड़ रहा था। परिणामस्वरूप राज्यों के पास अपने विकास के लिए कुछ भी शेष नहीं बचता था।

4. **विशाल सेना की उपलब्धि** : इस संधि से अंग्रेजों ने एक विशाल सेना बना ली, जिसका आर्थिक बोझ तो भारतीय राज्यों पर था लेकिन नियंत्रण अंग्रेजों के पास था।

5. **फ्रांसीसी प्रभाव की समाप्ति** : सहायक संधि को अपनाने वाले राज्य किसी अन्य विदेशी व्यक्ति या कंपनी से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रख सकते थे। इस कारण धीरे–धीरे भारत में फ्रांसीसियों का प्रभाव कम होता चला गया।

6. **भारतीय शासकों पर नियंत्रण** : इस संधि से सहमति भरते ही देशी राज्य पूरी तरह से अंग्रेजी नियंत्रण में आ गए। वे न तो किसी प्रकार का संगठन बना सकते थे और न ही किसी निर्णय को स्वयं स्वतंत्र रूप से ले सकते थे।

7. **अंग्रेजी साम्राज्य में वृद्धि** : इस संधि के अन्तर्गत एक अंग्रेजी रेजीडेण्ट को देशी राज्य की राजधानी में रखना अनिवार्य था। इस अंग्रेजी रेजीडेंट की उपस्थिति से अंग्रेजों की पहुंच अब राज्यों के आंतरिक और घरेलू मामलों तक हो सकती है। इसका फायदा उठाकर अंग्रेजों ने कई राज्यों को कुप्रबन्धन, उत्तराधिकार के झगड़ों आदि के आधार पर अपने साम्राज्य में विलय करने की शुरुआत कर दी। इससे अंग्रेजी साम्राज्य में काफी अधिक वृद्धि हो गयी।

8. **भारतीय शासकों की उपेक्षा** : इस संधि के बाद से देशी शासकों का काम लगभग नगण्य हो गया था। साथ ही विद्रोह और बाह्य आक्रमणों से भी उन्हें मुक्ति मिल चुकी थी, जिसके परिणामस्वरूप शासक अब अधिक आलसी और विलासी हो गए हैं, और उन्होंने राज्य–प्रबंधन में दिलचस्पी लेना बन्द कर दिया, जिसका फायदा अंग्रेजों ने उठाया।

9. **जनता का असहयोग** : इस संधि के उपरान्त शासक ने अपना सम्मान और अधिकार खो दिया था। जनता का विश्वास भी अपने शासक से उठ गया, और वे करों के नीचे दबते चले गए। जब अंग्रेजों ने राज्य को हड़पना शुरू किया तब जनता ने शासक का कोई सहयोग नहीं किया।

सहायक संधि से भारतीय राज्यों को हुई हानियां

सहायक संधि प्रणाली जहाँ एक ओर अंग्रेजी साम्राज्य के लिए लाभदायक रही वहीं देशी राज्यों को इस प्रणाली ने अत्यधिक हानि पहुँचायी।

1. राज्यों ने अपनी स्वतंत्रता, राष्ट्रीय चरित्र अथवा वह सब जो देश को प्रतिष्ठित बनाते हैं, बेचकर सुरक्षा मोल ले ली।

2. इससे भारतीय राजाओं का मानसिक बल कम हो गया जो अन्ततोगत्वा उनके लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ।

3. सहायक संधि स्वीकार करने वाले राज्य शीघ्र ही दिवालिया हो गये। अंग्रेजों की धन की मांग निरंतर बढ़ती जाती थी, जिसे देने में राज्य सक्षम नहीं थे। फलतः किसानों पर अत्यधिक कर का बोझ बढ़ता गया।

4. प्रत्येक निर्बल तथा उत्पीड़क राजा की रक्षा की और इस प्रकार वहां की जनता को अपनी अवस्था सुधारने के अवसर से वंचित रखा।

5. संरक्षित राज्यों के सैनिक बेरोजगार हो गये, क्योंकि उन्हें सेना रखने का अधिकार नहीं रहा। बेकार हो जाने से वे चोरी, डकैती करने लगे, कुछ पिण्डारियों के दल में शामिल हो गये।
6. अंग्रेजी रेजीडेन्टों ने राज्यों के प्रशासन में अत्यधिक हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया।

इस तरह सहायक संधि की नीति भारतीय नरेशों एवं भारतीय जनता के लिए बड़ी घातक सिद्ध हुई। कार्ल मार्क्स ने सहायक संधि प्रणाली का वर्णन करते हुए कहा कि–

"यदि आप किसी भी राज्य की आय को दो सरकारों के बीच बांट दें तो आप निश्चय ही एक के साधनों का तथा दोनों के प्रशासन को पंगु बना देंगे।"

एक अंग्रेजी टीकाकार ने सहायक संधि की तुलना एक ऐसी नीति से की है, "जिसमें मित्रों को उस समय तक मोटा करो जब तक वे हड़पने योग्य न हो जाएं।" निश्चय ही यह प्रणाली भारतीय राज्यों के लिए मीठा विष थी।

डलहौजी का व्यपगत सिद्धान्त या डलहौजी की हड़प नीति

इसे 'व्यपगत के सिद्धांत' या 'शांतिपूर्ण विलय की नीति' के नाम से भी जाना जाता है। इस नीति का प्रयोग 1848–56 ई. तक भारत के गवर्नर जनरल रहे प्रसिद्ध अंग्रेज शासक लॉर्ड डलहौजी ने किया। डलहौजी का मानना था कि झूठे रजवाड़ों और कृत्रिम मध्यस्थ शक्तियों द्वारा प्रशासन की पुरानी–पद्धति से प्रजा की परेशानियां बढ़ती हैं। इसीलिये उसने ऐसे सभी राज्यों को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया। वास्तव में डलहौजी की स्पष्ट एवं सीधी स्कॉटिश मनोभावना यह चाहती थी कि मुगल सर्वसत्ता के मुखौटे को सदैव के लिये समाप्त कर दिया जाये और जो भारतीय राजे मुगलों के उत्तराधिकारी होने का दम भरते हैं, उनका सदैव के लिये अंत कर दिया जाये।

डलहौजी की नीति

1848 ई. से 1856 ई. का काल ब्रिटिश कालीन भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। इस काल में लॉर्ड डलहौजी भारत का गवर्नर जनरल रहा। वह बहुत ही सक्रिय प्रशासक था, उसने युद्धों और कूटनीतियों से भारतीय राज्यों पर अधिकार करके भारत में ब्रिटिश कंपनी के साम्राज्य का विस्तार किया। डलहौजी साम्राज्यवादी विचारों का व्यक्ति था। अतः उसने भारत में गवर्नर जनरल का पदभार संभालने के साथ ही नाम कमाने का दृढ़ निश्चय किया।

डलहौजी द्वारा जो नीति भारतीय राज्यों के प्रति अपनायी गई उसके विषय में इतिहासकारों ने लिखा है, ''उससे पहले के गवर्नर जनरलों ने साधरणतया इस सिद्धान्त के आधार पर कार्य किया कि जिस प्रकार भी संभव हो, राज्य विस्तार नहीं किया जाये। डलहौजी ने इस सिद्धान्त पर कार्य किया कि जिस भी प्रकार संभव हो सके, ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार किया जाये।''

लॉर्ड डलहौजी ब्रिटिश साम्राज्य का अधिक–से–अधिक विस्तार करना चाहता था। कम्पनी के राज्य का विस्तार करने के लिए उसने एक नवीन कूटनीतिक सिद्धान्त का निर्माण किया, जो 'गोद निषेध नीति' (Doctrine of Lapse) के नाम से जाना जाता

है। भारत में प्राचीन काल से ही गोद लेने की प्रथा चली आ रही थी। जब किसी राजा के पुत्र नहीं होता था, तो वह हिन्दू परम्परा के अनुसार किसी बालक को अपने उत्तराधिकारी के रूप में गोद ले लेता था। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी देशी राजा ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बिना किसी को गोद नहीं ले सकता था और न ही गोद लिया हुआ पुत्र उसके राज्य का उत्तराधिकारी बन सकता था। डलहौजी ने इस नीति का कठोरता के साथ पालन किया और सतारा, जैतपुर, सम्भलपुर, नागपुर तथा झाँसी का अंग्रेजी साम्राज्य में विलय कर लिया।

लॉर्ड डलहौजी की हड़प नीति का क्रियान्वयन

लॉर्ड डलहौजी ने अपनी हड़प नीति के आधार पर गोद लेने की प्रथा को अमान्य कर निम्नलिखित राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में विलीन कर लिया–

• सतारा (1848 ई.)

डलहौजी की हड़प नीति का पहला निशाना सतारा था। सर्वप्रथम लॉर्ड डलहौजी ने सतारा राज्य को अपनी नीति का शिकार बनाया। सतारा के राजा के कोई पुत्र नहीं था, अतएव उसने एक बालक को गोद लिया था। 1848 ई. में सतारा के राजा की मृत्यु हो गई। किन्तु लॉर्ड डलहौजी ने गोद लिए हुए बालक को उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार न करके सतारा को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया। कम्पनी के संचालकों ने भी डलहौजी के इस कार्य का समर्थन किया किन्तु संतारा का कम्पनी के राज्य में सम्मिलित किया जाना सर्वथा अनुचित था क्योंकि सतारा का राज्य न ही कम्पनी द्वारा निर्मित था और न ही कम्पनी के अधीन था। अतएव एक स्वतंत्र राज्य के प्रति डलहौजी की ये नीति अत्यत घृणित थी।

• सम्भलपुर और जैतपुर (1849 ई.)

उड़ीसा में सम्भलपुर राज्य का शासक नारायणसिंह के कोई संतान नहीं थी। उनकी मृत्यु हो गयी। मृत्यु से पहले उन्होंने कोई पुत्र गोद नहीं लिया था इसलिये उनकी विधवा रानी ने शासन प्रबंध अपने हाथों में ले लिया। किन्तु डलहौजी ने सिंहासन पर रानी के अधिकार को अस्वीकृत कर दिया तथा सम्भलपुर एवं बुन्देलखंड में स्थित जैतपुर राज्य को भी हड़प नीति के आधार पर 1849 ई. में ब्रिटिश राज्य में शामिल कर लिया।

• झाँसी (1853 ई.)

1817 ई. में पेशवा ने झांसी का राज्य ब्रिटिश कम्पनी को दे दिया। कम्पनी ने झांसी के राजा रामचंद्र के साथ एक संधि की और वचन दिया कि झांसी का राज्य राजा रामचंद्र तथा उसके उत्तराधिकारियों के अधिकार में वंशानुगत चलेगा। किन्तु 1843 ई. में झांसी के राजा गंगाधर राव का निधन हो गया। निधन के पहले उन्होंने दामोदरराव नामक एक बालक को गोद ले लिया था एवं कम्पनी ने उन्हें इसकी स्वीकृति भी दे दी थी किन्तु 20 फरवरी, 1854 ई. को डलहौजी ने यह निर्णय लिया कि झांसी का दत्तक पुत्र राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता है। इन परिस्थितियों में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने डलहौजी को 1817 ई. की संधि याद दिलाई किंतु डलहौजी पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा और उसने एक घोषणा द्वारा झांसी को कम्पनी के राज्य में मिला लिया। फलतः 1853 ई. में झाँसी को ब्रिटिश राज्य में विलय कर लिया गया।

• **नागपुर (1854 ई.)**

नागपुर के शासक राघोजी भोसले का देहान्त संतान विहीन अवस्था में हुआ। किन्तु मृत्यु पूर्व उसने अपनी रानी को यशवन्तराव को गोद लेने की अनुमति दे दी थी। लेकिन ब्रिटिश कंपनी ने रानी को गोद लेने की स्वीकृति नहीं दी और उसने नागपुर राज्य को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। यही नहीं, ब्रिटिश कंपनी ने शासक की सम्पत्ति नीलाम कर बेच भी दी।

इन राज्यों के अतिरिक्त जैतपुर, बघाट और उदयपुर को भी डलहौजी ने अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया।

कुशासन के आधार पर विलय

लॉर्ड डलहौजी ने कुछ राज्यों को कुशासन का आरोप लगाकर हड़प लिया। उसकी इस नीति का शिकार अवध का नवाब और हैदराबाद का निजाम हुआ।

• **बरार**

बरार क्षेत्र हैदराबाद के निजाम के नियन्त्रण में था, उसे सहायक सेना के भरण–पोषण के लिए बहुत–सी धनराशि देनी थी। 1853 ई. में उसे धन के बदले बरार का प्रदेश देने के लिए विवश किया गया।

• **अवध**

लॉर्ड डलहौजी ने अवध को अंग्रेजी साम्राज्य में विलय करने की योजना बनाई। 1848 ई. में उसने कर्नल स्लीमैन को लखनऊ में रेजीडेण्ट के रूप में भेजा। स्लीमैन ने कुशासन के विस्तृत विवरण डलहौजी को भेजे तथा उसने अपनी रिपोर्ट में कहा कि अवध में चारों ओर कुशासन व्याप्त है तथा यहां का नवाब अयोग्य है। 1854 ई. में स्लीमैन के स्थान पर आउट्रम भारत आया और उसने भी अपने विवरण में कहा कि अवध का प्रशासन बहुत दूषित है तथा लोगों की दशा बहुत शोचनीय है। उसने अवध के नवाब वाजिदअली शाह पर अयोग्यता तथा दोषपूर्ण शासन करने का आरोप लगाया और एक सन्धि स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा, जिसके अनुसार नवाब को 12 लाख वार्षिक पेंशन देकर अवध राज्य को अंग्रेजी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया जाता। किन्तु नवाब ने इस सन्धि को स्वीकार नहीं किया। फलतः लॉर्ड डलहौजी ने एक सेना अवध भेजी और नवाब को गद्दी से उतारकर अवध पर अधिकार कर लिया। 13 फरवरी, 1856 की एक घोषणा के अनुसार अवध का राज्य कम्पनी के राज्य में मिला लिया गया।

लॉर्ड डलहौजी के गोद निषेध सिद्धांत की आलोचना

लॉर्ड डलहौजी के गोद निषेध सिद्धांत की यह कहकर आलोचना की गई है कि यह सिद्धांत अत्यन्त क्रूर था एवं हिन्दुओं की गोद लेने की प्रथा के विरुद्ध था। हिन्दुओं में अत्यन्त प्राचीन काल से यह प्रथा चली आई थी कि निःसन्तान राजा किसी भी दत्तक पुत्र (गोद लिए हुए पुत्र) को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकता है। लॉर्ड डलहौजी की नीति देशी रियासतों को किसी–न–किसी तरह समाप्त करके ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने की थी। कंपनी के संचालकों ने भी डलहौजी की इस नीति का समर्थन किया। इसलिए वे किसी–न–किसी बहाने की तलाश में रहते थे। उनके लिए इस देश की किसी परम्परा का सम्मान करने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

लॉर्ड डलहौजी की नीति का परिणाम

लॉर्ड डलहौजी द्वारा अपनाई गई गोद निषेध नीति केवल उसके कार्यकाल तक ही लागू रही। बाद में उसके उत्तराधिकारियों द्वारा इस नीति का पालन नहीं किया गया। देशी राज्यों को अधिकाधिक रूप से यह आश्वासन दे दिया गया कि उन्हें यथावत् गोद लेने का अधिकार होगा। अंग्रेजों की नीति में परिवर्तन का प्रमुख कारण था 1857 ई. का विद्रोह । गोद निषेध नीति का पालन करने से देशी राज्यों में जो असन्तोष व्याप्त था, वह 1857 ई. के विद्रोह का एक प्रमुख कारण बना।

वास्तव में लॉर्ड डलहौजी पर साम्राज्य–विस्तार का एक जुनून सवार हो गया था। वह यह भूल गया था कि इस नीति की प्रतिक्रिया अन्य देशी राज्यों में क्या होगी। डलहौजी जैसे–जैसे देशी राज्यों को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाता गया, वैसे–वैसे राजा–महाराजा और नवाब ब्रिटिश सरकार के विरोधी होते गए। इस प्रकार डलहौजी की नीति ही अंग्रेजी साम्राज्य के लिए एक चुनौती बन गई। अंत में अंग्रेजी सरकार ने इस नीति को त्याग देना ही उचित समझा।

पेंशन और पदों की समाप्ति की नीति

कम्पनी जिन राज्यों को अपने शासन में सम्मिलित करती थी, वहां के शासकों को वह पेंशन देती थी। लॉर्ड डलहौजी ने इन पेंशनों को बन्द कर दिया। 1853 ई. में कर्नाटक के नवाब की मृत्यु हो गई। डलहौजी ने मद्रास सरकार के सुझाव से सहमत होकर उसके उत्तराधिकारियों को मान्यता नहीं दी और उसके वंशजों का राजपद समाप्त कर दिया। पेशवा बाजीराव द्वितीय को 8 लाख वार्षिक पेंशन मिलती थी। 1853 ई. में उसकी मृत्यु हो जाने पर उसके दत्तक पुत्र नाना साहब को पेंशन देना बंद कर दिया गया।

1855 ई. में तंजौर के राजा की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उसकी सोलह विधवा रानियाँ और दो बेटियाँ रह गईं। डलहौजी ने उनकी उपाधि को समाप्त कर दिया। इसी प्रकार डलहौजी मुगल सम्राट् की उपाधि भी समाप्त करना चाहता था, किन्तु कम्पनी के संचालकों ने उसके इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया।

युद्ध और आक्रमण की नीति

डलहौजी ने भारतीय राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल करने की सभी उचित एवं अनुचित तरीकों एवं साधनों का प्रयोग किया। ऊपर वर्णित तरीकों के अलावा उसने युद्ध एवं आक्रमण की नीति का भी सहारा लिया। उसकी इसी नीति की वजह से दूसरा आंग्ल–सिख युद्ध हुआ एवं सिक्किम पर आक्रमण कर उसे अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया।

द्वितीय आंग्ल–सिक्ख युद्ध

इस युद्ध के द्वारा पंजाब का विलय कर लिया गया। मुल्तान के सिपाहियों ने अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी। हजारा के सिक्ख गवर्नर ने भी विद्रोह का झण्डा फहराया। सिक्खों ने पेशावर अफगानिस्तान के अमीर दोस्त मुहम्मद को दे दिया और उसकी मित्रता प्राप्त कर ली। बहुत–से सिक्ख शासक मूलराज के झण्डे तले एकत्रित हो गए तथा उन्होंने मूलराज को अपना शासक मान लिया। दूसरी ओर शेर सिंह ने घोषणा की कि रानी झिन्डन को बन्दी बनाकर अंग्रेजों ने सिक्खों का अपमान किया है। उसने 31 अक्टूबर को पेशावर पर अधिकार कर लिया। लेकिन 22 जनवरी तक अंग्रेजों

ने मुल्तान जीत लिया तथा मूलराज ने आत्म–समर्पण कर दिया। शेर सिंह, छतरसिंह एवं अन्य सिक्ख सरदारों ने भी 12 मार्च, 1849 तक आत्म–समर्पण कर दिया। 29 मार्च, 1849 को पंजाब का अंग्रेजी साम्राज्य में विलय कर लिया गया। सन्धि के अनुसार महाराजा दिलीप सिंह को पेंशन दी गई और अंग्रेजों ने शासन संभाल लिया।

सिक्किम

सिक्किम के राजा ने दो अंग्रेज अधिकारियों को कैद कर लिया। उस पर दुर्व्यवहार का आरोप लगाकर अंग्रेजों ने सिक्किम पर आक्रमण कर लिया तथा 1850 ई. में उसे अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया।

डलहौजी की नीति का मूल्यांकन

सर रिचर्ड टेम्पल का कथन है, "एक साम्राज्यवादी प्रशासक के रूप में जो योग्य व्यक्ति इंग्लैण्ड ने भारत भेजे, उनमें से किसी ने भी कदाचित ही उसकी समानता की है, अतिक्रमण तो कभी नहीं किया।" परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि डलहौजी के प्रदेशों के विलय करने से व्यवस्था बिगड़ गई। उसकी गति बहुत तेज थी और वह सीमा से कुछ अधिक आगे चला गया। उसकी इस नीति ने समकालीन असन्तोष की भावना को एक दिशा दी और 1857 ई. के विद्रोह में डलहौजी की हड़प नीति ने एक प्रमुख भूमिका निभायी। इतिहासकारों एवं विद्वानों द्वारा 1857–58 ई. के विद्रोह का उत्तरदायित्व मुख्यतया डलहौजी पर ही माना गया है।

डलहौजी उग्र साम्राज्यवादी था और पंजाब, पीगू तथा सिक्किम को उसने युद्ध के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्य में विलीन कर लिया। तत्पश्चात उसने शांतिपूर्ण ढंग से अन्य भारतीय राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में विलीन करने का निश्चय किया। इसके लिए उसने जिस नीति को अपनाया, उसे इतिहास में गोद–निषेध सिद्धान्त कहते हैं। इस नीति के अनुसार उन सन्तानहीन देशी नरेशों को जो कंपनी के अधीन थे अथवा जिनका अस्तित्व कंपनी के कारण हुआ था अथवा जो कंपनी पर निर्भर थे, उन सभी को पुत्र गोद लेने की आज्ञा न देकर उनके राज्य को कंपनी के राज्य में विलीन करने का निणर्य लिया गया। डलहौजी ने यह अधिकार केवल उन राज्यों को देना उचित समझा जिनसे वर्तमान तथा भविष्य में राजनीतिक लाभ उठाये जा सकते थे। यदि किसी राजा का औरस पुत्र नहीं होता था तो वह अपने दत्तक पुत्र को अपना राज्य नहीं दे सकता था वरन उसका राज्य ब्रिटिश राज्य में मिला लिया जाता था।

आश्रित राज्य जो पहले से मुगल सम्राट या पेशवा को वार्षिक कर देते थे, किन्तु अब वे ब्रिटिश सरकार को कर देने लगे थे और अंग्रेजों के आश्रय और संरक्षण में थे, जैसे नागपुर, ग्वालियर के राज्य।

अधीनस्थ राज्य, जिनको ब्रिटिश कंपनी ने बनाया था, अथवा जिनको जीतकर ब्रिटिश कंपनी ने पुनः स्थापित किया था और जो पूर्ण रूप से अंग्रेजों के अधीन थे जैसे– झाँसी, सतारा के राज्य।

लॉर्ड डलहौजी ने कुछ सन्तानहीन भारतीय शासकों को उत्तराधिकारी बालक को गोद लेने की अनुमति नहीं दी और उनके राज्य को हड़प करके अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये डलहौजी ने भारतीय राज्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया था।

स्वतंत्र राज्य जो भारत में ब्रिटिश राज्य के अस्तित्व में आने के पूर्व से ही विद्यमान थे, जैसे–जयपुर, उदयपुर आदि राज्य।

लॉर्ड डलहौजी ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के अंतर्गत गोद–प्रथा निषेध की नीति या हड़प नीति को अपनाया। हड़प नीति के द्वारा उसने ब्रिटिश साम्राज्य को संगठित और सुदृढ़ कर दिया। भारत में ब्रिटिश कंपनी के राज्य की सीमाओं का अत्यधिक विस्तार हुआ। किन्तु डलहौजी के इस साम्राज्य विस्तार का नैतिक, न्यायिक और निष्पक्ष रूप से समर्थन नहीं किया जा सकता। डलहौजी की हड़प नीति अनैतिकता और स्वार्थ से परिपूर्ण थी। उसके दुष्परिणाम के फलस्वरूप ही 1857 ई. में भारत में अंग्रेजों को एक विशाल क्रान्ति देखनी पड़ी, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव कमजोर कर दी।

अपनी प्रगति जांचिए

1. ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का निर्माण कब हुआ था?

   (क) 1609 ई. में (ख) 1610 ई. में

   (ग) 1611 ई. में (घ) 1612 ई. में

2. रॉबर्ट क्लाइव कब से कब तक बंगाल का गवर्नर रहा?

   (क) 1750 से 1752 तक (ख) 1757 से 1760 तक

   (ग) 1759 से 1763 तक (घ) 1760 से 1765 तक

3. लॉर्ड वेलेजली भारत का गवर्नन कब बना?

   (क) 1790 में (ख) 1793 में

   (ग) 1795 में (घ) 1798 में

2.3 सत्ता विस्तार के साधन : युद्ध एवं कूटनीति

भारत में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात, देश में कई प्रकार के सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन आये। इनमें से अधिकांश परिवर्तनों का कारण मुगलों का भारत आगमन एवं उसके उपरांत मंगोलों का आक्रमण भी रहा। इस समय मुसलमानों ने अपने समुदाय की स्थापना की तथा हिंदुओं को धर्म परिवर्तन हेतु विवश किया। मुसलमानों ने हिंदू मंदिरों एवं बौद्ध मठों को भी क्षति पहुंचायी। मुगलों के शासनकाल में हिंदु कई प्रकार से प्रताड़ित किये गये, यहां तक कि बौद्धों को भी अपने धर्म की उपासना करने से रोका गया। इस काल में कई धार्मिक आंदोलनों का जन्म हुआ तथा कई प्रकार के धार्मिक संप्रदायों की स्थापना हुयी। इनमें से कुछ ने भारतीय संस्कृति पर आधिपत्य जमाने का भी प्रयास किया, जबकि कुछ ऐसे भी थे, जिनका इस प्रकार का कोई उद्देश्य नहीं था।

आंग्ल–फ्रांसीसी संघर्ष

लुई चौदहवें के मंत्री कोलबर्ट ने सर्वप्रथम व्यापारिक कार्यों में उत्साह दिखाया तथा सरकार की सहायता से 1664 ई. में भारत से व्यापार करने के लिए प्रथम फ्रांसीसी

कंपनी की स्थापना की। भारत में फ्रांसीसी सर्वप्रथम 1667 ई. में फ्रैंको कैरो के नेतृत्व में पहुंचे तथा 1668 ई. में सूरत में अपनी पहली कोठी स्थापित की। फ्रांसीसियों की दूसरी कोठी 1669 ई. में मसूलीपट्टनम में खुली।

बंगाल में नवाब शाइस्ता खां ने 1674 ई. में फ्रांसीसियों को एक जगह दी, जहां 1690–1692 ई. में उन्होंने 'चंद्रनगर' की प्रसिद्ध फ्रांसीसी कोठी बसाई।

अंग्रेज व्यापारिक कंपनी

सबसे पहली अंग्रेजी कंपनी की स्थापना 1600 ई.में हुई। इसी कंपनी ने सर थॉमस रो को जहांगीर के दरबार में एक व्यापारिक संधि के लिए भेजा। 1698 ई. में अंग्रेजों ने एक अन्य व्यापारिक कंपनी की स्थापना की परंतु 1702 ई. में दोनों कंपनियों को मिलाकर एक कर दिया गया, जो 'ईस्ट इंडिया कंपनी' कहलायी। 1717 ई. में इस कंपनी ने मुगल बादशाह फर्रुखशियर से एक फरमान प्राप्त किया। इस फरमान के बदले में कंपनी ने मुगल बादशाह को 3,000 रुपये वार्षिक कर के बदले गुजरात, हैदराबाद तथा बंगाल में बिना कर दिए व्यापार करने का अधिकार प्राप्त किया। कंपनी की ओर से सर्वप्रथम कैप्टन हॉकिंस भारत आया, जो 1609 ई. में जहांगीर के दरबार में पहुंचा।

सर थॉमस रो जहांगीर के दरबार में 1615 ई. में पहुंचा तथा 1618 ई. तक रहा। अंग्रेजों ने भी अपनी पहली व्यापारिक कोठी सूरत में ही स्थापित की। अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी ने सबसे पहले 'एलिजाबेथ प्रथम' से व्यापार के लिए आज्ञापत्र प्राप्त किया था।

1868 ई. में चार्ल्स द्वितीय ने ईस्ट इंडिया कंपनी को 10 पौंड वार्षिक किराए पर बंबई दे दी। सर चार्ल्स आयर फोर्ट विलियम का पहला अध्यक्ष था।

पुरानी अंग्रेज व्यापारिक कंपनी ने व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त करने के लिए 'सर विलियम मौरिस' को औरंगजेब के दरबार में भेजा था।

आंग्ल–फ्रांसीसी प्रतिस्पर्धा तथा कर्नाटक युद्ध

सन् 1707 ई. में मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के बाद से मुगल साम्राज्य का विघटन प्रारंभ हो गया था तथा सूबेदार एक–एक करके स्वतंत्र हो रहे थे। उत्तर में बंगाल अवध, रुहिले तथा दक्षिण में 1724 ई. में निजाम स्वतंत्र हो गया। अब मराठा गतिविधियां उत्तर तथा दक्षिण दोनों में प्रारंभ हो गयीं। दक्षिण की इस अराजकता तथा हैदराबाद एवं कर्नाटक के उत्तराधिकार के संघर्ष का लाभ उठाकर डूप्ले ने इसमें हस्तक्षेप करके राजनीतिक लाभ उठाने का प्रयास किया जिसके परिणामस्वरूप तीन कर्नाटक युद्ध हुए, जिसका प्रमुख कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दोनों कंपनियों द्वारा विरोधी गुटों का समर्थन करना था। भारत में इस युद्ध का क्षेत्र कर्नाटक था।

मद्रास पर अधिकार करने के बाद डूप्ले ने कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन द्वारा भेजी गयी एक सेना को पराजित करके भारतीय सेनाओं की दुर्बलता को उजागर कर दिया। इस युद्ध के बाद यूरोप में हुई 'एला–शॉपेल की संधि' के अनुसार इंग्लैंड और फ्रांस ने एक–दूसरे के जीते हुए प्रदेशों को वापस कर दिया।

दूसरा कर्नाटक युद्ध कर्नाटक तथा हैदराबाद के सिंहासन पर विरोधी दावेदारों का समर्थन करने की वजह से हुआ। डूप्ले ने हैदराबाद में मुजफ्फरजंग तथा कर्नाटक में पूर्व नवाब दोस्त अली के जामाता चंदा साहिब का समर्थन तथा अंग्रेजों ने क्रमशः नासिरजंग तथा मुहम्मद अली का पक्ष लिया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप कर्नाटक में अंग्रेजी कंपनी का समर्थन प्राप्त करके मु. अली तथा हैदराबाद में फ्रांसीसी कंपनी के सहयोग से नासिरजंग सिंहासन पर बैठा।

1756–63 ई. तक यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध प्रारंभ हो जाने से पुनः यहां दोनों कंपनियों के मध्य संघर्ष हुआ, जिसमें सभी फ्रांसीसी उपनिवेशों पर अंग्रेजी कंपनी का कब्जा हो गया। सन् '1763 की पेरिस संधि' के अनुसार फ्रांसीसी बस्तियां तो उनको वापस कर दी गईं किंतु उन्हें इन बस्तियों की किलेबंदी करने से रोक दिया गया। इस प्रकार भारत में फ्रेंच कंपनी ब्रिटिश कंपनी से प्रतिद्वंदिता करने योग्य नहीं रह गई।

कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746–48 ई.)

यह युद्ध ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध, जो 1740 ई. में हुआ था, का विस्तार मात्र था। गृह सरकारों की आज्ञा के अनुसार 1746 ई. में दोनों ओर से युद्ध आरंभ हो गया। बारनेट के नेतृत्व में अंग्रेजी नौसेना ने कुछ फ्रांसीसी पोतों को पकड़ लिया। डूप्ले ने (पांडिचेरी का गवर्नर जनरल) मॉरीशस स्थित फ्रांसीसी गवर्नर से सहायता मांगी। रास्ते में ला बूर्डो ने अंग्रेजी नौसेना को परास्त किया। मद्रास को जल तथा थल दोनों ओर से फ्रांसीसियों ने घेर लिया। 21 सितंबर को मद्रास ने आत्मसमर्पण कर दिया। कई अंग्रेज युद्ध बंदी बना लिये गये। इनमें क्लाइव भी था।

कर्नाटक का प्रथम युद्ध 'सेंट टोमे के युद्ध' के लिए स्मरणीय है। यह युद्ध फ्रांसीसी सेना तथा कर्नाटक नवाब अनवरुद्दीन (1744) के नेतृत्व में भारतीय सेना के बीच लड़ा गया। इसमें फ्रांसीसी सेना का नेतृत्व पैराडाइज तथा भारतीय सेना का नेतृत्व महफूज खां ने किया। कैप्टन पैराडाइज की इस विजय ने यूरोपीय सेना की भारतीय सेना पर श्रेष्ठता उजागर कर दी।

यूरोप में एला–शॉपेल की संधि से सप्तवर्षीय युद्ध समाप्त होते ही ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध समाप्त हो गया तथा इसी के साथ कर्नाटक का प्रथम युद्ध भी समाप्त हो गया।

युद्ध के प्रथम दौर में दोनों दल बराबर रहे। डूप्ले ने अपनी असाधारण दक्षता तथा राजनीतिक क्षमता का परिचय दिया। स्थल पर फ्रांसीसी सर्वश्रेष्ठ रहे। यद्यपि अंग्रेज पांडिचेरी न जीत सके लेकिन इस युद्ध में नौसेना का महत्व स्पष्ट हो गया।

कर्नाटक का द्वितीय युद्ध (1749–54 ई.)

कर्नाटक के प्रथम युद्ध की उपलब्धियों से डूप्ले की राजनीतिक पिपासा जाग उठी तथा उसने फ्रांसीसी राजनीतिक प्रभाव के प्रसार के उद्देश्य से भारतीय राजवंशों के परस्पर झगड़े में भाग लेने का निर्णय किया।

आसफजाह, जिसने दक्कन में लगभग स्वायत्तता पूर्ण राज्य बना लिया था, की 21 मई, 1748 ई. को मृत्यु हो गई। उसका पुत्र नासिरजंग उसका उत्तराधिकारी बना। परंतु उसके भतीजे मुजफ्फरजंग ने उसके इस दावे को चुनौती दी। दूसरी ओर

कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन तथा चंदा साहिब के मध्य विवाद था। शीघ्र ही ये विवाद बड़े विवादों में परिवर्तित हो गए।

डूप्ले ने इस अनिश्चित अवस्था से लाभ उठाने की सोची तथा मुजफ्फरजंग को दक्कन की सूबेदारी तथा चंदा साहिब को कर्नाटक की सूबेदारी प्राप्त हुई। अपरिहार्य कारणों से अंग्रेजों को नासिरजंग तथा अनवरुद्दीन का साथ देना पड़ा। डूप्ले को अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई।

चंदा साहिब, मुजफ्फरजंग तथा फ्रांसीसी सेनाओं ने 1749 ई. में वैल्लोर के समीप अनवरुद्दीन को हराकर मार दिया। दिसंबर 1758 में नासिरजंग भी एक युद्ध में मारा गया। मुजफ्फरजंग दक्कन का सूबेदार बन गया तथा उसने अपने समर्थकों को बहुत–से उपहार दिए। डूप्ले को कृष्णा नदी के दक्षिण का हिस्सा तथा उत्तरी सरकार के कुछ जिले भी प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त मुजफ्फरजंग की प्रार्थना पर एक फ्रांसीसी सेना की टुकड़ी बुस्सी के नेतृत्व में हैदराबाद में तैनात कर दी गई। 1751 ई. में चंदा साहिब कर्नाटक के नवाब बन गए। डूप्ले उस समय राजनीति की चरम सीमा पर पहुंच गया। लेकिन शीघ्र ही स्थिति परिवर्तित हो गई। स्वर्गीय अनवरुद्दीन के पुत्र मुहम्मद अली ने त्रिचनापल्ली में शरण ली। चंदा साहिब तथा फ्रांसीसियों ने त्रिचनापल्ली में शरण ली। चंदा साहिब तथा फ्रांसीसी संयुक्त होकर भी त्रिचनापल्ली के दुर्ग को नहीं जीत सके। क्लाइव ने मात्र 210 सैनिकों की सहायता से कर्नाटक की राजधानी अर्काट पर कब्जा कर लिया। तंजौर के राजा ने चंदा साहिब की धोखे से हत्या कर दी। त्रिचनापल्ली में फ्रांसीसी हार से डूप्ले के भाग्य का सर्वनाश हो गया तथा फ्रांसीसी कंपनी ने इस युद्ध में धन की हानि के लिए डूप्ले को वापस बुला लिया और उसकी जगह 1754 ई. में 'गोडेहू' को नया गवर्नर जनरल बनाकर भारत भेजा गया।

इस प्रकार, दूसरे कर्नाटक युद्ध का दौर भी अनिश्चित रहा परंतु, अंग्रेजी सेना की प्रधानता स्पष्ट हो गई तथा अंग्रेजों का प्रत्याशी मुहम्मद अली कर्नाटक का नवाब बन गया।

कर्नाटक का तृतीय युद्ध (1758–63 ई.)

यह युद्ध भी यूरोपीय संघर्ष का ही भाग था। 1756 ई. में सप्तवर्षीय युद्ध के आरंभ होने से भारत में दोनों कंपनियों के मध्य शांति समाप्त हो गई। फ्रांसीसी सरकार ने 1758 ई. में काउंट लाली को भारत भेजा। इसी बीच अंग्रेज सिराजुद्दौला को पराजित कर बंगाल पर अपना अधिकार कर चुके थे। काउंट लाली ने 1758 ई. में ही फोर्ट सेंट डेविड को जीत लिया। इसके बाद लाली के तंजौर एवं मद्रास के अभियान असफल रहे। साथ ही उसने बुस्सी को भी हैदराबाद से वापस बुला लिया, जो उसकी एक बड़ी भूल थी। दूसरी ओर पोकाक के नेतृत्व में अंग्रेजी बेड़े ने फ्रांसीसी बेड़े को हराया तथा 1760 ई. में सर आयर कूट से वाण्डीवाश के स्थान पर फ्रांसीसियों को बुरी तरह से पराजित किया। बुस्सी युद्ध बंदी बना लिया गया। जनवरी 1761 ई. में फ्रांसीसी पूर्ण पराजय के बाद पांडिचेरी लौट आए। 8 माह बाद अंग्रेजों ने उसे भी जीत लिया। शीघ्र ही माही तथा जिंजी भी फ्रांसीसियों के हाथ से निकल गए। इस प्रकार आंग्ल–फ्रांसीसी संघर्ष समाप्त हो गया तथा फ्रांसीसी हार गए।

इस प्रकार, युद्ध का तीसरा दौर निर्णायक सिद्ध हुआ तथा इस युद्ध के बाद अंग्रेजी कंपनी की सर्वोच्चता स्पष्ट हो गई।

फ्रांसीसियों की पराजय के कारण

फ्रांसीसियों ने अपने समय में अपनी राजनीतिक विजयों से सभी को स्तब्ध कर दिया, लेकिन वे अंततः हार गए। उनकी इस पराजय के प्रमुख कारण इस प्रकार थे–

1. **दोनों देशों की प्रशासनिक भिन्नताएं :** फ्रांसीसी असफलता के लिए बहुत हद तक उनकी घटिया शासन–प्रणाली उत्तरदायी थी। फ्रांसीसी सरकार स्वेच्छाचारी थी तथा सम्राट के व्यक्तित्व पर ही निर्भर करती थी। लुई चौदहवें तथा उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों के काल में साम्राज्य की आर्थिक स्थिति दिनोंदिन खोखली होती गई।

   दूसरी ओर इंग्लैंड में एक जागरूक अल्पतंत्र कार्य कर रहा था, जिसकी उत्तम व्यवस्था से देश दिनोंदिन शक्तिशाली होता जा रहा था।

2. **फ्रांसीसियों का यूरोप में उलझना :** 18वीं शताब्दी में फ्रांसीसी सम्राटों की यूरोपीय महत्वाकांक्षाओं के कारण उनके साधनों पर अत्यधिक दबाव पड़ा। ये सम्राट फ्रांस की सीमाओं को बढ़ाने के लिए अनेक यूरोपीय देशों से उलझ गए। फलस्वरूप ये उपनिवेश तो उनके हाथ से जाते ही रहे, यूरोप में भी नहीं के बराबर क्षेत्रफल ही उन्हें मिल सका।

3. **दोनों कंपनियों के गठन में विभिन्नता :** फ्रांसीसी कंपनी सरकार का एक विभाग थी। इस कंपनी के डायरेक्टर सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते थे तथा लाभांश सरकार द्वारा गारंटेड था। अतएव उन्हें कंपनी की समृद्धि में कोई विशेष अभिरुचि नहीं थी। उदासीनता के कारण कंपनी की वित्तीय स्थिति बिगड़ती चली गई तथा वह उधार लेने की नौबत तक पहुंच गई।

   दूसरी ओर अंग्रेजी कंपनी एक निजी व्यापारिक कंपनी थी। उसके प्रबंध में कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं किया जाता था तथा प्रशासन इस कंपनी के निर्माण में विशेष रुचि प्रदर्शित करता था। कंपनी के डायरेक्टर सदैव व्यापार पर बल देते थे जिससे कंपनी की वित्तीय स्थिति दृढ़ थी।

4. **बंगाल में अंग्रेजी असफलता का प्रभाव :** अंग्रेजों की बंगाल विजय एक महत्वपूर्ण कारण था। न केवल इससे अंग्रेजों की प्रतिष्ठा बढ़ी बल्कि उन्हें बंगाल की अपार धन तथा जन–शक्ति भी प्राप्त हो गई। इस विजय से अंग्रेज फ्रांसीसियों से वित्तीय मामलों में अत्यंत सुदृढ़ हो गए। इस विजय के दीर्घकालिक सुपरिणाम हुए।

5. **नौसेना की भूमिका :** कर्नाटक के युद्धों ने यह स्पष्ट कर दिया कि कंपनी के भाग्य का उदय अथवा अस्त नौसेना की भूमिका पर निर्भर करता था। 1746 ई. में फ्रांसीसी कंपनी को पहले समुद्र पर फिर थल पर सफलता मिली, जिसका प्रमुख कारण फ्रांसीसियों की दृढ़ तथा अंग्रेजों की कमजोर नौसेना थी। बाद के वर्षों में अंग्रेजी कंपनी ने नौसेना को मजबूत किया जिससे वह अन्य कंपनियों पर अपनी श्रेष्ठता को स्थापित कर सकी।

6. **डूप्ले का उत्तरदायित्व** : डूप्ले एक उत्तम नेता होते हुए भी फ्रांसीसियों की हार के लिए उत्तरदायी है। वह राजनीतिक षड्यंत्रों में अत्यधिक उलझ गया जिससे वह कंपनी के अन्य पक्षों की ओर ध्यान न दे सका। उसने कंपनी के व्यापार तथा वित्तीय पक्षों की अवहेलना कर दी। अतः उनका व्यापारिक लाभ दिनोंदिन कम होता गया। इसके अतिरिक्त उसे अत्यधिक आत्मविश्वास था और उसने पेरिस में अपने अफसरों को कुछ अति महत्वपूर्ण सैनिक तथा सामुद्रिक–सामरिक महत्वपूर्ण दुर्बलताओं तथा कठिनाइयों के विषय में नहीं बताया और यदि उसे सामयिक सहायता नहीं मिली तो यह डूप्ले का स्वयं का दोष था।

7. **दोनों कंपनियों का राजनीतिक नेतृत्व** : अंग्रेजी कंपनी का राजनीतिक तथा सैनिक नेतृत्व फ्रांसीसी कंपनी की तुलना में अधिक उत्तम था। डूप्ले तथा बुस्सी व्यक्तिगत रूप से क्लाइव, लॉरेंस इत्यादि से कम न थे परंतु वे क्लाइव के समान सैनिकों में जोश उत्पन्न न कर सके। दूसरे उनके अधीनस्थ कार्यकर्ताओं में भी वह दक्षता नहीं थी। दूसरी ओर अंग्रेजों के पास अच्छे सैनिक नेता थे तथा उनके अधीनस्थ कर्मचारी भी फ्रांसीसियों की तुलना में बेहतर थे।

आंग्ल–बंगाल संघर्ष

बंगाल में अंग्रेजों का समागम

दिसंबर 1600 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई और उनका सबसे पहला प्रतिनिधि हॉकिन्स 1608 ई. में ही जहांगीर के दरबार में आया। बाद में टॉमस रो भी आया और इन दोनों ने मुगल सम्राट से भारत में व्यापार की अनुमति प्राप्त की। बंगाल में अंग्रेजों का समागम सत्रहवीं शताब्दी के तीसरे दशक में हुआ। 1633 ई. में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने बालासोर (उड़ीसा) में अपनी शाखा स्थापित की और इसके बाद कासिम बाजार, पटना और ढाका में भी कंपनी की शाखाएं स्थापित हुईं। ध्यातव्य है कि, इस समय उड़ीसा, बंगाल का हिस्सा नहीं था। उड़ीसा को मुर्शीद कुली खां के दामाद शुजाउद्दीन ने अपने शासनकाल में बंगाल के अधीन कर लिया था।

लगभग 1698 ई. में कंपनी को मुगल सम्राट की ओर से बंगाल में सूतानाती, कालिकता तथा गोविंदपुर की दीवानी प्राप्त हुई। बाद में ईस्ट इंडिया कंपनी ने यहां पर कलकत्ता नगर की स्थापना की और अंग्रेजी बस्ती को बसाने की प्रक्रिया पूरी हुई। 1633 ई. में प्रवेश के बाद के मात्र 47 वर्षों बाद (1680 ई. तक) ही कंपनी बंगाल में लगभग 1,50,000 पौंड का वार्षिक निवेश करने लगी थी। 17वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में ही मुगल सम्राट ने कंपनी को बंगाल में मुक्त व्यापार का अधिकार प्रदान किया और बदले में कंपनी ने 3,000 रुपये वार्षिक की दर से कंपनी को लगान देना स्वीकार किया। कंपनी के लिए सम्राट के साथ किया गया यह समझौता बहुत ही लाभप्रद था, क्योंकि उस समय कंपनी बंगाल से प्रतिवर्ष 50,000 पौंड से भी अधिक मूल्य की वस्तुओं का निर्यात करती थी।

कंपनी की व्यापारिक गतिविधियों की शुरुआत

उड़ीसा के बालासोर में 1633 ई. में अंग्रेजों ने पूर्वी भारत में अपना प्रथम कारखाना स्थापित किया। शाहजहां के पुत्र शाहशुजा ने 1651 ई. में अंग्रेजों को बंगाल में भी

कारखाना स्थापित करने की अनुमति प्रदान कर दी। आरंभ में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की व्यापारिक गतिविधियां भारतीय अर्थव्यवस्था के हित में थीं और इस कारण मुगल शासक द्वारा कंपनी की गतिविधियों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। शासक द्वारा हस्तक्षेप नहीं करने का कंपनी ने गलत फायदा उठाया। औरंगजेब जब आंतरिक विद्रोहों का सामना कर रहा था, तब उसकी शक्ति को कम आंकते हुए कंपनी ने 1686 ई. में मुगलों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उस समय कंपनी की गतिविधियों के केंद्र हुगली को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया गया। अंग्रेजों का बुरी तरह से दमन कर दिया गया और मुगल सेना ने धीरे–धीरे दक्षिण भारत की कंपनी के कारखानों को भी अपने नियंत्रण में कर लिया।

मुगल सेना की शक्ति को देखते हुए कंपनी ने अपनी नीति बदल ली और 1668 ई. में मुगल दरबार में दस्तक देकर माफी मांग ली। औरंगजेब ने अपने पुत्र शाहशुजा के फरमान पर दस्तखत कर 1691 ई. में कंपनी को बिहार, बंगाल और उड़ीसा में स्वतंत्र व्यापार की अनुमति प्रदान कर दी। इसके बदले कंपनी ने मुगल सम्राट को 350 पौंड (3000 रुपये) वार्षिक की दर से रकम देना स्वीकार कर लिया। 1690 में जॉब चारनॉक ने सूतानाती में अंग्रेज कोठी की स्थापना की। 1698 ई. में कंपनी को सूतानाती, गोविंदपुर एवं कालिकता की जमींदारी मिली। जॉब चारनॉक ने जमींदारी के लिए मिले इन तीनों गांवों को मिलाकर फोर्ट विलियम की स्थापना की। बाद में फोर्ट विलियम ने कलकत्ता के रूप में बंगाल और संपूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी का स्थान प्राप्त किया। 1700 ई. में फोर्ट विलियम में प्रेसिडेंट ऑफ काउंसिल की स्थापना की गयी और बंगाल को प्रेसीडेंसी बना दिया गया। इसके पूर्व बंगाल के सारे अंग्रेजी कारखाने मद्रास प्रेसीडेंसी के नियंत्रण में थे। बंगाल प्रेसीडेंसी का पहला प्रेसिडेंट होने का गौरव चार्ल्स आयर को प्राप्त हुआ।

अंतिम शक्तिशाली मुगल सम्राट औरंगजेब की 1707 ई में मृत्यु हो गई और उसके बाद बंगाल के मुगल सूबेदार मुर्शीद कुली खां ने वहां स्वतंत्र सत्ता की स्थापना कर ली। मुर्शीद ने बंगाल में अंग्रेजों की गतिविधियों को नियंत्रित करने का प्रयास किया। उसने बिहार को भी बंगाल का हिस्सा बना दिया और मुर्शिदाबाद को बंगाल की राजधानी बनाकर मुगलों के उत्तरवर्ती स्वायत्त राज्यों में बंगाल को सर्वाधिक समृद्ध बना दिया। बाद में शुजाउद्दीन के प्रयासों से उड़ीसा भी बंगाल के अधिकार में आ गया।

मुर्शीद कुली खां ने बंगाल में अंग्रेजों की गतिविधियों को कठोरतापूर्वक नियंत्रित कर दिया तो अंग्रेजों ने एक बार फिर से मुगल सम्राट की शरण ली। 1715 ई. में एक ब्रिटिश शिष्टमंडल मुगल सम्राट फर्रुखशियर के दरबार में गया। इस शिष्टमंडल में एक चिकित्सक भी था, जिसने फर्रुखशियर की पुत्री की एक साधारण–सी बीमारी का इलाज किया और इससे खुश होकर अदूरदर्शी फर्रूखशियर ने 1717 ई. में एक फरमान जारी किया और औरंगजेब द्वारा 1691 ई. में प्रदान किए गए मुक्त व्यापार के अधिकार को फिर से लागू कर दिया। 1713 ई. में मुर्शीद कुली खां ने कंपनी के मुक्त व्यापार के अधिकार को समाप्त कर दिया था और यदि इस समय मुगल शासक ने मुर्शीद का साथ दिया होता तो अंग्रेजों के पांव बंगाल से उखड़ गए होते। परंतु, मुगल सम्राट ने तो कंपनी को संरक्षण प्रदान कर बंगाल में उसकी जड़ें और मजबूत कर दीं।

प्लासी और बक्सर

अंग्रेजों ने बंगाल में अपनी प्रथम कोठी (गोदाम) 1651 ई. में हुगली में बंगाल के तत्कालीन सूबेदार शाहजहां के दूसरे पुत्र शाहशुजा की अनुमति से खोली। उसी वर्ष शाहशुजा ने प्रसन्न होकर अंग्रेजों को 3000 रुपये वार्षिक में बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में मुक्त व्यापार की अनुमति प्रदान कर दी। शीघ्र ही अंग्रेजों ने कासिम बाजार, पटना तथा अन्य स्थानों पर भी कोठियां बना लीं। 1741 ई. में बिहार का नायब सूबेदार अली वर्दी खां बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के नवाब सरफराज खां से विद्रोह कर उसे मारकर स्वयं इस समस्त प्रदेश का नायब बन गया। अली वर्दी खां की 1756 ई. में मृत्यु के बाद उसका दामाद सिराजुद्दौला उसका उत्तराधिकारी बना। सिराजुद्दौला के समक्ष, प्रतिद्वंदी पूर्णिया के नवाब शौकतजंग और अपनी मौसी घसीटी बेगम के साथ–साथ अंग्रेजों की भी समस्या थी। अंग्रेजों ने घसीटी बेगम को प्रत्यक्ष रूप से समर्थन दिया तथा बंगाल के भगोड़ों को शरण दी। क्रुद्ध होकर नवाब ने 15 जून, 1756 को फोर्ट विलियम को घेर लिया। अंग्रेजों ने आत्मसमर्पण कर दिया। नवाब कलकत्ता को माणिकचंद को देकर स्वयं मुर्शिदाबाद लौट गया। गवर्नर राजर ड्रेक भाग निकला था।

काल कोठरी (ब्लैक होल) की घटना

फोर्ट विलियम पर आक्रमण के पश्चात् युद्ध की आम प्रणाली के अनुसार अंग्रेज बंदियों को जिनमें स्त्रियों तथा बच्चे भी सम्मिलित थे एक कक्ष में बंद कर दिया गया। कहा जाता है कि 18 फुट लंबे तथा 14 फुट 10 इंच चौड़े कक्ष में 146 लोगों को बंद कर दिया गया। 20 जून की रात्रि को इन्हें बंद किया गया तथा अगली सुबह जब कक्ष को खोला गया तो उसमें केवल 23 व्यक्ति ही जीवित बचे थे। शेष व्यक्ति जून की गर्मी तथा कुचले जाने के कारण मर गए। इस घटना के लिए सिराजुद्दौला को उत्तरदायी माना गया। इसे ही 'ब्लैक होल' घटना के नाम से जाना जाता है।

प्लासी का युद्ध (23 जून, 1757)

कलकत्ता के पतन की सूचना जब मद्रास पहुंची तो समुद्री मार्ग से एडमिरल वाटसन और स्थल मार्ग से क्लाइव को भेजा गया। 2 जनवरी, 1757 ई. को अंग्रेजों ने कलकत्ता पर पुनः अधिकार कर लिया तथा हुगली के आसपास के प्रदेशों को लूटा। सिराजुद्दौला एक बड़ी सेना लेकर कलकत्ता की ओर गया। परंतु एक साधारण से युद्ध के पश्चात् उसने अंग्रेजों से अलीनगर की संधि कर ली।

लेकिन शीघ्र ही परिस्थितियां बदल गईं तथा अलीनगर की संधि से उत्पन्न सद्भावना खत्म हो गई और दोनों पक्षों ने संधि की शर्तों का उल्लंघन करना प्रारंभ कर दिया। ऐसी स्थिति में युद्ध होना अवश्यंभावी हो गया और उसमें अधिक देर भी नहीं लगी।

युद्ध के कारण

1. **अंग्रेजों द्वारा नवाब पर उसके द्वारा दिए गए आश्वासनों को पूरा न करने का दोषारोपण :** नवाब ने अपने कुछ व्यक्तिगत पत्रों में अंग्रेजों को यह आश्वासन दिया था कि नवाब अंग्रेजों के शत्रुओं से मित्रता नहीं करेगा। अंग्रेजों ने इस आश्वासन को भी संधि की शर्तों की भांति माना। लेकिन नवाब ने इस

बात को स्वीकार नहीं किया तथा 1757 में अंग्रेजों द्वारा चंद्रनगर पर आक्रमण किए जाने के समय फ्रांसीसियों की सहायता की। इसे अंग्रेजों ने अत्यंत बुरा माना तथा नवाब पर संधि तोड़ने का आरोप लगाया।

2. **अलीनगर की संधि की शर्तों को पूरा न करना** : अंग्रेजों और नवाब दोनों में से कोई इस संधि की शर्तों को पूरा करने के लिए तैयार न था। नवाब ने क्षतिपूर्ति के रूप में जो धन अंग्रेजों को देने का वादा किया था उसे पूरा नहीं किया। परंतु यही स्थिति अंग्रेजों की भी थी।

3. **सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यंत्र** : सिराजुद्दौला के विरुद्ध राज्य में तीव्र असंतोष व्याप्त था। उसने नवाब अली वर्दी खां की धार्मिक सहिष्णुता की नीति को त्याग दिया तथा धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा दिया, जिससे उसके राज्य की हिंदू जनता में तीव्र असंतोष की भावना जागृत हुई। इस कारण मुसलमान सरदार प्रभावशाली हिंदुओं की सहायता से नवाब के विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे थे जिसमें मीर जाफर प्रमुख था। हिंदुओं में महाराजा कृष्ण चंद्र तथा जगत सेठ विशेष रूप से उल्लेखनीय थे। शीघ्र ही अंग्रेज भी इस षड्यंत्र में शामिल हो गए।

युद्ध की घटनायें

ऐसे समय में जब नवाब को उत्तर पश्चिम की ओर से अफगानों तथा पश्चिम की ओर से मराठों के आक्रमण का भय था, ठीक उसी समय क्लाइव ने सेना सहित नवाब के विरुद्ध मुर्शिदाबाद की ओर प्रस्थान किया। 23 जून, 1757 को प्रतिद्वंद्वी सेनाएं मुर्शिदाबाद के दक्षिण में स्थित प्लासी नामक ग्राम में आपस में टकराईं। नवाब की ओर से सेना का नेतृत्व विश्वासघाती मीर जाफर कर रहा था। युद्ध के पहले चरण में नवाब की अग्रगामी टुकड़ी, जिसका नेतृत्व मीर मदान तथा मोहनलाल कर रहे थे, अंग्रेजों से बाजी मार ले गई। लेकिन सहसा एक गोली के लगने से मीर मदान मारा गया। नवाब सिराजुद्दौला ने अपने अधिकारियों से मंत्रणा की। मीर जाफर की सलाह से सेना पीछे हट गई तथा सिराजुद्दौला वापस मुर्शिदाबाद लौट गया।

विजय पर मीर जाफर ने क्लाइव को बधाई दी। मीर जाफर 25 जून को मुर्शिदाबाद लौटा तथा अपने को नवाब घोषित कर दिया। सिराजुद्दौला को बंदी बनाकर उसकी हत्या कर दी गई।

प्लासी युद्ध के परिणाम

जी.बी. मालेसन के अनुसार, प्लासी के युद्ध के परिणाम स्थायी, दूरगामी तथा महत्वपूर्ण थे। प्लासी से अंग्रेजों को ऐसा आधार मिला जिससे वे भारत में राजनीतिक भूमिका निभाने के लिए प्रेरित हुए। प्लासी के युद्ध के द्वारा अंग्रेजों को बंगाल का प्रदेश प्राप्त हुआ। उस समय बंगाल भारत का सबसे समृद्ध प्रांत था। बंगाल व्यापारिक व हस्तशिल्प उद्योगों की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। बंगाल का तटीय भाग पर होना भी अंग्रेजों के लिए अति लाभकारी था। बंगाल विजय की पहली किस्त के रूप में अंग्रेजों को 8 लाख पौंड राशि चांदी के सिक्कों के रूप में प्राप्त हुई। बंगाल विजय के बाद अंग्रेजों द्वारा किए गए आर्थिक शोषण ने अंग्रेजों को आर्थिक रूप से बहुत मजबूत बना दिया। इसी यकायक बढ़ी हुई शक्ति के कारण फ्रांसीसी व अन्य शक्तियां अंग्रेजों से

प्रतिस्पर्धा में बुरी तरह पिछड़ गईं। आंग्ल–फ्रांसीसी युद्धों में अंग्रेजों की विजय का एक कारण अंग्रेजों को बंगाल से मिलने वाली व्यापक आर्थिक मदद भी थी।

बंगाल के लाभों ने कंपनी को अपनी व्यापारिक भूमिका त्यागकर भारतीय प्रदेशों में सक्रिय राजनीतिक भूमिका निभाने को प्रेरित किया, जिसके फलस्वरूप वे भारत के आंतरिक प्रदेशों में राजनीतिक शक्ति के विस्तार के प्रयासों की योजना बनाने लगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्लासी के युद्ध ने अंग्रेजों के साम्राज्य विस्तार तथा उनकी अपराजेयता को सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

युद्ध का महत्व

सामरिक दृष्टि से तो प्लासी का युद्ध बहुत महत्वपूर्ण नहीं था तथा यह एक छोटी सी झड़प थी लेकिन यह युद्ध बंगाल में बाद की घटनाओं के लिये बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस युद्ध के पश्चात् बंगाल अंग्रेजों के अधीन हो गया तथा फिर स्वतंत्र नहीं हो सका। बंगाल का नया नवाब अपनी रक्षा तथा पद के लिये अंग्रेजों पर निर्भर था। अतः शनैः–शनैः उसकी संपूर्ण शक्ति कंपनी के हाथों में चली गई। अंग्रेज रेजिडेंट मि. वाट्स का विशेष प्रभाव था। प्लासी के युद्ध के बाद होने वाली लूट ने अंग्रेजों को अनंत साधनों का स्वामी बना दिया। 'वेरेल्ट्रस' के मतानुसार बंगाल के इस धन से ही अंग्रेजों ने दक्कन भारत को जीत लिया तथा उत्तरी भारत को अपने प्रभाव में ले लिया।

कंपनी की स्थिति का भी कायाकल्प हो गया। पहले वह विदेशी कंपनियों में से एक थी, जिसे नवाब के अधिकारियों को धन देना पड़ता था। अब उसका बंगाल के व्यापार पर एकाधिकार हो गया। भारत के भाग्य पर भी प्लासी के युद्ध का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इस युद्ध ने अंग्रेजों के पैर भारत में अच्छी तरह जमा दिए तथा अन्य शक्तियों पर उनकी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध कर दी।

इस प्रकार प्लासी के युद्ध का विशेष सामरिक महत्व न होते हुए भी अनेकानेक कारणों से उसने भारतीय इतिहास तथा उसकी घटनाओं को प्रभावित किया, जिसके दूरगामी परिणाम हुए।

मीर जाफर का पद से हटना तथा बंगाल की दूसरी क्रांति (1760 ई.)

मीर जाफर साहसहीन और अयोग्य व्यक्ति था। वह बंगाल का नाममात्र का शासक रहा। वह न तो शासन की देखभाल कर सका और न ही नवाब के सम्मान की रक्षा ही कर सका। वह अंग्रेजों की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं को भी रोकने में असमर्थ रहा। इसी कारण उसे तीन वर्षों में ही पद से हटना पड़ा।

कुछ समय बाद मीर जाफर अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्त होने के लिए डचों के साथ सांठगांठ करने लगा लेकिन क्लाइव ने इस षड्यंत्र को शीघ्र ही 'बेदरा के युद्ध' (1759) में डचों को परास्त कर विफल कर दिया।

फरवरी 1760 में क्लाइव भारत से चला गया तथा उसी वर्ष उसने मीर जाफर को पद से हटने के लिए बाध्य कर दिया। मीर जाफर को बंगाल की गद्दी से हटाए जाने के कारण थे–

1. मीर जाफर की दुर्बलता,
2. संधि की शर्तों के अनुसार मीर जाफर की अंग्रेजों को धन देने में असमर्थता,

3. नवाब का डचों से पत्र व्यवहार,
4. नवाब के प्रति हॉलवेल का रुख,
5. अंग्रेजों की धन प्राप्त करने की लालसा, तथा
6. अन्य घटनाएं।

हॉलवैल ने मीर जाफर पर अनेक आरोप लगाए तथा उसे मुरादाबाद में आमंत्रित कर मीर कासिम के पक्ष में गद्दी छोड़ने को कहा गया। नवाब ने लौटकर अपने मित्रों से सलाह करनी चाही लेकिन अंग्रेजों ने यह आज्ञा न दी तथा दूसरे ही दिन नवाब के महल का घेरा डाल दिया। मीर जाफर कलकत्ता चला गया तथा उसे मीर कासिम की तरफ से पेंशन दी जाने लगी। इस प्रकार बंगाल में दूसरी क्रांति हुई।

बक्सर का युद्ध (23 अक्टूबर, 1764 ई.)

मीर कासिम, मीर जाफर का दामाद था। वह 1756 ई. के बाद हुए नवाबों में (बंगाल के) सबसे अधिक योग्य था। उसने नवाब बनते ही अपनी योग्यता का परिचय दिया। उसने अंग्रेजों से किए गए सभी वादों को पूरा किया तथा राज्य की वित्तीय स्थिति को सुधारने का प्रयास किया। उसने कुछ नवीन कर 'आबवाब' लगाए तथा सैन्य व्यवस्था को भी सुधारा। वह 'अपनी राजधानी को मुर्शिदाबाद से मुंगेर ले गया' तथा अनेक प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों एवं गोला–बारूद की फैक्ट्री स्थापित की। परंतु मीर कासिम की योग्यता ही उसके पतन का कारण बनी, क्योंकि उसने अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बनने से इनकार कर दिया तथा इसीलिए अंग्रेज उसे हटाने की सोचने लगे और उनके मध्य झगड़े के निम्नलिखित कारण उपलब्ध हो गए–

1. **बंगाल की सत्ता का मुद्दा** : मीर कासिम और अंग्रेजों के मध्य झगड़े का प्रमुख कारण सत्ता का प्रश्न था। मीर कासिम अंग्रेजों के वादों को पूरा करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना चाहता था तथा वह अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बनने को तत्पर न था, जबकि अंग्रेजों को एक ऐसे दुर्बल शासक की तलाश थी जो उनके इशारों पर कार्य कर सके।
2. **रामनारायण का मुद्दा** : रामनारायण नवाब का नायब–दीवान था। नवाब उससे अप्रसन्न हो गया तब उसने भागकर अंग्रेजों की शरण ली। नवाब ने उसे अंग्रेजों से वापस मांगा। उस अवसर पर कंपनी का गवर्नर एक सज्जन व्यक्ति वेन्सिटार्ट था, जिसने रामनारायण को नवाब को सौंप दिया। इससे मीर कासिम को मनोबल प्राप्त हुआ तथा वह अंग्रेजों के विरुद्ध कार्य करने का साहस कर सका।
3. **शहजादे 'शाहजादा' का मामला** : मुगल बादशाह आलमगीर द्वितीय की 1760 ई. में हत्या कर दी गई। इस अवसर पर मुगल शहजादा 'शाहजादा' बिहार में था। उसने अपने को 'शाहआलम द्वितीय' के नाम से मुगल बादशाह घोषित कर दिया। उसने अंग्रेजों से बातचीत की तथा पटना गया। अंग्रेजों ने मीर कासिम से शाहआलम द्वितीय को मुगल बादशाह स्वीकार करने को कहा लेकिन मीर कासिम ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। परंतु कुछ समय बाद अंग्रेजों की धमकी के कारण मजबूरीवश मीर कासिम को ऐसा करना पड़ा।

लेकिन इस घटना ने मीर कासिम और अंग्रेजों के बीच संदेह एवं संघर्ष की भावना को जन्म दिया।

4. **व्यापार का मुद्दा :** मीर कासिम और अंग्रेजों के झगड़े का यह भी एक प्रमुख कारण था। इस समय तक कंपनी बंगाल, बिहार, तथा उड़ीसा में बिना कर दिए व्यापार करती थी। साथ ही कंपनी के व्यापारी अपने 'दस्तक' (Free pass) को भी भारतीय व्यापारियों को बेच देते थे। इससे न केवल नवाब की आय में कमी होती थी, बल्कि उसके शासन में भी दुर्बलता आती थी। दूसरी ओर भारतीय व्यापारियों को कर देना पड़ता था।

   1762 ई. से मीर कासिम ने इस कर को खत्म कर दिया, जिससे अंग्रेजों का व्यापारिक लाभ कुछ कम हो गया।

इस प्रकार नवाब की व्यापारिक नीति नवाब तथा कंपनी के अन्य झगड़े का एक प्रमुख कारण बनी।

युद्ध की घटनायें

10 जून, 1763 से व्यापार का झगड़ा युद्ध में परिवर्तित हो गया। सितंबर तक ही नवाब की तीन स्थानों पर पराजय हुई। इससे मीर कासिम का साहस टूटने लगा। ऐसी निराशा के समय वह पटना गया जहां के अंग्रेज गवर्नर एलिस से उसका मुख्य झगड़ा था। पटना में उसने कुछ भारतीय तथा अंग्रेज युद्ध बंदियों को कत्ल करा दिया, जो 'पटना हत्याकांड' के नाम से जाना जाता है। परंतु इससे भी मीर कासिम को सफलता प्राप्त न हो सकी।

इसके पश्चात् मीर कासिम ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा शाहआलम से सहायता मांगी। 1764 ई. को अवध के नवाब और मुगल बादशाह के वजीर शुजाउद्दौला तथा स्वयं मुगल बादशाह शाहआलम की सम्मिलित सेनाओं ने बिहार में प्रवेश किया। अंग्रेजों की ओर से मेजर हैक्टर मुनरो ने सेना का मुकाबला किया और 23 अक्टूबर, 1764 के दिन बक्सर का युद्ध हुआ, जिसमें नवाब तथा मुगल बादशाह की सेनाओं की पराजय हुई। 3 मई, 1765 को कड़ा में एक और युद्ध हुआ, जिसके बाद अवध का नवाब और मुगल बादशाह पूर्णतः अंग्रेजों पर आश्रित हो गए। मीर कासिम भाग निकला तथा 1777 में दिल्ली के निकट उसका निधन हो गया।

परिणाम

बक्सर का युद्ध, प्लासी के युद्ध से अधिक महत्वपूर्ण था। प्लासी के युद्ध ने केवल अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा का मालिक ही बनाया था लेकिन बक्सर के युद्ध ने अवध के नवाब और मुगल बादशाह के वजीर शुजाउद्दौला तथा स्वयं मुगल बादशाह को अंग्रेजों की दया पर छोड़ दिया। इस युद्ध से अंग्रेजों का प्रभाव संपूर्ण भारत में फैल गया। अब बंगाल का नवाब उनके हाथों की कठपुतली, अवध का नवाब उन पर निर्भर रहने वाला मित्र तथा मुगल बादशाह उनका पेंशनर बन गया। इस युद्ध के बाद अंग्रेजों को दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया।

इस प्रकार यह अंग्रेजों की सैनिक श्रेष्ठता तथा सफलता का प्रमाण था।

भारत में अंग्रेजों की सफलता के कारण

भारत में अंग्रेजों की सफलता की पृष्ठभूमि यदि एक ओर भारतीय इतिहास से सहज संबंध है, तो विश्व इतिहास की अनेक घटनाओं ने भी ऐतिहासक शक्तियों की भूमिका निभायी।

पंद्रहवीं शताब्दी में यूरोपीय शक्तियों द्वारा की गयी भौगोलिक खोजों ने आने वाले समय के विश्व के मानचित्र की धारायें ही बदल दीं। 1487 ई. में उत्तमाशा अंतरीप खोज लिया गया तथा 1498 ई. में वास्को–डि–गामा भारत पहुंच गया। इसी नये मार्ग से समस्त यूरोपीय शक्तियां भारतीय उप–महाद्वीप एवं दक्षिण–पूर्व एशियाई देशों में पहुंचीं और एशिया का इतिहास नये सिरे से लिखा गया।

मुगल जिस सैनिक परम्परा के वाहक थे, उसमें स्थलशक्ति की ही प्रधानता थी एवं इस क्षेत्र में मुगलों की स्थिति निश्चित रूप से बहुत सुदृढ़ थी। परंतु समय परिवर्तित हो चुका था। भारत में यूरोपीय शक्तियों का आगमन ऐतिहासिक घटना थी किंतु इसे मुगल समझ नहीं सके। पुर्तगाली शक्ति ने भारत आकर हिन्द महासागर पर अधिकार कर लिया। यद्यपि पुर्तगालियों ने भारतीय व्यापार में वृद्धि की लेकिन उनके आगमन के दूरगामी परिणाम भी हुये। इसे समझने में मुगल शासक असफल रहे। पुर्तगालियों ने अरबों को भी खदेड़ दिया तथा धीरे–धीरे इस क्षेत्र पर इतना वर्चस्व स्थापित कर लिया कि बाद में मुगलों को भी समुद्र में उनके संरक्षण की आवश्यकता पड़ने लगी। हज यात्रियों से लदे जहाज पुर्तगाली संरक्षण में ही ले जाये जाते थे। जिस प्रकार मिश्र अरब सागर क्षेत्र में पुर्तगालियों को नियंत्रित करने में सफल रहा एवं उनसे बराबर धन वसूलता रहा, वैसा मुगल शासक नहीं कर सके। उनसे धन वसूलने की बात तो दूर, वे पुर्तगालियों पर नियंत्रण तक नहीं रख सके। तटीय भारत के कुछ शासकों ने हालांकि इस संबंध में प्रयास किये किंतु आवश्यक संसाधनों के अभाव में इस कार्य में सफल नहीं हो सके।

भारतीय समृद्धि से यूरोप सदियों से परिचित था, व्यापारिक संबंध भी सदियों तक कायम थे। किंतु पुर्तगालियों की सफलता ने कई अन्य यूरोपीय शक्तियों को भी भारत आने के लिये प्रोत्साहित किया, जिनमें अंग्रेज भी थे।

अंग्रेज भारत में पहली सभी यूरोपीय शक्तियों में से एक थे लेकिन धीरे–धीरे वे सभी भारतीय एवं यूरोपीय शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ बन गये। भारत में अंग्रेजों की सफलता के अनेक कारण थे। इन कारणों में एक प्रमुख कारण श्रम का वैज्ञानिक विभाजन भी था। इससे व्यापार में नुकसान की आशंका नहीं होती थी और इस कारण इसमें बड़े पैमाने पर निवेश होता था। कालांतर में डच व्यापारी ब्रिटिश जहाजों में निवेश करने लगे। अंग्रेज कप्तानों को प्राप्त होने वाला वेतन एवं अन्य सुविधायें भी अत्यंत आकर्षक थीं, फलतः इस व्यापार के प्रति योग्य एवं कुशल अंग्रेजों का आकर्षण बढ़ा।

दुर्भाग्यवश अठारहवीं सदी की शुरुआत अंग्रेजों के लिये निराशाजनक रही। स्पेन के उत्तराधिकार युद्ध, तुर्की के साथ युद्ध तथा नार्डिक युद्ध इत्यादि में इंग्लैण्ड और अन्य यूरोपीय शक्तियां व्यस्त रहीं। परंतु तीसरे दशक से फिर से अनुकूल स्थितियों के निर्मित होने से तथा राजनीतिक स्थायित्व आने से वहां समृद्धि बढ़ने लगी।

18वीं शताब्दी से भारत अव्यवस्था के दौर से गुजर रहा था। स्थानीय शक्तियां एक–दूसरे के विरुद्ध युद्ध में उलझी हुयी थीं एवं व्यापार के संबंध में नीतियां लगभग नगण्य थीं। मराठों एवं अन्य शक्तियों की लूट से बचने के लिये अंग्रेजों ने अपनी फैक्ट्रियों को दुर्गीकृत करना एवं स्वयं को सैन्य रूप से सशक्त बनाना प्रारंभ कर दिया। यही सैन्य सबलता आगे चलकर अंग्रेजों के लिये सफलता का कारण बनी। अंग्रेजों ने सैन्य शक्ति के साथ ही कूटनीतिक उपायों को भी अपनाया तथा यथासंभव सभी प्रकार से साधनों का प्रयोग अपने हित साधन हेतु किया। वास्तव में जो शक्तियां अंग्रेजों को चुनौती दे सकती थीं वे आपस में ही उलझकर दुर्बल हो गयीं। यह भी अंग्रेजों की सफलता के लिये लाभदायक रहा।

अंग्रेजों को अनेक योग्य अधिकारियों एवं प्रशासकों की सेवाएं प्राप्त थीं, जैसे– क्लाइव, वेन्सिटार्ट, कैम्पबेल, हैक्टर मुनरो, वारेन हेस्टिंग्स, कार्नवालिस इत्यादि। इन सभी ने भारत में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रारंभ से उसे ब्रिटिश शासन बनने तक के क्रम में महत्वपूर्ण सहायता पहुंचायी। इन अधिकारियों के पराक्रम एवं बौद्धिक चातुर्य के फलस्वरूप ही अंग्रेज प्रत्येक क्षेत्र में निरंतर सफलता प्राप्त करते रहे। अंग्रेजों को इंग्लैण्ड की सरकार से पूर्ण सहयोग एवं समर्थन मिलता रहा। फ्रांसीसियों के विपरीत अंग्रेजों की लगभग प्रत्येक गतिविधि एवं कार्यों का लंदन स्थित सरकार ने समर्थन किया तथा आवश्यकता पड़ने पर उन्हें अधिकाधिक सहायता उपलब्ध करायी।

इस प्रकार अनेकानेक कारण थे, जो भारत में अंग्रेजों की सफलता के कारण बने तथा उन्होंने अंग्रेजों को भारत में सर्वोच्च बना दिया।

आंग्ल–मैसूर संघर्ष

दक्षिण के मैसूर राज्य में बुदीकोट नामक स्थान पर 1721 ई. में हैदर अली का जन्म हुआ था। उसके पूर्वज दिल्ली से गुलबर्ग आए थे और कृषि कार्य करते थे। सर्वप्रथम हैदर अली के पिता फतह मुहम्मद सैनिक सेवा में आए थे तथा अपनी योग्यता से सूबेदार के पद तक पहुंचे। 1728 ई. में फतह मुहम्मद की मृत्यु हो गई। उस समय हैदर अली की उम्र 7 वर्ष थी।

इसके पश्चात् कठिनाई से जीवन व्यतीत करते हुए 1755 ई. में उसे डिण्डिगुल का फौजदार नियुक्त किया गया। इस दौरान मैसूर का राजा कृष्णराज था, लेकिन सत्ता की वास्तविक शक्ति नंदराज के हाथों में थी। इस पद पर रहते हुए हैदर अली ने अपनी शक्ति में पर्याप्त वृद्धि की।

1760 ई. में राज्य की शक्ति को हैदर अली ने अपने हाथों में ले लिया तथा 1761 ई. में मैसूर राज्य का सर्वेसर्वा बन गया तथा कृष्णराज वाडियार केवल नाममात्र का शासक रह गया।

1764 ई. में पेशवा माधवराव ने हैदर अली को एक युद्ध में परास्त किया तथा 1765 ई. में हैदर अली को मराठों से संधि करके उन्हें अपना कुछ भूक्षेत्र तथा 28 लाख रुपये प्रतिवर्ष देने का वादा करना पड़ा। 1765 ई. में निजाम ने अंग्रेजों की सहायता लेकर हैदर अली पर आक्रमण किया। मराठे भी इस संधि में सम्मिलित हो गए और इस प्रकार 1766 ई. से हैदर अली तथा अंग्रेजों का संघर्ष प्रारंभ हो गया।

प्रथम आंग्ल–मैसूर युद्ध (1766–1769 ई.)

बंगाल की विजय से उन्मत्त अंग्रेजों ने 1776 ई. में हैदराबाद के निजाम निजाम अली से संधि कर ली जिससे कंपनी ने उत्तरी सरकारों के बदले निजाम को हैदर अली के विरुद्ध सहायता देने का वचन दिया। शीघ्र ही हैदर अली को एहसास हुआ कि उसके विरुद्ध निजाम, मराठों तथा कर्नाटक के नवाब का सम्मिलित मोर्चा बन गया है। इस अवसर पर हैदर अली ने कूटनीति से काम लिया तथा मराठों और निजाम को प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया, फिर कर्नाटक पर आक्रमण किया। डेढ़ वर्षों के अनिर्णायक युद्ध के पश्चात् हैदर अली ने अंग्रेजों की बाजी उलट दी तथा मद्रास को घेर लिया। भयभीत हुए अंग्रेजों ने हैदर अली से (4 अप्रैल, 1769 ई.) में अपमानजनक संधि की, जिसमें दोनों पक्षों ने विजित प्रदेश एक–दूसरे को लौटा दिए तथा दोनों दलों ने एक–दूसरे को आरक्षण देने का वचन दिया।

द्वितीय आंग्ल–मैसूर युद्ध (1780–1784 ई.)

1769 ई. की संधि, संधि न रहकर युद्ध विराम ही रह गया था। अंग्रेज तथा हैदर अली दोनों ने एक–दूसरे पर इस संधि की शर्तों के उल्लंघन का आरोप लगाया। संधि की शर्तों के अनुसार, जब 1771 ई. में मराठों ने हैदर अली पर आक्रमण किया तो अंग्रेजों ने उसकी कोई अनुकूल सहायता न की। इन्हीं परिस्थितियों में जब अंग्रेजों ने माही, जिसे हैदर अली अपने संरक्षण में समझता था, को जीतने का प्रयत्न किया तो यह हैदर अली को स्पष्ट चुनौती थी।

हैदर अली ने मराठों तथा निजाम के साथ एक संयुक्त मोर्चा बनाकर जुलाई 1780 में कर्नाटक पर आक्रमण किया तथा कर्नल बेली की सेना को हराकर अर्काट जीत लिया। इसी बीच मराठे तथा निजाम हैदर अली से अलग हो गए तथा नवंबर 1781 में पोर्टोनोवो के स्थान पर हैदर अली बुरी तरह पराजित हुआ। परंतु अगले ही वर्ष हैदर अली ने कर्नल 'ब्रेथवेट' के अधीन सेना को बुरी तरह हराया तथा ब्रेथवेट को बंदी बना लिया। परंतु 7 दिसंबर, 1782 को हैदर अली की कैंसर से अर्काट के निकट मृत्यु हो गई।

हैदर अली की मृत्यु के बाद भी उसके पुत्र टीपू सुल्तान ने युद्ध जारी रखा परंतु 1 वर्ष के युद्ध के पश्चात् भी कोई पक्ष निश्चित विजय प्राप्त न कर सका। अंत में दोनों पक्षों ने संधि करना ही उचित समझा और मार्च 1784 ई. में मंगलौर की संधि द्वारा दोनों पक्षों ने विजित प्रांत एक–दूसरे को लौटा दिए। युद्ध का यह दूसरा दौर अनिश्चित रहा।

तृतीय आंग्ल–मैसूर युद्ध (1790–1792 ई.)

अंग्रेजी साम्राज्यवादी परंपरा के अनुकूल, अंग्रेजों ने मंगलौर की संधि को आने वाले आक्रमण के लिए केवल सांस लेने का ही समय माना। 1790 ई. में कार्नवालिस ने टीपू के विरुद्ध त्रिदलीय संगठन रचा। टीपू ने भी विदेशी सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न इसी अवसर पर किया।

कोचीन रियासत में स्थित जैकोटे तथा क्रगानूर मोल लेने के विषय पर टीपू का त्रावणकोर के महाराजा से झगड़ा हो गया। अतः अप्रैल 1790 ई. में टीपू ने त्रावणकोर

पर आक्रमण करने का निर्णय लिया। कार्नवालिस ने त्रावणकोर के महाराजा का पक्ष लेते हुए टीपू पर आक्रमण कर दिया और वेल्लौर तथा अम्बूर से होता हुआ बंगलौर तक पहुंच गया, जो उसने मार्च 1791 ई. में जीत लिया तथा श्रीरंगापट्टनम तक पहुंच गया। अंग्रेजों ने कोयम्बटूर भी जीत लिया लेकिन शीघ्र ही उसे खो भी दिया। मराठों तथा निजाम की सहायता से उन्होंने पुनः श्रीरंगापट्टनम पर चढ़ाई की। टीपू ने कड़ा प्रतिरोध किया परंतु जब उसने देखा कि युद्ध जारी रखना असंभव है तो हताश होकर मार्च 1792 में श्रीरंगापट्टनम की संधि की। इस संधि के अनुसार–

1. टीपू का लगभग आधा राज्य उससे छीन लिया गया।
2. टीपू को 30 लाख से अधिक धन युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में देना पड़ा।
3. अंग्रेजों को कुर्ग के राजा पर आधिपत्य प्राप्त हुआ।
4. भविष्य की सुरक्षा के लिए उसे अपने दो पुत्र अंग्रेजों को सौंपने पड़े।

इस युद्ध से टीपू को अत्यंत क्षति हुई।

चतुर्थ आंग्ल मैसूर युद्ध (1799 ई.)

तृतीय मैसूर युद्ध के अपमान एवं पराजय को टीपू भूलने को तैयार न था न ही उसने अभी भी अपनी पराजय स्वीकार की थी। अतः उसने पुनः अपनी शक्ति को बढ़ाना प्रारंभ कर दिया। 1796 ई. में मैसूर के नाममात्र के राजा की मृत्यु हो गई तथा टीपू ने उसके अल्पायु पुत्र को गद्दी पर बैठाने से इंकार कर दिया। इसी अवसर पर टीपू ने काबुल, अरब, तुर्की तथा मॉरीशस से सहायता प्राप्त करने के लिए अपने दूत भेजे। उसने फ्रांसीसी सहायता की भी कोशिश की तथा 'जैकोबिन दल' का सदस्य बना और स्वयं को 'नागरिक टीपू' कहा।

इसके पश्चात् वेलेजली ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया तथा मैसूर पर आक्रमण की योजना बनाई और 1799 ई. में मैसूर पर आक्रमण आरंभ किया। ऑर्थर वेलेजली और जनरल हैरिस के नेतृत्व में एक सेना ने मार्च 1799 में मैसूर पर आक्रमण किया। पश्चिम से एक दूसरी सेना ने जनरल स्टुअर्ट के नेतृत्व में मैसूर पर धावा बोला। जनरल स्टुअर्ट ने टीपू को सदासीरी और जनरल हैरिस ने टीपू को माल्वेली के युद्ध में परास्त किया। टीपू ने भागकर श्रीरंगापट्टनम के किले में शरण ली। 17 अप्रैल, 1799 को श्रीरंगापट्टनम का घेरा डाल दिया गया और 4 मार्च, 1799 ई. को इस पर अधिकार कर लिया गया। टीपू किले की दीवार पर युद्ध करता हुआ मारा गया तथा उसके पुत्रों ने आत्मसमर्पण कर दिया। टीपू का परिवार वेल्लौर के किले में भेज दिया गया, जहां उसे बंदी की भांति रखा गया।

33 वर्ष पूर्व स्थापित इस युद्ध से मैसूर राज्य का अंत हो गया। अंग्रेजों ने पश्चिम में कनारा, दक्षिण पश्चिम में बाइनाद, कोयम्बटूर और दापुरम के जिले तथा श्रीरंगापट्टनम को सम्मिलित करते हुए पूर्व में दो अन्य जिले प्राप्त किए। बाकी बचा हुआ मैसूर राज्य पुराने हिंदू राजा के अल्पायु पुत्र को दे दिया गया।

आंग्ल–मराठा संघर्ष

मुगल साम्राज्य के खंडहरों पर मराठों ने अपना साम्राज्य बनाया। उन्हीं परिस्थितियों से अंग्रेजों ने भी लाभ उठाया। मराठे शेष भारतीय शक्तियों में तथा अंग्रेज कंपनी शेष

यूरोपीय कंपनियों में सर्वश्रेष्ठ बनकर उभरे। अतः 18वीं शताब्दी के अंतिम 25 वर्षों में दोनों की टक्कर हुई, जिसमें अंततः अंग्रेजों की विजय हुई तथा मराठों की पराजय।

प्रथम अंग्रेज–मराठा युद्ध (1775–82 ई.)

प्रथम आंग्ल–मराठा युद्ध का कारण मराठों के आपसी झगड़े तथा अंग्रेजों की महत्वाकांक्षाएं थीं। क्लाइव की द्वैध शासन–प्रणाली को बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा में स्थापित करने के बाद कंपनी उसे महाराष्ट्र में लागू करने की इच्छुक थी। दूसरी ओर 1772 ई. में माधवराव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नारायण राव अपने चाचा रघुनाथराव की महत्वाकांक्षाओं के कारण षड्यंत्र का शिकार बन गया। लेकिन नारायण राव के मरणोपरांत पुत्र उत्पन्न होने से रघुनाथराव निराश हो गया तथा उसने भागकर अंग्रेजों से सूरत की संधि (1775) कर ली जिससे उसे पेशवा पद प्राप्त हो सके। परंतु उसका प्रयत्न असामयिक सिद्ध हुआ। इस प्रकार पेशवा माधवराव नारायण द्वितीय के समय अंग्रेजों तथा मराठों का प्रथम युद्ध 1775 में आरंभ हुआ जो 1782 तक चला।

अंततः सालवाई की संधि (1782 ई.) द्वारा इस सप्तवर्षीय युद्ध का अंत हुआ। इस संधि के अनुसार एलीफेंटा तथा सालसीट पर कंपनी का अधिकार बना रहा तथा कंपनी ने नारायण राव के पुत्र माधवराव को पेशवा मान लिया। राघोबा को पेंशन दे दी गई। इस संधि से यद्यपि कंपनी की प्रतिष्ठा बच गई परंतु उसे भारी वित्तीय हानि उठानी पड़ी।

यह युद्ध अनिर्णित रहा तथा उसके पश्चात् 20 वर्षों तक शांति बनी रही। इससे केवल मैसूर के मामले में पूर्ण स्वतंत्रता मिल गई। दूसरी ओर कंपनी को मराठों की शक्ति का आभास हो गया। संधि के लिए सिंधिया ने मध्यस्तता की। इस युद्ध के समय कंपनी का गवर्नर जनरल 'वारेन हेस्टिंग्स' था।

द्वितीय अंग्रेज–मराठा युद्ध (1803–06 ई.)

यह युद्ध भी मराठों की आंतरिक कलह के कारण हुआ। सन् 1800 में नाना फड़नवीस की मृत्यु के बाद राघोबा के पुत्र पेशवा बाजीराव द्वितीय, जसवंतराव होल्कर तथा दौलतराव सिंधिया में पूना दरबार की प्रमुखता के लिए त्रिकोणीय संघर्ष प्रारंभ हुआ। इस त्रिकोणीय संघर्ष में सिंधिया ने होल्कर तथा पेशवा को संयुक्त रूप से पराजित कर पूना पर अधिकार कर लिया। पेशवा ने भागकर अंग्रेजों के यहां शरण ली तथा 31 दिसंबर, 1802 को अंग्रेजों से 'बेसीन की संधि' की। इस संधि के अनुसार–

1. पेशवा ने अंग्रेजी संरक्षण स्वीकार कर पूना में ब्रिटिश पद्धति की सेना रखना स्वीकार किया।
2. पेशवा ने सूरत कंपनी को दे दिया।
3. पेशवा ने गुजरात, ताप्ती और नर्मदा के मध्य के प्रदेश तथा तुंगभद्रा नदी के प्रदेश कंपनी को दे दिए।
4. पेशवा ने निजाम तथा गायकवाड़ के साथ संघर्ष में कंपनी की मध्यस्थता स्वीकार कर ली।
5. अपने विदेशी मामले कंपनी के अधीन कर दिए।
6. पेशवा ने सभी अंग्रेज–विरोधी लोगों को सेवानिवृत्त कर दिया।

इस संधि का महत्व यह था कि मराठा परिसंघ अंग्रेजों के अधीन हो गया तथा अंग्रेजों को मराठों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। इसके बाद वेलेजली ने भोंसले तथा सिंधिया को पराजित किया और उनसे क्रमशः देवगांव तथा अर्जुन गांव की संधि की, जिससे अंततः ये दोनों ही अंग्रेजों के अधीन हो गए। लॉर्ड वेलेजली ने संधि के विषय में कहा, "कंपनी ने पहली बार भारत में शांति स्थापित की है तथा पेशवा के प्रभुत्व को चुनौती देने पर हमें हस्तक्षेप करने का नैतिक अधिकार प्राप्त हो गया है।"

सिडनी ओवन ने संधि के विषय में कहा, ''इस संधि से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कंपनी को भारत का साम्राज्य मिल गया है।"

तृतीय अंग्रेज–मराठा युद्ध (1817–18 ई.)

इस युद्ध का तृतीय तथा अंतिम चरण लॉर्ड हेस्टिंग्स के भारत आने पर आरंभ हुआ। उसने आते ही आक्रांतता का रुख अपनाया तथा भारत में अंग्रेजों की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न किया। 1805 ई. के पश्चात् की जो शांति का समय मराठों को मिला उसका प्रयोग उन्होंने अपने आपको सुदृढ़ बनाने के लिए न करके आपसी कलह में खो दिया। हेस्टिंग्स के पिंडारियो के विरुद्ध युद्ध अभियान से मराठों को चुनौती मिली। एतएव दोनों दल युद्ध में खिंच आए। इस सुव्यवस्थित अभियान के कारण हेस्टिंग्स ने नागपुर के राजा को 1816 में, पेशवा को 1817 में तथा सिंधिया को 1817 में अत्यंत अपमानजनक संधियों के लिए बाध्य किया। विवश होकर पेशवा ने दासत्व का बंधन तोड़ने का एक अन्य प्रयत्न किया। दौलतराव सिंधिया, नागपुर के अप्पा साहिब तथा मल्हार राव होल्कर द्वितीय ने युद्ध का निश्चय किया। लेकिन पेशवा को किर्की के स्थान पर, भोंसले को सीतावर्डी के स्थान पर तथा होल्कर को महीदपुर के स्थान पर अंग्रेजों ने हराया। इस प्रकार मराठों की समस्त सेना अंग्रेजी सेना से हार गई। बाजीराव द्वितीय का पूना का प्रदेश ब्रिटिश शासन में विलय कर लिया गया। शेष छोटे–छोटे राज्य ही रह गए और वे कंपनी के अधीन हो गए।

अंग्रेजों के विरुद्ध मराठों की पराजय के कारण

यद्यपि मराठे अंग्रेजों की तुलना में शक्तिशाली थे परंतु अनेक कारणों से वे अंग्रेजों की तुलना में दुर्बल सिद्ध हुए जो अंततः उनकी पराजय का कारण बने। मराठों की पराजय के प्रमुख कारण इस प्रकार थे–

1. **मराठा साम्राज्य के स्वाभाविक दोष** : सर जदुनाथ सरकार के अनुसार मराठा साम्राज्य के कुछ स्वाभाविक दोष थे। मराठा शासकों ने सामुदायिक विकास, विद्या के प्रसार तथा जनता के एकीकरण के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। मराठा राज्य के लोगों की एकता कृत्रिम एवं आकस्मिक थी। अतएव निश्चित धार्मिक राष्ट्र की भावना, जिसने मुगल साम्राज्य के विघटन में विशेष भूमिका निभाई, मराठा साम्राज्य के प्रसार में समाप्त हो गई थी। ये स्वाभाविक दोष यूरोपीय लोगों से टकराने में विशेष रूप से अवरोध बने।
2. **अयोग्य नेतृत्व** : मराठों की निरंकुश राज्य–व्यवस्था में योग्य नेतृत्व की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण थी। निश्चित संविधान के अभाव में स्वार्थी शासक उत्पीड़क बन जाते थे। बाजीराव द्वितीय तथा दौलतराव होल्कर जैसे शासकों ने अपने निजी स्वार्थ के कारण मराठा साम्राज्य की प्रतिष्ठा को ताक पर रखकर अनेक

अपमानजनक संधियों को स्वीकार किया। दौलतराव सिंधिया, महादजी का अयोग्य उत्तराधिकारी था। इस प्रकार 18वीं शताब्दी के अंत तक सभी योग्य मराठा सरदारों का साम्राज्य में अभाव हो गया तथा बाद के मराठा शासक साम्राज्य को अयोग्य नेतृत्व ही दे सके।

3. **स्थिर आर्थिक नीति का अभाव** : मराठों की आर्थिक नीति स्थिर नहीं थी। औरंगजेब के विरुद्ध युद्धकाल में कृषकों की आर्थिक स्थिति अत्यंत जर्जर हो गई। मराठा सैनिक भी मुगल प्रदेशों की लूटमार से होने वाली आय पर निर्भर थे। अतः मराठा साम्राज्य महाराष्ट्र के साधनों पर नहीं अपितु बलपूर्वक एकत्रित की गई धनराशि पर आधारित था। मराठा साम्राज्य के पराकाष्ठा की सीमा पर पहुंचने पर वे साधन या तो कम हो गए या समाप्त हो गए। उत्तरकालीन युद्धों के कारण मराठों की अर्थव्यवस्था और बिगड़ गई। मराठा सरदारों को कर देने के लिए अपने बहुत से प्रदेशों को गिरवी रखना पड़ा। उद्योग तथा विदेशी व्यापार के अभाव से केवल सैनिक सेवा ही राष्ट्रीय उद्योग बन गया जिससे देश की आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

4. **मराठों की दुर्बल सैन्य व्यवस्था** : यद्यपि व्यक्तिगत वीरता में मराठे कम न थे, परंतु अंग्रेजी सैन्य व्यवस्था, अनुशासन तथा कुशल नेतृत्व में ये अंग्रेजों की तुलना में पीछे थे। अनेक युद्धों में आपसी विश्वासघात ही मराठों की पराजय का कारण बना। इसके अतिरिक्त मराठा सेना में विदेशी सैनिकों की स्वार्थपरायणता तथा लालच ने भी मराठा सैन्य शक्ति को दुर्बल बनाया। मराठों के लिए गुरिल्ला युद्ध को त्यागना घातक सिद्ध हुआ तथा उन्होंने युद्ध की कोई वैज्ञानिक तथा आधुनिक प्रणाली भी नहीं अपनाई।

5. **मराठा राजनीतिक व्यवस्था की दुर्बलताएं** : अपने चरमोत्कर्ष काल में भी मराठा साम्राज्य एक ढीला–सा संघ था जिसका नेता छत्रपति अथवा पेशवा था। पेशवा ने जब छत्रपति की शक्तियां हस्तगत कीं तो अधीनस्थ सरदारों ने पेशवा की। अनेक मराठा सरदारों ने अर्द्ध–स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। पानीपत के तृतीय युद्ध के बाद ये सामंतशाही इकाइयां और भी छिन्न–भिन्न तथा निःशक्त हो गईं तथा पारस्परिक झगड़ों में उलझ गईं। इस प्रकार कंपनी के विरुद्ध युद्ध में इनमें पारस्परिक सहयोग की भावना का सर्वथा अभाव था।

6. **राजनीतिक अदूरदर्शिता तथा कूटनीतिक अयोग्यता** : मराठों का अंग्रेजों के विरुद्ध असफलता का एक प्रमुख कारण उनकी राजनीतिक अदूरदर्शिता थी। यह दूरदर्शिता इस बात में थी कि उनका अपना राजनीतिक लक्ष्य पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य के विभिन्न राजनीतिक दलों एवं गुटों में से एक बन जाना था। इस प्रकार मराठे भी मुगल दरबार के गुटों के बीच में एक बन गए तथा वे अपना पृथक् राजनीतिक अस्तित्व व लक्ष्य निर्धारित न कर सके। उन्होंने खोखले मुगल साम्राज्य को सुरक्षित रखने में ही अपना सामर्थ्य लगा दिया।

आंग्ल–सिख संघर्ष

मुगलों से निरंतर युद्ध करते रहने और बंदा (सिख सरदार) की मृत्यु हो जाने के पश्चात् भी सिख समाप्त नहीं हुए थे तथा वे निरंतर अहमदशाह अब्दाली को तंग करते रहे थे।

ये सिख 12 मिस्लों में विभाजित थे। प्रत्येक मिस्ल का अपना पृथक् सरदार था। ये आपस में निरंतर झगड़ते रहते थे तथा उनमें परस्पर एकता का अभाव था। उन्हीं में से एक मिस्ल सुकारचाकिया का सरदार माहासिंह था। रणजीत सिंह उसी का पुत्र था।

रणजीत सिंह का जन्म 1780 ई. में हुआ था। सर्वप्रथम रणजीत सिंह ने ही सिखों की शक्ति को एकत्रित करके उन्हें एक राष्ट्र का स्वरूप दिया। 1792 ई. में माहासिंह की मृत्यु के बाद 12 वर्ष की अल्पायु में रणजीत सिंह अपने पिता की मिस्ल का मालिक बना।

अहमदशाह के नाती तथा तैमूरशाह के पुत्र जमानशाह ने भारत में तीसरे आक्रमण के समय रणजीत सिंह से सहायता मिलने पर उसे राजा का पद तथा लाहौर का सूबेदार बना दिया। 1802 ई. में रणजीत सिंह ने अमृतसर को जीत लिया।

रणजीत सिंह का लक्ष्य एक शक्तिशाली सिख राज्य बनाने का था। 26 जुलाई, 1806 ई. को रणजीत सिंह ने प्रथम बार सतलज को पार करके लुधियाना पर अधिकार कर लिया। लॉर्ड मिंटो ने मैटाकॉपफ को रणजीत सिंह से संधि के लिए भेजा। 25 अप्रैल, 1809 ई. को रणजीत सिंह तथा अंग्रेजों के बीच 'अमृतसर की संधि' हुई। रणजीत सिंह ने जीवनपर्यंत इस संधि को निभाया।

रणजीत सिंह ने 1809 ई. में कांगड़ा के राजा संसार चंद्र से कांगड़ा जीता। रणजीत सिंह ने अफगान शासक को कश्मीर के विरुद्ध सहायता दी और वहां से अफगानिस्तान के भागे हुए शासक शाहशुजा को अपने अधिकार में कर लिया तथा उससे प्रसिद्ध 'कोहिनूर हीरा' प्राप्त किया। 1814 ई. में रणजीत सिंह ने कश्मीर को जीतने का असफल प्रयत्न किया। रणजीत सिंह ने मुल्तान पर चार बार असफल आक्रमण किया। वह 1818 ई. में अपने पांचवें आक्रमण में ही उसे जीत सका। 1819 ई. में तीसरी बार आक्रमण करने पर रणजीतसिंह ने कश्मीर को जीता। 1823 ई. में रणजीत सिंह ने पेशावर को अफगानों से जीता तथा 'यार मुहम्मद' को वहां का शासक नियुक्त किया। रणजीत सिंह ने सिंध को जीतने का भी प्रयत्न किया लेकिन अंग्रेजों के हस्तक्षेप के कारण उसकी योजना सफल न हो सकी। इस प्रकार रणजीत सिंह आजीवन युद्ध करता रहा तथा एक संगठित राज्य स्थापित करने में सफल रहा। 59 वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु 27 जून, 1839 ई. को हुई।

मध्ययुगीन शासकों की भांति रणजीत सिंह एक स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासक था। राज्य की संपूर्ण शक्तियां उसके हाथों में केंद्रित थीं। वहीं राज्य का शासन प्रबंधक, कानून निर्माता, मुख्य न्यायाधीश और सर्वोच्च सेनापति था। यद्यपि, वह अपने को सिख राष्ट्रमंडल या खालसा का सेवक मानता था। परंतु, व्यवहार में रणजीत सिंह एक निरंकुश शासक था। इसी कारण वह अपनी सरकार को 'सरकार–ए–खालसा' पुकारता था।

वह धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु था। प्रजा की भलाई तथा उसे उचित न्याय प्रदान करना रणजीत सिंह अपना पहला कर्तव्य मानता था।

रणजीत सिंह ने अपनी सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद की स्थापना की थी, जिसका प्रत्येक मंत्री पूर्णतया उसी पर निर्भर था। शासन की सुविधा की दृष्टि से

रणजीत सिंह ने संपूर्ण राज्य को 4 प्रांतों में विभाजित किया था, वे थे– लाहौर, मुल्तान, कश्मीर तथा पेशावर। गांव की पंचायतें भी शासन में महत्वपूर्ण थीं, मुख्यतया न्याय के क्षेत्र में। राज्य की आय का प्रमुख साधन लगान था जो उत्पादन का 33 प्रतिशत से 40 प्रतिशत तक था।

रणजीत सिंह के शासन की एक मुख्य विशेषता 'खालसा सेना का संगठन' था। लाहौर में रणजीत सिंह ने तोप तथा गोला–बारूद बनाने के कारखाने लगाए। रणजीत सिंह ने सेना को 'माहवारी' (मासिक वेतन) देने की परंपरा प्रारंभ की।

रणजीत सिंह के लिए विशेष आदर्श सेना, जिसे 'फौज–ए–खास' कहते थे, का गठन 1822 में जनरल वन्तूरा तथा अलिफ द्वारा किया गया। इस सेना में 'इलाही बख्श' तोपखाने का कार्यवाहक था।

एक मुसलमान फकीर 'अजीजुद्दीन' रणजीत सिंह का विशेष मंत्री और विशेष कृपापात्र था।

रणजीत सिंह के समय सिख तथा अंग्रेजों के संबंध मैत्रीपूर्ण बने रहे किंतु रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् सिख–अंग्रेज संबंधों में कटुता आने लगी तथा अंततः इतनी तनावपूर्ण हो गयी कि दोनों ही पक्ष युद्ध में खिंच आए। इसके परिणामस्वरूप अंग्रेजों तथा सिखों के मध्य दो युद्ध हुए, जिनका वर्णन निम्नानुसार है–

प्रथम सिख युद्ध (1845–46 ई.)

रणजीत सिंह के तीन पुत्र थे– खड़क सिंह, नौनिहाल सिंह तथा शेर सिंह। रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद खड़क सिंह गद्दी पर बैठा। इस बीच जम्मू के डोगरा राजाओं और सिंधनवाला नामक सिख सरदार में मतभेद हो गया। 1840 ई. में खड़क सिंह की मृत्यु हो गई। कुछ दिनों बाद नौनिहाल सिंह भी मर गया। शेरसिंह गद्दी प्राप्त करना चाहता था लेकिन 1842 ई. में वह भी मार डाला गया। कुछ और नेता भाईचंद और ध्यानचंद भी मार डाले गए। शेरसिंह के पुत्र हीरा सिंह ने सिंधनवाला सरदार, अजीत सिंह और लहना सिंह को भी मार डाला और एक अल्पायु लड़के दिलीप सिंह को महाराजा और उसकी माता झिण्डन को रानी घोषित किया। इसके बाद हीरा सिंह को भी मार डाला गया। 1845 ई. में जवाहर सिंह के मारे डाले जाने पर सारी शक्ति वजीर लाल सिंह और रानी झिण्डन के हाथों में आ गई। इन सब षड्यंत्रों से सेना की शक्ति बहुत बढ़ गई। अतः रानी और लाल सिंह ने सेना की शक्ति कम करने के लिए अंग्रेजों से युद्ध करना निश्चित किया और इस प्रकार प्रथम सिख युद्ध हुआ।

11 दिसंबर, 1845 ई. में सिख सेना ने ज्यों ही सतलज पार किया वैसे ही 13 दिसंबर को लॉर्ड हार्डिंग ने युद्ध की घोषणा कर दी क्योंकि सिख सेना का यह कार्य अमृतसर की संधि के विरुद्ध था। अपनी शक्ति को रखने के लिए सिख नेताओं को सिख सेना की विजय उससे अधिक घातक लगी। अतः सिख नेता तेज सिंह, लाल सिंह और डोगरा सरदार गुलाब सिंह विश्वासघात कर अंग्रेजों से मिल गए, जिसके कारण सिख सेना को अपने पराक्रम के बावजूद मुदकी, फिरोजपुर, बुडिवाल, अलिवाल और सोबरांव के युद्धों में पराजय का मुंह देखना पड़ा।

फिर 9 मार्च, 1846 को लाहौर की संधि हुई। सिखों पर एक करोड़ रुपये जुर्माना लगाया गया। जम्मू और कश्मीर गुलाब सिंह को 1 करोड़ रुपये में बेच दिया गया तथा

वहां का शासक स्वीकार किया गया। किंतु लाल सिंह, रानी झिण्डन और अन्य सिख सरदारों ने गुलाब सिंह को कश्मीर देने का विरोध किया। इस पर एक अंग्रेजी सेना ने बलपूर्वक गुलाब सिंह को कश्मीर का राजा बनाया। रानी झिण्डन और लाल सिंह पदच्युत कर दिए गए। लाल सिंह बंदी बनाकर बनारस भेज दिया गया। रानी झिण्डन भी पहले शेखपुर फिर चुनार भेज दी गई। इसे सिख जाति ने अपना अपमान समझा।

द्वितीय सिख युद्ध (1848–49 ई.)

प्रथम सिख युद्ध के कारण सिख सरदार अपनी खोई हुई शक्ति प्राप्त करना चाहते थे। रानी झिण्डन के प्रति अंग्रेजों के दुर्व्यवहार से सिख जाति क्रुद्ध थी। अंग्रेजों ने मुल्तान के गवर्नर मूलराज से बड़ा असभ्य व्यवहार किया था। लेफ्टिनेंट एडवर्ड ने बिना किसी कारण मुल्तान पर आक्रमण कर कुछ भू–प्रदेश जीत लिया। इससे मूलराज क्रुद्ध हो गया।

1 अगस्त, 1848 को अटक के गवर्नर छतर सिंह ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। मूलराज, जो विद्रोह को दबाने भेजा गया था, भी उसी से मिल गया। नवंबर 1848 ई. को रामनगर का युद्ध हुआ। दिसंबर 1848 ई. में ही मुल्तान का घेराव प्रारंभ हुआ। 22 जनवरी, 1849 को मूलराज ने अंग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। चिलियांवाला युद्ध में जनवरी 1849 में सिखों ने अंग्रेजों को हराया। किंतु 29 मार्च, 1849 को गुजरात के युद्ध में सिख पूर्णतया हार गए। लॉर्ड डलहौजी ने संपूर्ण पंजाब को ब्रिटिश राज्य में मिला दिया। महाराजा दिलीप सिंह को सिंहासनाच्युत करके 50 हजार पौंड वार्षिक पेंशन दी गई, अंग्रेजों को प्रसिद्ध कोहिनूर हीरा दिया गया तथा मूलराज पर महाभियोग लगाकर प्राणदंड दिया गया। बाद में महाराजा दिलीप सिंह इंग्लैंड चला गया।

सिख राज्य के पतन में रणजीत सिंह की भूमिका

रणजीत सिंह ने पंजाब के विभिन्न छोटे–छोटे राज्यों को संयुक्त कर तथा अन्य बाह्य क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करके एक बड़े भू–भाग पर अपना साम्राज्य स्थापित किया। उसका शासन जन–सहायता पर आधारित था, जिसमें सैन्यवाद के तत्व भी मौजूद थे। राजा रणजीत सिंह ने जन–कल्याण के बहुत–से कार्य किये। उसने जनता की शिकायतें व्यक्तिगत रूप से सुनी तथा राज्य में भ्रमण करके जन–सामान्य से संपर्क बनाये रखा। उसने विभिन्न संकटों का सामना करते हुये भी अपने राज्य में शांति बनाये रखी। किंतु उसका साम्राज्य उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गया। कहा जाता है कि, वह शिवाजी की भांति अपनी जनता में वह भावना नहीं भर सका, जो उसके बाद राज्य व जनता को एक बनाये रखती।

वस्तुतः रणजीत सिंह का शासन अतिकेंद्रीयकरण का शासन था। उसने समस्त प्रशासनिक व सैन्य शक्तियां स्वयं ग्रहण की हुयी थीं। जनता को शासन में भागीदारी या उसके संबंध में जानकारी पाने की संभावना नहीं थी। यूरोपीय प्रबोधन निरंकुश शासन की भांति उसने जनता की भलाई हेतु कार्य किये किंतु जनता के राजनीतिक चिंतन के स्तर को सीमित रखा गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् सैनिक तत्वों ने प्रशासनिक अधिनियमों को उपेक्षित कर दिया तथा अयोग्य उत्तराधिकारियों के कारण सेना अत्यधिक प्रभावशाली हो गयी। रणजीत सिंह के बाद केंद्रीय सत्ता के अभाव में

विभिन्न अधिकारी व अभिजन समूह अपने–अपने हित लाभों हेतु संघर्ष में जुट गये तथा जनहित की कोई परवाह नहीं की गयी। इन गुटों पर जनता अपना दबाव डालने में असमर्थ थी फलतः राज्य का पतन हो गया।

अपनी प्रगति जांचिए

4. सबसे पहली अंग्रेजी कंपनी की स्थापना कब हुई थी?

(क) 1600 ई. में (ख) 1610 ई. में

(ग) 1620 ई. में (घ) 1630 ई. में

5. कर्नाटक का प्रथम युद्ध कब हुआ था?

(क) 1742–44 ई. में (ख) 1749–54 ई. में

(ग) 1746–48 ई. में (घ) 1758–63 ई. में

6. प्लासी का युद्ध कब हुआ था?

(क) 23 जून, 1757 (ख) 23 जून, 1759

(ग) 23 जून, 1760 (घ) 23 जून, 1761

2.4 भारत और औपनिवेशिक निर्माण

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन दो भागों में विभाजित था। एक भाग इग्लैंड में था तो दूसरा भाग भारत में। इंग्लैंड में कार्यरत भाग गृह सरकार कहलाता था। गृह सरकार के 5 प्रमुख अंग थे। सम्राट, मंत्रिमंडल, संसद, भारत सचिव एवं उसकी परिषद। इनमें भारत सचिव का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था। भारत सचिव का विधि संबंधी प्रशासनिक एवं आर्थिक मामलों पर पूर्ण नियंत्रण था। उसकी सहायतार्थ एक परिषद थी। भारत सचिव भारत संबंधी मामलों में ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। 1919 के अधिनियम द्वारा भारत सचिव की परिषद के सदस्यों की संख्या कम की गई। 1935 के अधिनियम द्वारा भारत सचिव की परिषद का अंत कर दिया गया। भारत के मामलों में अंतिम निर्णय गृह सरकार के हाथ में था। गृह सरकार का सम्पूर्ण खर्च भारत द्वारा देय था।

शासन का जो भाग भारत में कार्यरत था उसे भारत सरकार का नाम दिया गया। 1833 के अधिनियम द्वारा सम्पूर्ण विधायी शक्तियां गवर्नर जनरल एवं उसकी परिषद में संकेंद्रित थीं। 1919 के अधिनियम द्वारा केंद्रीय विधानसभा को द्विसदनात्मक बनाया गया। ये दो सदन विधानसभा एवं राज्य सभा कहलाते थे। द्वितीय सदन राज्य सभा 1919 ई. में प्रथम बार स्थापित किया गया। 1919 के अधिनियम द्वारा केंद्रीय विधान सभा की सदस्य संख्या 145 एवं राज्य सभा की सदस्य संख्या 60 निर्धारित की गई।

सभा	कुल सदस्य	सरकारी	गैर सरकारी मनोनीत	निर्वाचित
केंद्रीय विधानसभा	145	26	14	105
राज्य सभा	60	20	6	34

2.4.1 प्रशासनिक संरचना

प्रशासनिक संरचना को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

केंद्रीय प्रशासन

प्रस्तुत शीर्षक के अंतर्गत 1858 से लेकर 1947 के मध्य (अंग्रेजों के अधीन) के केंद्रीय प्रशासन का विवेचन किया गया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इसे दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में 1858 से लेकर 1892 तक तथा द्वितीय भाग में 1909 से लेकर 1947 तक के केंद्रीय प्रशासन पर प्रकाश डाला गया है।

1858 से लेकर 1892 तक– 1857 के कथित विद्रोह से अंग्रेजी सरकार भयभीत थी। उसने इसके लिए ईस्ट इंडिया कंपनी की आर्थिक एवं प्रशासनिक नीतियों को उत्तरदायी माना। भविष्य में इस प्रकार की घटनाओं की पुनरावृत्ति से बचने के लिए अंग्रेजी सरकार ने कंपनी के शासन को समाप्त कर भारतीय प्रशासन को ब्रिटिश क्राउन के अधीन लाने का निर्णय लिया। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्रिटिश संसद ने 1858 का अधिनियम पारित किया। इसके प्रावधानों के अनुसार भारत से कंपनी का शासन समाप्त कर ब्रिटिश संसद के अधीन लाया गया। अब समस्त भारतीय प्रशासन साम्राज्ञी की ओर से तथा उसके नाम से होना था। गवर्नर जनरल अब साम्राज्ञी का प्रतिनिधि था उसे वायसराय कहा जाने लगा। यद्यपि इस उपाधि का कोई संवैधानिक प्रावधान नहीं था और न ही अंग्रेजी संसद ने कभी इस उपाधि का प्रयोग किया, परंतु जनसाधारण प्रायः इसका प्रयोग करते थे।

इस अधिनियम के द्वारा नियंत्रण मंडल बोर्ड ऑफ कंट्रोल तथा संचालक मंडल (Court of Directors) को समाप्त कर दिया गया तथा इसके समस्त अधिकार भारत मंत्री तथा उसकी परिषद को सौंप दिए गए। इस प्रकार उस दोहरी सरकार प्रणाली का अंत हो गया जो पिट्स इंडिया एक्ट के द्वारा प्रारंभ की गई थी। भारत मंत्री को भारत सरकार के समस्त कार्यों की व्यवस्था, नियंत्रण निर्देशन का कार्य सौंपा गया। भारत मंत्री को ब्रिटिश मंत्रिमंडल का सदस्य बनाया गया तथा इसके वेतन भत्ते की व्यवस्था भारतीय राजस्व से की गई। भारत मंत्री भारतीय मामलों में उसी प्रकार ब्रिटिश संसद के लिए उत्तरदायी था जिस तरह ब्रिटिश मंत्रिमंडल के अन्य सदस्य उत्तरदायी थे।

इस अधिनियम के तहत भारत मंत्री की सहायतार्थ 15 सदस्यीय इंडिया कौंसिल की व्यवस्था की गई। यह आवश्यक नहीं था कि भारत मंत्री भारतीय मामलों का जानकार हो इसलिए इंडिया कौंसिल में उसकी सहायता के लिए भारतीय मामलों के विशेषज्ञों को नियुक्त किया जाता था। परिषद में कम से कम 9 ऐसे सदस्यों की नियुक्ति की जाती थी जो 10 अथवा 10 से अधिक वर्षों तक भारत में रहे हों तथा उन्हें भारत छोड़े हुए 10 वर्ष से अधिक न हुआ हो। सदस्य अपने पद पर अच्छे व्यवहार पर्यन्त ही कार्य कर सकते थे। उन्हें क्राउन द्वारा संसद के दोनों सदनों की सिफारिश पर ही हटाया जा सकता था।

भारत मंत्री को बहुमत के विरुद्ध कार्य करने का विशेषाधिकार दिया गया था। केवल वह अनुदान संबंधी अथवा भारतीय राजस्व के विनियोग के संबंध में परिषद के

बहुमत के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता था। कौंसिल एक महत्वपूर्ण संस्था थी और इसने भारत सरकार के प्रत्येक निर्णय पर नजर रखी। भारत परिषद की बैठक की अध्यक्षता भारत मंत्री करता था। उसे प्रतिवर्ष ब्रिटिश संसद के समक्ष भारत सरकार के आय–व्यय का लेखा–जोखा प्रस्तुत करना पड़ता था। इस अधिनियम में इसका भी प्रावधान किया गया था कि गृह सरकार के संचालन में जो भी खर्च होता था उसे भारत सरकार से वसूल किया जाता था।

भारत मंत्री को प्रतिवर्ष ब्रिटिश संसद में भारत की नैतिक एवं भौतिक प्रगति का कार्यविवरण प्रस्तुत करना होता था। इसके अतिरिक्त भारत में तथा भारत मंत्री द्वारा बनाए गए नियमों को भी ब्रिटिश संसद में प्रस्तुत करना होता था। गवर्नर जनरल तथा प्रेसिडेन्सियों के गवर्नरों की नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी। लेफ्टीनेन्ट गवर्नर की नियुक्ति गवर्नर जनरल सम्राट की स्वीकृति के आधार पर करता था। विभिन्न कौंसिलों के सदस्यों की नियुक्ति कौंसिल स्थित भारत मंत्री को करनी पड़ती थी। गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद के सदस्यों की संख्या चार निश्चित की गई। 1861 में पांचवें तथा 1874 में छठे सदस्य की नियुक्ति की गई। इसके अतिरिक्त अन्य सभी नियुक्तियों के विषय में यह निश्चय किया गया कि मनोनयन के स्थान पर योग्यता के आधार पर अधिकारियों का चयन हो। कंपनी की सेना को भारत सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया तथा कंपनी के द्वारा की गई संधियों तथा ऋणों के भुगतान की जिम्मेदारी भी भारत सरकार ने ले ली।

विद्वानों का ऐसा मानना है कि ब्रिटिश संसद ने भारत पर अपना नियंत्रण उसी क्षण रखना समाप्त कर दिया, जिस क्षण उसे वह अधिकार प्राप्त हुआ था। 1857 के कथित विद्रोह के पश्चात सम्पूर्ण शक्ति भारत मंत्री के हाथों में आ गई और वह ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। अतः संसद इससे संतुष्ट हो गई। यह संतुष्टि इसलिए भी हुई कि जो कुछ उसे प्राप्त करने की इच्छा थी वह उसे प्राप्त हो गया था। इसलिए उसने लगातार भारतीय प्रशासन को नियंत्रित करने तथा उसकी आलोचना के अधिकारों के प्रयोग की उपेक्षा की। इन सभी कारणों के फलस्वरूप भारत के उच्च प्रशासनिक अधिकारी निरंकुश होते चले गए। इस संबंध में रैम्जे मैक्डोनल्ड ने लिखा है कि ब्रिटिश संसद भारतीय प्रशासन के प्रति जागरूक नहीं रही। यह भारतीय मामलों पर कोई भी महत्वपूर्ण विचार विमर्श नहीं करती। भारतीय बजट पर जब विचार किया जाता है तो ब्रिटिश संसद की अधिकतर सीटें खाली रहती हैं। इस प्रकार ब्रिटिश संसद सरकार के हाथों में भारतीय उपनिवेश की सत्ता सौंपकर ब्रिटिश संसद उदासीन हो गई।

1858 का महारानी का घोषणा–पत्र 1 नवंबर, 1858 को लॉर्ड कैनिंग ने इलाहाबाद में महारानी द्वारा भारत सरकार के उत्तरदायित्व की घोषणा करने के लिए दरबार का आयोजन किया। इस घोषणा के द्वारा भारतीय जनता एवं नरेशों को बताया गया कि उनके प्रदेशों को अंग्रेजी सरकार अपने राज्य में नहीं मिलाएगी तथा उन्हें गोद लेने का अधिकार प्राप्त होगा। ब्रिटिश सरकार ने अपने भारत स्थित कर्मचारियों को आदेश दिया कि वे भारतीयों के धार्मिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। भारत में कानून आदि बनाने में भारतीय प्रथाओं, पुरानी रीतियों तथा अन्य बातों का ध्यान रखा जाए। साम्राज्य के भारतीय प्रजाजनों को साम्राज्य के अन्य भागों में रहने

वाले ब्रिटिश लोगों के समान बराबर का अधिकार दिया गया। अन्य ब्रिटिश प्रजाजनों के समान भारतीयों को समान अधिकारों एवं अवसरों का आश्वासन प्रदान किया गया। उन सभी भारतीयों को क्षमा एवं मुक्त करने का वचन दिया गया जो उस समय भी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध शस्त्र धारण किए हुए थे तथा जिनके विरुद्ध ब्रिटिश प्रजाजनों की हत्या के आरोप नहीं थे। कंपनी की संधियों को मान लिया गया।

भारत के वैधानिक इतिहास में महारानी का यह घोषणा पत्र (1858) महान एवं उल्लेखनीय घटना थी। नीतिगत यह घोषणा 1917 तक भारतीय प्रशासन का आधार रही।

1858 के अधिनियम में अधूरापन था। अतः इसे समाप्त करने के लिए ब्रिटिश संसद को पुनः एक अधिनियम पारित करने की आवश्यकता महसूस हुई। 1858 के अधिनियम से भारत सरकार का कार्य ब्रिटिश संसद के अंतर्गत आ तो गया, परंतु भारतीय प्रशासन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। यह परिवर्तन 1861 के अधिनियम के द्वारा किया गया। इस अधिनियम के महत्व की चर्चा करते हुए गुरुमुख निहालसिंह ने लिखा है – "1861 के अधिनियम का आधारभूत महत्व था। इसके द्वारा भारतीय प्रशासन का ऐसा ढांचा तैयार हो गया जो भारत में ब्रिटिश शासन की समाप्ति तक चलता रहा, हालांकि बाद के पारित अधिनियमों द्वारा राजशासन पद्धति में कई सैद्धांतिक और संगठनात्मक परिवर्तन किए गए।'' 1861 के अधिनियम के पारित किए जाने के लिए पृष्ठभूमि का अवलोकन करने पर हमारे सामने यह तस्वीर आती है जो बताती है कि 1861 का अधिनियम इन कारणों से पारित किया गया।

प्रथम, 1858 के अधिनियम से भारतीय प्रशासन प्रभावशाली नहीं बन सका था, इसी कमी को दूर करने के लिए यह अधिनियम प्रस्तुत किया गया।

द्वितीय, 1857 के कथित राष्ट्रीय विद्रोह ने साम्राज्यवादी शासकों को यह सोचने पर विवश कर दिया कि वे अपने शासन को मजबूत बनाने के लिए किस तरह के प्रशासनिक परिवर्तन करें कि भविष्य में 1857 जैसी चुनौतियों से बच सकें। एक ऐसी व्यवस्था का विकास करने की आवश्यकता थी जिसके द्वारा शासन नीति और शासन विधि के प्रति भारतीय जनता की प्रतिक्रिया का ज्ञान ब्रिटिश शासकों को हो सके।

तृतीय भारत मंत्री तथा गवर्नर जनरल भारतीय विधानपरिषद की कार्य पद्धति से संतुष्ट नहीं थे। परिषद के सदस्य ब्रिटिश संसद की कार्य पद्धति अपनाने का प्रयत्न करते थे, जिससे कार्यों में बाधा उत्पन्न होती थी। अतः एक नए अधिनियम द्वारा विधानपरिषद के अधिकारों और कर्तव्यों की व्याख्या आवश्यक थी।

चतुर्थ, प्रांतीय सरकारों द्वारा यह मांग की जाने लगी थी कि उन्हें अपने–अपने प्रांतों की आवश्यकता के अनुसार कानून निर्माण करने के अधिकार दिए जाएं।

पंचम, सरकारी कामकाज में भारतीयों के सहयोग की आवश्यकता महसूस की जा रही थी, इसे पूर्ण करने के लिए एक नवीन अधिनियम की आवश्यकता थी।

1861 के अधिनियम में केंद्रीय शासन में कुछ सुधार किए गए थे। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद में सदस्यों की संख्या बढ़ा कर पांच कर दी गई। इन सदस्यों की नियुक्ति भारत सचिव करता था। इन पांच सदस्यों में से कम से कम तीन सदस्य

भारत सरकार की सेवा में दस वर्ष से लगे हुए होने चाहिए। एक विधि शास्त्री और एक वित्त विशेषज्ञ को भी नियुक्त किया जाने लगा। प्रधान सेनापति भी विशेष सदस्य के रूप में परिषद का सदस्य नियुक्त किया जा सकता था। अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल परिषद के लिए नियम बनाता था। गवर्नर जनरल ने इसी धारा का प्रयोग करके विभागीय पद्धति का पोर्टफोलियो सिस्टम अपनाया। इस अधिनियम के द्वारा जो नियम बनाए गए उनके द्वारा प्रत्येक सदस्य को गृह, वित्त, विधि, सुरक्षा आदि विभागों की जिम्मेदारी सौंप दी गई। 1861 के अधिनियम द्वारा पहली बार भारतीयों को केंद्रीय परिषद् का सदस्य बनाने की व्यवस्था की गई। भारतीय सदस्य अधिकतर गैर सरकारी ही होते थे। 1861 के अधिनियम के अनुसार गवर्नर जनरल ने देशी राज्यों के दीवानों, राजा–महाराजाओं और बड़े जमींदारों को ही सदस्य बनाया। परिषद का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित था। विधि निर्माण के अतिरिक्त परिषद को और किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं थे। गवर्नर जनरल का परिषद् पर पूर्ण नियंत्रण था। गवर्नर जनरल को केंद्रीय परिषद द्वारा पारित किसी विधेयक को स्वीकार या अस्वीकार करने का पूरा अधिकार था। पहली बार गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने का असाधारण अधिकार दिया गया। संकटकालीन परिस्थितियों और जब गवर्नर जनरल आवश्यक समझे तब स्वविवेक से इस शक्ति का उपयोग कर सकता था। यह अध्यादेश 6 माह तक लागू रह सकता था।

इस प्रकार 1861 के अधिनियम ने गवर्नर जनरल को सर्वशक्ति संपन्न कर दिया। सभी प्रांत गवर्नर जनरल की आधीनता में आ गए। इसके अतिरिक्त 1861 के अधिनियम के तहत जो भी विधान सभाएं स्थापित की गईं, उनका कार्य केवल कानून बनाना ही था। वे कार्यपालिका के कार्यों की आलोचना नहीं कर सकती थीं। इन सबके बावजूद भी 1861 का अधिनियम कई प्रकार से प्रशंसनीय था। इस अधिनियम ने पहली बार एक ऐसा ढांचा प्रदान किया जो काफी समय तक चलता रहा। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम ने भारतीयों को ब्रिटिश सरकार के कार्यों में लगाया, हालांकि इसके पूर्व लॉर्ड डलहौजी ने भारतीयों को कौंसिल का सदस्य बनाने का प्रयास किया था जो कि सफल नहीं हो पाया था।

1861 के अधिनियम के पश्चात 31 वर्षों तक अंग्रेजी सरकार ने भारत में कोई सुधार करना आवश्यक नहीं समझा यह एक आश्चर्यजनक घटना थी। 1892 में पारित अधिनियम के कुछ कारण थे, जिनमें प्रमुख पहला, 1861 के अधिनियम के अंतर्गत गठित केंद्रीय तथा प्रांतीय परिषदों का कार्य एकदम निष्प्रभावी था। दूसरा, इसके अतिरिक्त भारत में शिक्षा का विकास होने तथा राजनीतिक जागृति का प्रारंभ होने के कारण भारतवासी प्रतिनिधि प्रणाली की मांग करने लगे थे। तीसरा, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में हो जाने से अधिनियम पारित किया जाना आवश्यक हो गया था, क्योंकि कांग्रेस भी लगातार सुधारों की मांग कर रही थी। चौथा, तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड डफरिन भी परिषद के सदस्यों की संख्या बढ़ाने के पक्ष में था।

1892 के अधिनियम ने व्यवस्थापिका कौंसिलों के कार्यों में वृद्धि कर दी। उन्हें अधिकार दिया गया कि वह कुछ विशेष अवस्थाओं तथा सीमाओं के अधीन वार्षिक आर्थिक ब्यौरे के संबंध में चर्चा कर सकेंगी। परिषद के सदस्यों को सार्वजनिक हितों के विषय पर प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया, किंतु उन्हें प्रश्न पूछने की सूचना

6 दिन पूर्व देनी होती थी। इस अधिनियम के द्वारा केंद्रीय परिषद का सीमित विस्तार किया गया। केंद्रीय परिषद की सदस्य संख्या कम से कम 10 तथा अधिकतम 16 निश्चित की गई। परिषद के कम से कम 40 प्रतिशत सदस्य गैर सरकारी हो सकते थे। सरकारी सदस्य गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों के द्वारा मनोनीत होते थे, जबकि गैर सरकारी सदस्यों के लिए सिफारिश के बाद मनोनयन का सिद्धांत अपनाया गया।

कांग्रेस के दबाव के फलस्वरूप चुनावों की पद्धति को स्वीकार कर लिया गया था। हालांकि यह चुनाव पद्धति अस्पष्ट थी। जो व्यक्ति व्यवस्थापिका सभाओं के लिए इस पद्धति से चुने जाते थे, वे वास्तविक अर्थों में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे।

यद्यपि 1892 का अधिनियम भारी आंदोलनों तथा धैर्यपूर्ण प्रतीक्षा का परिणाम था तथापि इससे भारतीयों को कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं हुआ। इस अधिनियम पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए फिरोजशाह मेहता ने कहा – सरकारी बिल को उचित रूप में एक अत्यंत उन्नत प्रकार के स्टीम इंजन के रूप में वर्णित किया जा सकता है, जिसमें से भाप उत्पन्न करने वाली आवश्यक सामग्री निकालकर अलग कर दी गयी हो और उसके स्थान पर नकली रंग–बिरंगे पदार्थ लगा दिए गए हों, जो वैसे ही दिखाई दें।

1909 से 1947 तक– 1892 के अधिनियम से कांग्रेस की मांगों की पूर्ति नहीं हुई थी। शिक्षित भारतीयों को भी सरकारी सेवाओं तथा शासन में कोई भाग नहीं मिला। लॉर्ड कर्जन की साम्राज्यवादी तथा कठोर नीतियों ने आग में घी का काम किया जिससे बुद्धिजीवियों में विदेशी सरकार के प्रति विरोध उत्पन्न होने लगा। कलकत्ता नगर निगम को पूर्णरूपेण सरकारी प्रभाव के अधीन बना दिया गया, ऐसी ही नीति भारतीय विश्वविद्यालयों में लागू की गई। सबसे बड़ी चोट बंगाल विभाजन से लगी जिसे बंगाल की उभरती हुई राष्ट्रीयता पर बड़ा प्रहार माना गया। असंतोष के अन्य कारण भी थे, समुद्रपार भारतीयों के साथ अपमानजनक व्यवहार किया जा रहा था जिससे लोगों के मन में यह भावना जागी कि जब तक वे स्वतंत्र नहीं हो जाते उन्हें उचित व्यवहार की आशा नहीं करनी चाहिए और इससे राष्ट्रवाद की भावना को प्रोत्साहन मिला।

19वीं शताब्दी के अंतिम दिनों में भयानक अकाल तथा प्लेग का प्रकोप हुआ, जिससे लोगों का दुःख तथा विपत्तियां बढ़ गई। लोगों ने इसके लिए अंग्रेजों को उत्तरदायी ठहराया तथा प्लेग के संक्रमण को रोकने के लिए किए गए प्रयासों को अपर्याप्त माना। समाचार पत्रों ने भी इन सभी घटनाओं पर उचित रूप से टीका की और अंग्रेजी प्रशासन की कटु आलोचना की। ऐसी अवस्था को यद्यपि सरकार ने दबाने का भरसक प्रयास किया किंतु फिर भी अतिवाद का प्रसार हुआ।

1909 का अधिनियम– उपर्युक्त सभी कारणों से एक सुधार अधिनियम पारित करना आवश्यक हो गया। अंग्रेजी नौकरशाहों ने राष्ट्रीय भावना को खंडित करने के लिए बांटो और राज करो की नीति का पालन करते हुए मुस्लिम सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया और 1909 का मारले मिंटो अधिनियम पारित किया।

इस अधिनियम के द्वारा केंद्रीय परिषद के सदस्यों की संख्या 16 से बढ़ाकर 60 कर दी गई। 9 पदेन सदस्य थे। इस प्रकार केंद्रीय परिषद के सदस्यों की कुल संख्या 69 हो गई। केंद्रीय परिषद में सरकारी सदस्यों का बहुमत था, इस कारण केंद्र सरकार के कार्यों में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती थी।

केंद्रीय एवं प्रांतीय विधानपरिषदों के कार्यों का विस्तार किया गया। अब सदस्यों को वाद–विवाद का अधिकार दिया गया और वे पूरक प्रश्न पूछ सकते थे। केंद्रीय विधानमंडल में बजट की विवेचना के लिए विस्तार पूर्वक नियम बना दिए गए। सदस्यों को मत देने का अधिकार नहीं दिया गया, परंतु वे स्थानीय निकायों के लिए धन की मांग रख सकते थे। करों में संशोधन, नए ऋण आदि के लिए भी प्रस्ताव रख सकते थे। जनसाधारण के हितों से संबंधित मामलों की विवेचना के लिए निश्चित नियम बनाए गए। सदस्य इन मामलों की विवेचना कर सकते थे, उन पर मत दे सकते थे, परंतु सरकार इन प्रस्तावों को मानने के लिए बाध्य नहीं थी, चाहे वे प्रस्ताव जनता के लिए हों अथवा वित्तविवरण के लिए हों। कुछ ऐसे मामले भी थे जिन पर सदस्य विवेचना नहीं कर सकते थे। वे विदेशी संबंधों तथा देशी राजाओं से संबंधों, कानून के सामने निर्णय के लिए आए प्रश्नों, राज्य रेलवे पर व्यय तथा ऋण पर ब्याज इत्यादि प्रश्न नहीं उठा सकते थे।

इस अधिनियम में विधायी परिषदों के सदस्यों की संख्या में वृद्धि के साथ–साथ भारत मंत्री तथा गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों की नियुक्ति का भी प्रावधान किया गया। इस अधिनियम में साम्प्रदायिक आधार पर मताधिकार का सिद्धांत लागू करते हुए मुस्लिम सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार मुस्लिम मतदाताओं को ही दिया गया।

1909 का अधिनियम भारतीयों की आशाओं के अनुरूप नहीं रहा। इस अधिनियम के बारे में कहा गया कि भारतीयों ने 1000 पौण्ड का चैक प्रस्तुत किया था और उन्हें केवल एक पौण्ड दिया गया। सीमित मताधिकार, अध्यक्ष चुनाव, विधानपरिषद की सीमित शक्तियों ने प्रतिनिधि सरकार को खिचड़ी जैसा बना दिया। वास्तविक शक्ति सरकार के पास रही और परिषदों को केवल आलोचना के अधिकार के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला।

सुधारों को कार्यान्वित करते हुए बहुत सी गड़बड़ियां भी उत्पन्न हुईं। संसदीय कार्य प्रणाली तो दे दी गई, परंतु उत्तरदायित्व नहीं दिया गया था जिससे सरकार की विवेकहीनता तथा अनुत्तरदायी प्रवृत्ति की आलोचना की जाने लगी। भारतीय नेताओं ने विधान मंडलों को सरकार की कटु आलोचना करने का मंच बना लिया। इस विचार से कि उन्हें उत्तरदायित्व नहीं निभाना पड़ेगा, वे केवल आलोचक तथा और भी अनुत्तरदायी बन गए।

इन सुधारों से भारतीय राजनीति में कुछ समस्यायें भी उत्पन्न हुई। एक ऐसी ही समस्या मुसलमानों के लिए पृथक मताधिकार तथा निर्वाचन क्षेत्रों की थी। सरकार ने अपने राजनीतिक महत्व के लिए मुसलमानों को न केवल पृथक सामुदायिक प्रतिनिधित्व दिया अपितु उनकी साम्राज्य सेवा के लिए, उन्हें अपनी संख्या से अधिक प्रतिनिधित्व दे दिया गया। बात यहीं पर समाप्त नहीं हुई। 1919 में सिखों को तथा 1935 में हरिजनों, भारतीय ईसाइयों, यूरोपियनों तथा एंग्लो इंडियनों को भी प्रतिनिधित्व देने का रास्ता बन गया। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का एक परिणाम 1947 का भारत विभाजन था। इसलिए इस अधिनियम के बारे में गांधीजी ने कहा कि मारले मिंटो सुधारों ने हमारा सर्वनाश कर दिया।

मारले मिंटो सुधारों की आलोचना करते हुए डॉ जकारिया ने लिखा कि – ''इन सुधारों का सार उस बात को ग्रहण करने में था, जो एक समय सर्वथा अर्थहीन थी। इस प्रकार प्रजातंत्र का चुना गया सिद्धांत ग्रहण किया गया तथा उसी समय प्रजातंत्र विरोधी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व बढ़ा दिया गया। सरकारी बहुमत समाप्त कर दिया गया, किंतु निर्वाचित सदस्य अल्पमत में बने रहे। सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ा दी गई, किंतु तत्काल ही एक जोरदार चेतावनी प्रकाशित कर दी गई कि नई परिषदों का किसी भी प्रकार से यह अभिप्राय नहीं था कि संसदीय प्रणाली को आरंभ किया जाए। भारतीय परिषद तथा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में केवल कुछ चुने हुए भारतीयों को ही प्रवेश मिल सका, किंतु भारतीयों को सरकारी क्षेत्र में प्रविष्ट करने का उदार दृष्टिकोण इस तथ्य को न छिपा सका कि वास्तविक शक्ति ब्रिटिश हाथों में सुरक्षित रही।

मारले मिंटो सुधार अधिनियम का उद्देश्य केवल नौकरशाहों की स्थिति अधिक सुदृढ़ करना और मुसलमानों तथा संयतमार्गी लोगों को संतुष्ट कर अपनी ओर मिलाना था, परंतु वास्तव में इन सुधारों से कोई भी वर्ग प्रसन्न नहीं हुआ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इन बातों से अप्रसन्न थी कि– (1) एक विशेष धर्म के लोगों को अपनी संख्या से कहीं अधिक प्रतिनिधित्व दे दिया गया था। (2) मुस्लिम तथा गैरमुस्लिम चुनाव मंडलों में मताधिकारों तथा उम्मीदवारों की योग्यताओं में बहुत ही लज्जाजनक तथा द्वेषपूर्ण भेद–भाव बरता गया था। (3) परिषदों के लिए उम्मीदवारों पर मनमानी और अनुचित अयोग्यताएं तथा प्रतिबंध लगा दिए गए। (4) शिक्षित वर्ग के प्रति साधारण अविश्वास था। (5) प्रांतीय परिषदों की अशासकीय बहुसंख्यक परंतु असंतोषजनक रचना और उनका एक प्रकार से निरर्थक होना।

मुसलमानों में भी कुछ आंतरिक एवं बाह्य कारणों से असंतोष बढ़ रहा था। एक ओर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना की शर्तें मुसलमानों एवं अंग्रेजी सरकार के मध्य तय नहीं हो पाने तथा 1911 में बंगाल विभाजन रद्द किए जाने से मुसलमान अप्रसन्न थे, वहीं दूसरी ओर बल्कान युद्ध में ईसाई शक्तियां मुस्लिम क्षेत्रों को अपने में सम्मिलित कर रही थी। इस कारण मुसलमान भड़के हुए थे। इस प्रकार मुसलमानों तथा अंग्रेजों के बीच वैमनस्यता ने हिन्दुओं और मुसलमानों को करीब आने का अवसर दिया जिसके फलस्वरूप 1916 का लखनऊ पैक्ट संपन्न हुआ।

अतिवादी भी अंग्रेजों को बाहर निकालने के लिए देश एवं विदेशों में अपना कार्य क्षेत्र बढ़ा रहे थे। पंजाब में गदर तथा बंगाल में कामागाटामारू कांड, दिल्ली में हार्डिंग पर बम फेंकना इनके कुछ उदाहरण थे। मारले मिंटो सुधारों के प्रति भारत में इतना व्यापक असंतोष था कि सरकार को इसे दबाने के लिए 1910 में भारत समाचार पत्र अधिनियम, 1913 का विद्रोही सभा एक्ट, 1913 का फौजदारी कानून तथा 1915 का भारतीय रक्षा अधिनियम लागू करने पड़े।

असंतोष से भरे इस वातावरण में 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध प्रारंभ हो गया, किंतु इन सब के बावजूद भारतीयों ने उक्त युद्ध में उदारता से सहयोग दिया। ज्यों–ज्यों युद्ध चलता गया, मित्र राष्ट्रों ने युद्ध के समर्थन में ''नैतिक मूल्यों पर बल दिया और आत्म–निर्णय का सिद्धांत (Self determination) उभर कर सामने आया जिससे भारतीय लोग अत्यधिक प्रभावित हुए। यदि युद्ध प्रजातंत्र की रक्षा के लिए है तो भारत कम से

कम स्वशासन के मार्ग पर तो चलेगा ही। यदि आत्मनिर्णय का सिद्धांत अरबों तथा तुर्कों पर लागू हो सकता है तो भारत पर क्यों नहीं।'' ऐसी स्थिति में सुधारों की एक किस्त आवश्यक थी।

जन जागृति का एक और प्रमाण यह था कि भारतीयों ने स्वयं ही संवैधानिक सुधारों की रूपरेखाएं प्रस्तुत कीं और सरकार से उसे लागू करने को कहा। जिन लोगों ने ये भिन्न–भिन्न योजनाएं प्रस्तुत कीं वे केंद्रीय विधान मंडल के सदस्य थे जिनमें जिन्ना, श्रीनिवासशास्त्री, सुरेंद्र नाथ बनर्जी इत्यादि थे।

1919 का अधिनियम–उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप भावी सुधार अधिनियम पारित किया जाना अवश्यंभावी हो गया। 1919 में मांटेग्यु चेम्सफोर्ड नाम से इस अधिनियम को प्रस्तुत किया गया। इसके कुछ अंश 1947 तक प्रभावी रहे। 1919 के अधिनियम द्वारा भारत के प्रशासन में अनेक परिवर्तन किए गए। पहले भारत के मंत्री का वेतन भारतीय राजस्व से मिलता था, परंतु अब ब्रिटिश राजस्व से प्राप्त होना था। भारतीय उच्चायुक्त (Indian High Commissioner) नामक नए पद का सृजन किया गया। इसकी नियुक्ति भारत सरकार द्वारा की जाती थी। वह कौंसिल में गवर्नर जनरल के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था। इसे वेतन भत्ते आदि भारतीय राजस्व से प्राप्त होते थे। भारत मंत्री का केंद्रीय भारत सरकार पर नियंत्रण पूर्ववत बना रहा।

केंद्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना का कोई प्रयास नहीं किया गया किंतु इस अधिनियम द्वारा भारतीयों को अधिक प्रभावशाली भूमिका दी गई। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में 8 सदस्यों में से 3 भारतीय नियुक्त किए गए और उन्हें शिक्षा, श्रम, स्वास्थ्य तथा उद्योग विभाग आदि दिए गए, परंतु उन्हें कोई भी महत्वपूर्ण विभाग नहीं सौंपे गए। ये सदस्य विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। जिस स्थिति में वे थे वह केवल गवर्नर की हां में हां मिलाने वाली थी। प्रमुख कार्यकारी शक्तियां अभी भी गवर्नर जनरल के पास ही रहीं। उसकी शक्तियों में किसी भी प्रकार की कमी नहीं की गई, वह केवल ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी था। केंद्रीय विधानपरिषद का भी उस पर कोई नियंत्रण नहीं था। गवर्नर जनरल की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहा गया कि, ''इग्लैंड का सम्राट राज्य करता है पर शासन नहीं, अमेरिका का राष्ट्रपति शासन करता है राज्य नहीं। फ्रांस का राष्ट्रपति न राज्य करता है और न ही शासन परंतु भारत का गवर्नर जनरल राज्य भी करता है और शासन भी।''

अभी तक केंद्र का सभी विषयों पर अधिकार था परंतु इस अधिनियम के द्वारा विषयों को केंद्र तथा प्रांतों में बांट दिया गया। केंद्रीय विषयों पर गवर्नर जनरल का अधिकार था। केंद्रीय विषयों में वे सभी विषय सम्मिलित थे जो राष्ट्रीय महत्व के थे, जैसे– विदेश मामले, रक्षा, राजनीतिक संबंध, डाक और तार, सार्वजनिक ऋण संचार, व्यवस्था, दीवानी तथा फौजदारी कानून तथा कार्यप्रणाली आदि। प्रांतीय विषयों में स्वास्थ्य, स्थानीय स्वशासन, शिक्षा, चिकित्सा, प्रशासन, भूमिकर, जल संरक्षण, अकाल, सहायता, शांति व्यवस्था, कृषि इत्यादि सम्मिलित थे।

इस अधिनियम द्वारा केंद्र में पहली बार द्विसदनात्मक व्यवस्था लागू की गई। पहला सदन राज्य परिषद् (Council of state) तथा दूसरा सदन केंद्रीय विधान सभा (Central Legislative Assembly) था। केंद्र का उच्च सदन राज्य परिषद् था। इसके

सदस्यों की संख्या 60 थी जिनमें से 27 सदस्य मनोनीत तथा 33 सदस्य निर्वाचित होते थे। स्त्रियों को सदस्यता के लिए उपयुक्त नहीं समझा गया। राज्य परिषद् का प्रधान गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त होता था। राज्य परिषद् के सदस्यों का कार्यकाल 5 वर्ष था। प्रतिवर्ष इसका आंशिक नवीनीकरण होता था। इसके लिए मताधिकार बहुत ही सीमित था, केवल उन्हीं लोगों को जिनकी वार्षिक आय दस हजार थी अथवा जो 750 रु. प्रतिवर्ष भूमिकर के रूप में देते थे, मताधिकार प्राप्त था। 1920 तक केवल 17364 लोगों को मताधिकार प्राप्त था।

केंद्रीय विधान सभा में 145 सदस्य थे जिसमें 104 निर्वाचित तथा 41 मनोनीत होते थे। सभा का कार्यकाल 3 वर्ष था, परंतु गवर्नर जनरल की इच्छा पर इसे बढ़ाया भी जा सकता था। यहां पर भी मताधिकार सीमित था। वे जो 15 रू. मासिक किराया देते हों अथवा 15 रु. वार्षिक नगरपालिका का कर देते हों अथवा न्यूनतम 2000 रु. वार्षिक आय पर कर देते हों अथवा 50 रु. भूमिकर देते हों। 1920 तक ऐसे लोगों की संख्या 9 लाख थी।

द्विसदनीय विधान मंडल को पर्याप्त शक्तियां दी गई थीं। यही समस्त भारत के लिए कानून बना सकती थी, किसी भी विद्यमान कानून में बदलाव या रद्द कर सकती थी। सदस्यों को प्रश्न एवं पूरक प्रश्न, अल्पकालिक प्रश्न पूछने, प्रस्ताव रखने अथवा स्थगन प्रस्ताव रखने की अनुमति थी, परंतु विधान मंडल पर कुछ नियंत्रण भी थे। कुछ विषयों पर विधेयक रखने के पूर्व गवर्नर जनरल की अनुमति आवश्यक थी। ये विषय थे– 1. विद्यमान कानून अथवा गवर्नर जनरल के अध्यादेश को रद्द करना या संशोधन करना। 2. विदेशी तथा देशी रियासतों से संबंध 3. स्थल, नौ तथा वायु सेना का अनुशासन 4. सार्वजनिक ऋण तथा कर 5. जनता के धर्म एवं धार्मिक रीतिरिवाज आदि।

विधान मंडल यदि गवर्नर जनरल के आदेश पर किसी विधेयक को पारित नहीं करता था तो गवर्नर जनरल क्राउन की अनुमति से उसे पारित कर सकता था। गवर्नर जनरल की अनुमति किसी भी कानून के लिए आवश्यक थी। वह अध्यादेश जारी कर सकता था, जो 6 माह के लिए वैध होता था।

1919 के अधिनियम पर कूपलैंड के विचार उल्लेखनीय हैं– 1919 का अधिनियम बहुत महत्वपूर्ण था। इसके पूर्व अधिनियमों ने भारतीयों के हाथों में विधान सभाओं को नियंत्रित करने का अधिकार दिया था, किंतु कार्यपालिका को नहीं। नए विधान में भारतीयों को शासन करने का अवसर भी दिया गया। उनके हाथों में सरकार के अनेक विभाग सौंप दिए गए और उसके लिए उनको उत्तरदायी ठहराया गया। यद्यपि उनके अधिकार सीमित कर दिए गए तथापि थोड़ी बहुत सत्ता अंग्रेजों के हाथों में से निकलकर उनके हाथों में आ गई।

1919 के अधिनियम को कांग्रेस ने अपर्याप्त, असंतोषजनक तथा निराशापूर्ण बताते हुए 1921 में असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया, जिसमें केंद्रीय एवं प्रांतीय विधानपरिषदों का बहिष्कार भी सम्मिलित था। कालांतर में उक्त एक्ट का विरोध अधिक दृढ़ एवं प्रभावशाली होता चला गया। उदारवादी दल जो सरकार का सहयोगी था, ने भी इन सुधारों को अपर्याप्त एवं असंतोषजनक माना।

1923 में स्थापित स्वराज पार्टी ने भी विधान मंडलों में जाकर संविधान में कमी निकालने की नीति अपनाते हुए सरकार के ढोंग एवं पाखंड को उजागर किया।

1919 के अधिनियम पारित करते समय ब्रिटिश सरकार ने उक्त अधिनियम की 10 वर्ष पश्चात समीक्षा करने की घोषणा की थी, परंतु नवम्बर 1927 में ही एक आयोग सर साइमन की अध्यक्षता में नियुक्त कर दिया गया। इससे उक्त अधिनियम के असफल होने का संदेश प्रसारित हुआ। जबकि वास्तविकता यह थी कि तत्कालीन भारत मंत्री लॉर्ड बिरकैन हेड का रूढ़िवादी दल (Conservative Party), यह नहीं चाहता था कि यह आयोग उदारवादी दल की सरकार जो संभवतः नए चुनाव में सत्तारूढ़ होगी, बनाए।

साइमन कमीशन एवं उसके प्रस्तावों का भारत में व्यापक विरोध किया गया क्योंकि इसके प्रस्तावों में ब्रिटिश हितों को प्राथमिकता दी गई थी। भारतीयों का कोई ध्यान नहीं रखा गया था। साइमन कमीशन के प्रयुत्तर में नेहरू रिपोर्ट को प्रस्तुत किया गया जिसे सरकार ने अस्वीकार कर दिया।

भारतीय संविधान के भविष्य को निश्चित करने के उद्देश्य से लन्दन में 1930 से 1931 के मध्य तीन गोलमेज सम्मेलनों का आयोजन किया गया। 1932 में रैम्जे मैकड़ोनल्ड ने अपने साम्प्रदायिक निर्णय को घोषित किया, जिनके अनुसार प्रांतीय एवं केंद्रीय विधान मंडलों में सीटों का विभाजन सांप्रदायिक अनुपात से किया गया था। सबसे प्रमुख बात यह थी कि अनुसूचित जातियों को भी भिन्न संप्रदाय मान कर आरक्षित स्थान दिया गया था, परंतु गांधीजी के प्रयासों के फलस्वरूप इसको थोड़ा बहुत परिवर्तित कर दिया गया।

1935 का अधिनियम : 1935 का अधिनियम एक विस्तृत एवं विशाल अधिनियम था। इसमें 14 खंड, 10 अनुसूचियां तथा 451 धाराएं थीं। इसे निर्मित करने के लिए निम्न मसविदों की सहायता ली गई– 1. साइमन आयोग की रिपोर्ट 2. नेहरू रिपोर्ट 3. तीनों गोलमेज सम्मेलनों में हुए वाद–विवाद 4. श्वेत पत्र 1934 5. संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट 6. लोथिया रिपोर्ट आदि।

1935 के अधिनियम के द्वारा द्वैध शासन को प्रांतों में समाप्त कर केंद्र में लागू किया गया। कुछ संघीय विषयों को गवर्नर जनरल के हाथों में सुरक्षित कर दिया गया। ये विषय थे– रक्षा–विशेष मामले, धार्मिक मामले तथा जनजातीय क्षेत्र। अन्य संघीय विषयों की व्यवस्था के संबंध में गवर्नर जनरल को सहायता एवं परामर्श के लिए 10 मंत्रियों के मंत्रीमंडल की व्यवस्था की गई जो संघीय विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी थे।

संघीय विधान मंडल में दो सदन रखे गए, एक संघीय विधान सभा तथा दूसरा राज्य परिषद्। संघीय परिषद् का कार्यकाल 5 वर्ष था। गवर्नर जनरल को उसका कार्यकाल बढ़ाने का अधिकार था। राज्य परिषद् एक स्थायी परिषद् थी, इसके एक तिहाई सदस्यों को प्रति तीन वर्ष पश्चात अवकाश प्राप्त करना होता था।

भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकार अत्यंत सीमित थे। कुछ ऐसे विषय थे जिन पर न तो संघीय तथा न ही प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाएं कानून बना सकती थीं। ये विषय थे– राजपरिवार अथवा राजगद्दी के उत्तराधिकार अथवा सरकार या भारत के

किसी भाग के आधिपत्य के प्रश्न पर फौजी अधिनियम, हवाई फौज अधिनियम, पुरस्कार, आंदोलनों की शर्तों आदि को प्रभावित करने वाले कानून, 1935 के अधिनियम की किसी धारा अथवा इसके अधीन स्वीकृत किसी आज्ञा अथवा भारत मंत्री, गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर के द्वारा इसके अधीन दी गई किसी व्यक्तिगत आज्ञा में संशोधन पर, सम्राट के असाधारण अधिकार पर किसी भी प्रकार का प्रभाव डालने वाले आदि। इसके अतिरिक्त अत्यंत महत्व के बहुत से ऐसे विषय भी थे जिनके संबंध में संघीय धारा सभा में किसी भी प्रकार का विचार आदि करने के पूर्व गवर्नर जनरल की अनुमति आवश्यक थी।

बजट में भी ऐसी कई मदें थी, जिन पर मत नहीं लिया जा सकता था तथा उन पर संघीय धारा सभाओं को किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं दिया गया था। ऐसी मदें संघीय बजट का 80 प्रतिशत थी।

दोनों सदनों के द्वारा स्वीकृत या बिलों के विरुद्ध गवर्नर जनरल को वीटो का अधिकार प्राप्त था अर्थात् वह किसी भी स्वीकृत बिल को अस्वीकृत तथा अस्वीकृत बिल को स्वीकृत कर सकता था।

इस अधिनियम के द्वारा एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गई जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा दो अपर न्यायाधीश थे। इसका अधिकार क्षेत्र रियासतों तथा प्रांतों तक व्यापक था। संविधान की व्याख्या करना संघीय न्यायालय का मुख्य कर्तव्य था। इस अधिनियम द्वारा भारत मंत्री की भारतीय कौंसिल को तोड़ कर कुछ परामर्शदाता मनोनीत किए गए जिसकी सलाह लेना या न लेना अथवा मानना या न मानना उसकी इच्छा पर निर्भर था।

1935 के संविधान में परिवर्तन का अधिकार केवल ब्रिटिश सरकार को ही था। एस.एम. बोस. ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि भारतीय धारा सभाओं को केवल ये अधिकार दिए गए हैं कि वे प्रस्ताव के द्वारा सम्राट की सरकार के प्रति इस अनुभाग में वर्णित विषयों के संबंध में वैधानिक परिवर्तन की भावना को प्रकट कर सकें, किंतु अधिनियम में परिवर्तन करने का वास्तविक अधिकार सम्राट की सरकार को दिया गया।

इस अधिनियम की विशेषता प्रांतीय स्वायत्तता की धारा थी, किंतु इनका अभिप्राय यह नहीं था कि प्रांतों में पूर्ण उत्तरदायित्व वाली सरकार स्थापित हो गई। ऐसा संभव ही नहीं था क्योंकि गवर्नर को बहुत से अधिकार दिए गए थे जिन्हें वह अपनी स्वेच्छा से प्रयोग कर सकता था।

पंडित नेहरू ने उक्त अधिनियम पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि– ''नया संविधान एक ऐसा यंत्र था जिसकी ब्रेकें तो दृढ़ थीं किंतु जिसका कोई इंजन नहीं था।'' इस अधिनियम की आलोचना इन बिंदुओं पर की गई – गवर्नर के स्वेच्छा पूर्ण व्यवहार, प्रांतीय विधान मंडलों के सीमित अधिकार, साम्प्रदायिक आधार पर धारा सभाओं के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति, सुरक्षा को सुरक्षित विषय में सम्मिलित करने, भारतीयों को उक्त संविधान में किसी भी प्रकार के परिवर्तन का अधिकार न होने इत्यादि।

इस अधिनियम की और अधिक व्याख्या करते हुए पं. मदन मोहन मालवीय ने कहा कि–'नया अधिनियम हम पर लादा गया है। बाह्य रूप से यह कुछ प्रजातंत्रात्मक प्रतीत होता है, किंतु आंतरिक रूप से यह पूर्ण रूप से खोखला है।

1935 के अधिनियम को पूर्ण रूप से लागू नहीं किया गया केवल प्रांतीय स्वायत्तता से संबंधित भाग को 1937 में लागू किया गया जो 1947 तक लागू रहा। केंद्रीय प्रशासन 1919 के अधिनियम की धाराओं के तहत 1947 तक संचालित होता रहा। कांग्रेस ने इन चुनावों में भाग लिया और 7 प्रांतों में सरकार बनाई, शेष 4 प्रांतों में अन्य दलों ने सरकार बनाई किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप 1939 में समस्त कांग्रेस मंत्रिमंडल ने त्यागपत्र दे दिया। संपूर्ण युद्ध काल में ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों से सहयोग प्राप्त करने के लिए प्रयास किए। 1940 में लिनलिथगो ने अगस्त प्रस्ताव पेश किया जिसे कांग्रेस ने स्वीकार नहीं किया, इसी प्रकार 1942 में क्रिप्त प्रस्तावों को पेश किया गया लेकिन विभिन्न कारणों से, कांग्रेस, लीग, हिंदू महासभा आदि ने इसे स्वीकार नहीं किया।

मार्च 1944 में राजगोपालाचारी ने अपनी योजना प्रस्तुत की। जनवरी 1946 में जिन्ना ने भी देसाई–लियाकत फार्मूला प्रस्तुत किया, किंतु इनका कोई परिणाम नहीं निकला। जून 1945 में तत्कालीन वायसराय लॉर्ड वैवेल ने ''वैवेल योजना'' प्रस्तुत की, किंतु इसे भी स्वीकार नहीं किया गया।

1945 में इग्लैंड में मजदूर दल की सरकार स्थापित हुई। उसने मार्च 1946 में कैबिनेट मिशन लॉर्ड पैथिक लारेंस, स्टेंफर्ड क्रिप्स एवं ए.वी. एजेब्जेंडर के नेतृत्व में भारत भेजा। वैधानिक संकट को दूर करने के लिए इसने पाकिस्तान की मांग को अव्यवहारिक ठहराते हुए निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किए –

(1) भारत में अंग्रेजी भारत और रियासतों का मिला जुला संघ होना चाहिए जो विदेशी मामले, रक्षा और संचार साधनों की देखभाल करे और इनके लिए कर लगा सके।

(2) इस संघ की कार्यकारिणी और विधान मंडल में ब्रिटिश भारत और रियासतों के प्रतिनिधि होने चाहिए। किसी महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक पक्ष पर यह आवश्यक हो कि विधान मंडल में दोनों मुख्य सम्प्रदायों के विधायक अलग–अलग मत देकर उसका समर्थन करें।

(3) प्रांतों को केंद्रीय विषयों को छोड़कर शेष सभी मामलों में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त हो और शेष शक्तियां उन्हीं के पास हों।

(4) प्रांतों को छोटे अथवा बड़े गुट बनाने का अधिकार हो और इन गुटों को क्या–क्या अधिकार होंगे, इसका निर्णय वे स्वयं करेंगे।

(5) मद्रास, बंबई, मध्यप्रांत, संयुक्त प्रांत, बिहार और उड़ीसा के छह हिंदू बहुसंख्यक प्रांत गुट (अ) में होंगे और उत्तर पश्चिम के मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांत पंजाब, सीमा प्रांत और सिंध गुट (ब) में होंगे और बंगाल तथा असम गुट (स) में। मुख्य आयुक्त के प्रांत दिल्ली अजमेर–मारवाड़ और कुर्ग गुट (अ) में और बलूचिस्तान गुट (ब) में सम्मिलित होंगे।

कैबिनेट मिशन का मुख्य कार्य संविधान सभा अर्थात भारतीयों द्वारा अपना संविधान बनाने के कार्य को आरंभ करना था। यह संविधान सभा प्रांतीय विधान सभाओं द्वारा चुनी जानी थी क्योंकि यदि वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी जाती तो समय बहुत लग जाता।

बहुत ही अनिच्छा के साथ (कांग्रेस प्रांतों के गुट बनाने पर अप्रसन्न थी तथा लीग पाकिस्तान की मांग न मानने पर) कैबिनेट मिशन को स्वीकार कर लिया गया परंतु संविधान सभा के चुनावों के परिणामों को देखकर (कांग्रेस 205 तथा लीग 73) जिन्ना ने कैबिनेट मिशन को अस्वीकार कर प्रत्यक्ष कार्यवाही को अंजाम दिया।

20 फरवरी, 1947 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने जून 1948 तक भारत छोड़ने की घोषणा कर दी तथा भारत बंटवारे की बात जिसे कैबिनेट मिशन ने अस्वीकार कर दिया था, मान लिया गया। इस घोषणा के होते ही लीग ने भारत विभाजन के लिए प्रयास तीव्र कर दिए जिससे भारत में स्थिति बहुत बिगड़ गई। भारत के नए वायसराय लॉर्ड माउंटबेटन ने उक्त परिस्थितियों को देखते हुए घोषणा की कि कुछ ही मास में भारतीयों को सत्ता सौंप देंगे।

3 जून को माउंटबेटन ने अपनी योजना प्रस्तुत की जिसमें पाकिस्तान की मांग स्वीकार कर ली गई। इस योजना को सभी दलों ने स्वीकार कर लिया। 4 जुलाई, 1947 को ब्रिटेन की संसद में एक विधेयक रखा गया (जिसे भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम कहा गया), वह 18 जुलाई, 1947 को पारित हो गया। इस अधिनियम में कोई नया संविधान नहीं बनाया गया। इसमें केवल भारत तथा पाकिस्तान के प्रतिनिधियों को अपने संविधान निर्मित करने की अनुमति दी गई थी। इस अधिनियम के द्वारा 15 अगस्त, 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वतंत्र राष्ट्रों की स्थापना हुई।

वित्तीय एवं नागरिक प्रशासन

वित्तीय प्रशासन–1833 के अधिनियम द्वारा सारी वित्तीय शक्तियां गवर्नर जनरल एवं उसकी परिषद में केंद्रित थीं। प्रांतीय सरकारों के पास न तो कर लगाने का अधिकार था और न ही वित्तीय संसाधन जुटाने का अधिकार था। प्रथम बार लॉर्ड मेयो ने 1870 में वित्तीय विकेंद्रीकरण का आरंभ किया। राजस्व के स्रोत वाले कुछ मद प्रांतीय सरकारों को हस्तांतरित किए गए। लॉर्ड रिपन ने भी लॉर्ड मेयो का अनुसरण किया। उसने 1882 में राजस्व के कुछ स्रोत पूर्णतः एवं कुछ अंशतः प्रांतीय सरकारों को सौंप दिए।

1909 ई. में भारतीय विकेंद्रीकरण आयोग द्वारा विस्तृत प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया। इसी प्रतिवेदन में केंद्र द्वारा दिए जाने वाले अनुदान के लिए नए नियम निश्चित किए गए। इसकी सिफारिशें निम्नानुसार थीं–

(1) प्रांतीय सरकार की इच्छाओं का सम्मान किया जाए।

(2) अनुदान के साथ, केंद्र द्वारा अधिकाधिक हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए।

नागरिक प्रशासन– 1870 से भारत में गृह सरकार के नियंत्रण में बढ़ोतरी हुई। अनेक दमनकारी एवं स्वतंत्रता विरोधी अधिनियम बने। 1871 में देशी भाषा प्रेस अधिनियम (वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट) एवं भारतीय शस्त्र अधिनियम पारित किए गए। प्रेस अधिनियम के तहत किसी भी अवांछित लेख के छपने पर सरकार प्रेस को जब्त कर सकती थी। शस्त्र अधिनियम द्वारा बिना लाइसेन्स हथियार रखना फौजदारी अपराध घोषित कर दिया गया। इस प्रकार नागरिक स्वतंत्रता बाधित की गई। 1908 एवं 1910 में पारित प्रेस अधिनियमों द्वारा विभिन्न समाचार पत्रों को अपराध एवं हत्या

हेतु उकसाने के आरोप में दंडित किया गया। तिलक को इसी अधिनियम द्वारा दंडित किया गया था।

प्रांतीय प्रशासन

प्रांतीय प्रशासन को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है–

1858 से 1892 तक– 1858 के अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल तथा प्रेसिडेंसियों के गवर्नरों की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट द्वारा की जाती थी। गवर्नरों की कौंसिलों के सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार कौंसिल स्थित, भारत मंत्री के पास था। इसके अतिरिक्त अन्य नियुक्ति के संदर्भ में यह निश्चित किया गया कि मनोनयन के स्थान पर योग्यता को आधार मानकर अधिकारियों का चयन किया जाएगा। 1861 के अधिनियम के द्वारा प्रांतीय परिषदों को कानून और नियम बनाने की शक्ति दी गई। इसके पूर्व यह शक्ति केवल केंद्रीय परिषद के पास थी। प्रांतीय परिषदों का गठन केंद्रीय परिषदों के आधार पर किया गया। प्रांतीय परिषद में गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी के सदस्य और अतिरिक्त सदस्य सम्मिलित होते थे। अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 4 से लेकर 8 तक हो सकती थी, इनमें आधे गैर सरकारी होते थे। प्रांतीय परिषद को कुछ विषयों पर जैसे टंकण, डाकतार, समुद्री तथा सैनिक मामले पर कानून बनाने से पूर्व गवर्नर जनरल की अनुमति लेनी पड़ती थी। प्रांतीय परिषद द्वारा पारित कानून गवर्नर जनरल की स्वीकृति के बाद ही वैध होता था। अधिनियम ने अन्य प्रांतों में भी विधानपरिषद स्थापित करने का प्रावधान किया था। 1861 के अधिनियम के द्वारा प्रांतीय परिषदों के सदस्यों के अधिकारों में भी वृद्धि कर दी गई।

1892 के अधिनियम के द्वारा प्रांतीय परिषदों की सदस्य संख्या में बढ़ोतरी की गई।

मद्रास और बंबई की परिषदों की सदस्य संख्या कम से कम 8 और अधिकतम 20 थी। बंगाल और उत्तरी पश्चिमी प्रांत के सदस्यों की अधिकतम सीमा 20 और 15 थी। जून 1892 में भारत सरकार ने प्रांतीय परिषदों के चुनाव के लिए चुनाव तंत्र की स्थापना संबंधी नियमों की रचना की। 1892 के अधिनियम के अंतर्गत प्रांतीय परिषदें गवर्नर जनरल की परिषद के लिए 5 सदस्य चुन सकती थीं। बंबई, मद्रास, बंगाल और उत्तर पश्चिम प्रांत की विधानपरिषदों तथा कलकत्ता वाणिज्य मंडल से ये 5 सदस्य चुने जाते थे।

1909 से 1947 तक– प्रांतीय धारासभाओं के सदस्यों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की गई। बड़े प्रांतों जैसे– मद्रास, बंबई, बंगाल और संयुक्त प्रांत की विधानपरिषदों की अधिकतम सदस्य संख्या 50 कर दी गई। अपेक्षाकृत छोटे प्रांतों जैसे– पंजाब, बर्मा, पूर्वी बंगाल और असम की अधिकतम सीमा 30 कर दी गई। (बंगाल के पुनर्निर्माण के बाद बिहार और उड़ीसा की 45, सेंट्रल प्रॉविंसेज की 25 तथा असम परिषद की अधिकतम सीमा 27 निश्चित की गई) 1909 के सुधारों में प्रांतीय परिषदों में अब तक लागू सरकारी बहुमत के सिद्धांत का परित्याग कर दिया गया, परंतु फिर भी सदस्यों की नियुक्ति इस प्रकार की गई कि मनोनीत सदस्यों (इसमें सरकारी सदस्य, मनोनीत और गैर सरकारी सदस्य दोनों ही सम्मिलित थे) की संख्या प्रांतीय परिषदों के चुने हुए

सदस्यों से अधिक थी। केवल बंगाल ही एक ऐसा अपवाद था जहां चुने हुए सदस्यों की संख्या मनोनीत किए गए सदस्यों से अधिक थी।

1919 के अधिनियम के द्वारा पहली बार केंद्र तथा प्रांतीय सरकारों के बीच प्रशासन के समस्त विषयों का बंटवारा किया गया। प्रांतीय सूची में स्थानीय महत्व के विषय रखे गए जैसे– शिक्षा, स्वशासन, कृषि, सिंचाई आदि। प्रांतीय सरकारों को स्वायत्तता देने के लिए उनके आय के साधन भी निर्धारित कर दिए गए ताकि प्रांतीय सरकारें विभिन्न विभागों के विकास के लिए केंद्र सरकार पर आश्रित न रहें। 1919 के अधिनियम के द्वारा प्रांतीय परिषदों की संख्या को बढ़ाया गया तथा इन परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रखा गया। प्रांतीय विधानपरिषदों के सदस्यों के अधिकारों में वृद्धि की गई। कानून निर्माण की प्रक्रिया में सभी सदस्य भाग ले सकते थे। वे पूरक प्रश्न पूछ सकते थे तथा बजट को अस्वीकृत भी कर सकते थे, किंतु आवश्यकता पड़ने पर गवर्नर बजट को पुनः बहाल कर सकता था। प्रांतीय विधानपरिषद का कार्यकाल वैसे तो तीन वर्ष ही था परंतु गवर्नर इसे घटा बढ़ा सकता था। गवर्नर प्रांतीय परिषद का अध्यक्ष नहीं होता था। परिषदों को अपना सभापति चुनने का अधिकार था। प्रांतों में द्वैध शासन व्यवस्था प्रारंभ होने के कारण परिषदों के सदस्यों को प्रांतीय शासन पर दृष्टि रखने का अवसर मिला। हस्तांतरित विषयों के संबंध में प्रांतीय परिषद प्रभावशाली बनी।

1919 के अधिनियम के द्वारा प्रांतों में द्वैध शासन व्यवस्था लागू की गई जो कि महत्वपूर्ण कदम था, क्योंकि यह उत्तरदायी सरकार की स्थापना का आरंभिक कदम था। केंद्र की बजाय प्रांतों में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था करने का निश्चय किया गया, लेकिन अधिनियम का निर्माण करने वाले सदस्य प्रांतों में पूर्ण रूप से उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए तैयार नहीं थे। इसका कारण यह था कि भारतीयों को संवैधानिक अनुभव नहीं था और इससे प्रशासन में कठिनाइयां आ सकती थीं। ब्रिटिश सरकार प्रांतीय शासन के एक भाग पर नौकरशाही का अधिकार बनाए रखना चाहती थी और द्वितीय भाग जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों को सौपने के लिए तैयार थी। ऐसी स्थिति में दोनों उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक प्रयोग किया गया जो द्वैध शासन कहलाया।

प्रांतों में द्वैध शासन की प्रक्रिया को संचालित करने के लिए प्रांतीय विषयों को दो भागों में विभक्त किया गया। पहला हस्तांतरित विषय तथा दूसरा आरक्षित विषय। हस्तांतरित विषयों में शिक्षा, पुस्तकालय, संग्रहालय, स्थानीय स्वायत्त प्रशासन, चिकित्सा सहायता, सार्वजनिक स्वास्थ्य, मत्स्य पालन, सार्वजनिक निर्माण विभाग, आबकारी उद्योग, मापतौल इत्यादि सम्मिलित थे। आरक्षित विषयों में वित्त, भूमिकर, अकाल सहायता, न्याय, पुलिस, छापेखाने, समाचार पत्र, खाने, बिजली, कारखाने, गैस, सार्वजनिक सेवाएं, सिंचाई इत्यादि थे। आरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर अपने द्वारा मनोनीत सदस्यों की सहायता से (जो कि विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं थे) करता था। हस्तांतरित विषयों का प्रशासन गवर्नर उन मंत्रियों की सहायता से करता था जिन्हें वह निर्वाचित सदस्यों में से (ये लोग सदन के प्रति उत्तरदायी थे तथा गवर्नर की इच्छा पर्यन्त अपने पद पर रह सकते थे) नियुक्त करता था। इस प्रकार निर्वाचित मंत्रियों को नियुक्त करके और हस्तांतरित विषयों का दायित्व देकर प्रांतों में आंशिक

रूप से उत्तरदायी शासन का सूत्रपात किया गया। सपरिषद् राज्य सचिव एवं सपरिषद् गवर्नर जनरल को इनके विषयों में हस्तक्षेप के सीमित अधिकार थे, परंतु आरक्षित विषयों में हस्तक्षेप के उनके अधिकार पूर्ववत बने रहे।

1935 के अधिनियम की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसके द्वारा प्रांतों को पहली बार एक स्वतंत्र संवैधानिक और कानूनी रूप प्राप्त हुआ था। संघीय एवं प्रांतीय क्षेत्रों के शासनाधिकारों एवं विषयों को स्पष्ट करने हेतु विधायी शक्तियों को सातवीं अनुसूची के अंतर्गत संघीय, प्रांतीय एवं समवर्ती सूची में विभाजित कर दिया गया था। संघीय सूची में 59, प्रांतीय सूची में 45 तथा समवर्ती सूची में 36 विषय रखे गए थे। प्रांतों को अब केंद्र के साथ समवर्ती सूची के कुछ विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार था। समवर्ती क्षेत्र में केंद्र एवं प्रांतों के कानून में विवाद होने पर केंद्र के दृष्टिकोण को प्रधानता प्राप्त थी। यह ध्यातव्य है कि ये सूचियां 1919 में केंद्र और प्रांतों के मध्य, विषयों के वितरण से भिन्न थी। जहां 1919 में यह वितरण सत्ता के विकेंद्रीकरण से प्राप्त हुआ था वहां 1935 में केंद्र और प्रांत के अधिकार उनकी मूलभूत शक्ति थी, जो उन्हें संविधान से प्राप्त थी।

प्रांतों को केंद्र से स्वतंत्र बनाने के लिए उसे वित्तीय शक्तियां भी दी गईं थी। प्रांत अब विदेशों से भी अपने लिए ऋण ले सकते थे, इसके लिए उन्हें भारत मंत्री की अनुमति की आवश्यकता भी नहीं थी। प्रांत अब कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़कर केंद्र और भारत मंत्री के निरीक्षण निर्देशन से पूर्णतः मुक्त थे।

इस अधिनियम के द्वारा बर्मा को भारत से पृथक कर दिया गया। ब्रिटिश सम्राट के प्रशासकीय आदेशों (ऑर्डर्स इन कौंसिल) से सिंध एवं उड़ीसा को नए प्रांत के रूप में मान्यता दी। इस प्रकार ब्रिटिश भारत 11 प्रांतों (बंगाल, मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रांत, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रांत, पंजाब, सिंध, उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत, असम) में विभक्त हो गया। ब्रिटिश सम्राट के प्रशासकीय आदेश से वर्तमान प्रांतों की सीमा में परिवर्तन तथा नए प्रांतों का गठन सम्भव हुआ।

मद्रास, बंबई, बिहार, बंगाल, संयुक्त प्रांत में द्विसदनात्मक विधायिकाओं का प्रावधान किया गया तथा अन्य प्रांतों में एक सदन वाली विधायिकाओं की व्यवस्था रही। मताधिकार पूर्व की भांति सम्पत्ति पर आधारित था। अनुसूची 10 में उसके विस्तृत प्रावधानों का उल्लेख था। 1919 की अपेक्षा मतदाताओं की संख्या में वृद्धि हुई। अब 3 करोड़ मतदाता थे।

विधायिका के उच्च सदन को विधानपरिषद कहा जाता था। विधानपरिषद के सदस्यों की संख्या विभिन्न प्रांतों में भिन्न–भिन्न थी। इन परिषदों में स्थानों का वितरण विभिन्न समुदायों और सम्प्रदायों में साम्प्रदायिक निर्णय और उसके परिवर्द्धित रूप पूना समझौते की धाराओं के अनुसार किया गया था।

प्रांतीय स्वायत्तता के कार्यान्वयन के दो प्रमुख स्रोत थे, पहला 1935 के अधिनियम की धाराएं तथा दूसरा गवर्नर जनरल को दिया गया निर्देशपत्र (इंस्ट्रूमेंट ऑफ इंस्ट्रक्शंस)। अधिनियम के अनुसार प्रांतों के गवर्नर की सहायता और सलाह के लिए मंत्रीमंडल का प्रावधान था, परंतु कुछ विषयों के शासन के लिए गवर्नर अपने विवेक का प्रयोग तथा कुछ अन्य विषयों में अपने व्यक्तिगत विचारों (जजमेंट) का प्रयोग कर सकता था।

विवेकाधिकार का प्रयोग करते समय गवर्नर के पास सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही प्रकार की विधायी शक्तियां थी। एक ओर वह किसी विधेयक पर अपनी सहमति देने से मना कर सकता था तो दूसरी ओर वह उन्हें गवर्नर जनरल के विचार के लिए सुरक्षित रख सकता था। आपातकाल की स्थिति में वह अध्यादेश जारी कर सकता था जिसकी अवधि 6 माह होती थी। इसके अतिरिक्त उसे ऐसे अधिनियम को भी पारित करने का अधिकार था जिन्हें गवर्नर अधिनियम (गवर्नर एक्ट) कहा जाता था। इनकी वही मान्यता और स्थायित्व था जो विधायिका से पारित किसी अधिनियम का होता था।

गवर्नर के व्यक्तिगत विवेक से कार्य करने का अभिप्राय था कि वह उन्हें अपनी विशेष जिम्मेदारी को पूर्ण करने के लिए करता था। ये जिम्मेदारियां थीं – (1) प्रांत अथवा उसके किसी भाग में शांति और व्यवस्था के लिए अभूतपूर्व संकट का निवारण (2) अल्पसंख्यक वर्गों के समूचित हितों की रक्षा। (3) सरकारी कर्मचारियों की अधिनियम के अंतर्गत रक्षा। (4) ब्रिटिश व्यावसायिक हितों की प्रशासनिक विभेद की नीति से रक्षा। (5) प्रांतो के सामान्य शासन की परिधि से वर्जित क्षेत्रों में शांति व्यवस्था। (6) देशी रियासतों और उसके शासकों के अधिकारों की रक्षा। (7) गवर्नर जनरल द्वारा संघीय हितों की रक्षा के लिए दिए गए निर्देशों का पालन करना। व्यक्तिगत विचार के अंतर्गत आने वाले विषयों पर मंत्री सलाह तो दे सकते थे, परंतु गवर्नर उक्त सलाह को मानने या न मानने के लिए स्वतंत्र था।

जब गवर्नर अपने विवेक या अपने व्यक्तिगत विचार से कार्य करता था तो वह गवर्नर जनरल, भारत मंत्री और उसके माध्यम से ब्रिटिश संसद के नियंत्रण में रहता था। गवर्नर के अधिकार सुरक्षा के प्रावधान (सेफगार्ड) कहे गये थे। इनके द्वारा निश्चित की गई सीमाओं के अतिरिक्त प्रांतों में पूर्ण स्वायत्तता थी। प्रांतों में द्वैधशासन समाप्त कर सम्पूर्ण शासन मंत्रिमंडलीय पद्धति पर चलाया जाने लगा। इसी के साथ प्रांतों में आरक्षित और हस्तांतरित विषयों के विभाजन भी समाप्त करते हुए सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मंत्रिमंडल को सौंप दिए गए। मंत्रिमंडल विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होता था। इस प्रकार पहली बार प्रांतीय स्तर पर उत्तरदायी शासन स्थापित करने का प्रयास किया गया। सामान्य परिस्थितियों में गवर्नर मंत्रियों के विभागों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था, परंतु उसे बहुत से विशेषाधिकार भी दे दिए गए थे, जिन्हें वह अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकता था। इसी कारण भारतीयों द्वारा इस अधिनियम की आलोचना की गई।

जिला प्रशासन

केंद्रीय एवं प्रांतीय प्रशासन के पश्चात जिला प्रशासन का स्थान आता था। प्रांत जिलों में विभक्त था। जिले का प्रमुख अधिकारी प्रारंभ में सुपरिन्टेंडेन्ट एवं बाद में डिप्टी कमिश्नर कहा जाता था। जिले को परगना (तहसील) में विभाजित किया गया था। परगना अथवा तहसील का प्रमुख अधिकारी तहसीलदार कहलाता था। पुलिस व्यवस्था की देखभाल भी जिलाधिकारी करता था। नगर पुलिस की व्यवस्था कोतवाल को करनी होती थी। जिलाधिकारी को न्यायिक शक्तियां भी प्राप्त थी। वह दो वर्ष के कारावास तक का दंड दे सकता था।

दीवानी न्याय प्रशासन हेतु जिले में एक न्यायाधीश की नियुक्ति की गई थी। उसके अधीन प्रधान सदर अमीन, सदर अमीन एवं मुंसिफ होते थे। कई जिलों को मिलाकर वर्तमान की भांति संभाग बनता था। संभाग का दायित्व कमिश्नर को सौंपा गया था। कमिश्नर सत्रन्यायाधीश (सेशन जज) एवं अपीलीय व्यवहार न्यायाधीश (सिविल जज ऑफ अपील) भी होता था।

जिले में अन्य विभाग– भूअभिलेख, जेल, शिक्षा, पुलिस, वन, चिकित्सा, लोक निर्माण, लोक स्वास्थ्य, उत्पाद शुल्क, पंजीयन आदि होते थे। इनके मुखिया यद्यपि अलग–अलग होते थे मगर उन पर नियंत्रण जिलाधिकारी का होता था।

जिलों में जिला पुलिस अधीक्षक की नियुक्ति की गई थी जो पुलिस महानिरीक्षक के प्रति उत्तरदायी था, इसके बावजूद जिला मजिस्ट्रेट (दंडाधिकारी) की भी हैसियत से जिलाधिकारी (डिप्टी कमिश्नर) जिला पुलिस का अध्यक्ष कहलाता था।

जिले के सामान्य और राजस्व प्रशासन में डिप्टी कमिश्नर की सहायतार्थ सहायक कमिश्नर (असिस्टेंट कमिश्नर) एवं अतिरिक्त सहायक कमिश्नर (एडीशनल असिस्टेंट कमिश्नर) होते थे। तहसील का प्रशासक तहसीलदार होता था जिसे सबकलेक्टर कहा जाता था। जिलाधिकारी की भांति तहसील में वह सिविल एवं क्रिमिनल न्यायी एवं राजस्व शक्तियों का प्रयोग करता था। तहसीलदार के सहयोगार्थ नायब तहसीलदार होते थे। ग्राम स्तर पर राजस्व का काम पटवारी (ग्राम लेखपाल) देखता था। जिले में जब 30 वर्षीय बंदोबस्त प्रणाली लागू की गई उस समय पटवारी को मालगुजारी का एजेंट कहा गया था। भू–राजस्व अधिनियम 1861 के तहत पटवारी को धीरे–धीरे सरकारी नियंत्रण में लाया गया। 1911–16 में पटवारी को सरकार की ओर से वेतन की व्यवस्था की गई। पटवारियों के कार्यों की देखभाल हेतु राजस्व निरीक्षकों की नियुक्ति की गई थी। इनके ऊपर अधीक्षक भूअभिलेख होता था। अधीक्षक भूअभिलेख तहसीलदार के समकक्ष होता था। अधीक्षक भूअभिलेख की सहायतार्थ सहायक अधीक्षक भू–अभिलेख होते थे।

1877–78 में यह व्यवस्था की गई कि डिप्टी कमिश्नर को सभी विभागों में जिला प्रशासन का प्रमुख समझा जाना चाहिए। पहले तो जिलाधिकारी न्यायिक दायित्वों का निर्वहन भी करता था मगर, बाद में सरकार ने कार्यपालिका को न्याय पालिका से पृथक रखने पर ध्यान दिया। इस दिशा में कार्य करते हुए 1887 में व्यवहार न्यायाधीश एवं मुंसिफों की नियुक्तियां की गई। इनके द्वारा काफी हद तक डिप्टीकमिश्नर एव तहसीलदारों को न्यायकार्य से मुक्त किया गया। कालांतर में चार संभागीय सत्र न्यायाधीशों की नियुक्ति की गई। इस व्यवस्था द्वारा डिप्टी कमिश्नर को दीवानी एवं फौजदारी न्यायकार्य से मुक्त कर दिया गया। 1904 तक जिला प्रशासन की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। इस समय जिलों में उपसंभागीय व्यवस्था लागू की गई। इसके तहत सहायक एवं अतिरिक्त सहायक कमिश्नरों को एक या अधिक तहसीलों का प्रभारी नियुक्त किया गया।

2.4.2 पुलिस, सेना, कानून और नागरिक सेवा

औपनिवेशिक साम्राज्य के प्रशासन को केंद्रीय, प्रांतीय एवं जिला प्रशासन के तहत नियमित किया गया। औपनिवेशिक प्रशासन में कानून व्यवस्था की स्थिति संभालने के

लिए पुलिस एवं सेना की व्यवस्था की गई। पुलिस, सेना एवं सिविल सेवा (नागरिक सेवा) को राज्य की भुजाओं की संज्ञा दी गई।

पुलिस

भारत में ब्रिटिश सम्राट का शासन स्थापित होने के पश्चात 1861 ई. में पुलिस प्रशासन का पुनर्गठन किया गया। आंतरिक शांति एवं सुव्यवस्था के लिए पृथक से पुलिस विभाग गठित किया गया। इसे स्थानीय सरकार के अधीन रखा गया। पुलिस विभाग के प्रधान को इंस्पेक्टर जनरल कहा गया। उसकी सहायता के लिए डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल नियुक्त किए गए। प्रत्येक जिले में एक अधीक्षक (सुपरिंटेंडेंट) की नियुक्ति की गई। यह जिला मजिस्ट्रेट की आधीनता में कार्य करता था। जिले को कई क्षेत्रों में बांटा गया एवं वहां डिप्टी इंस्पेक्टर नियुक्त किए गए। इनके अधीन सिपाही रखे गए। उच्च पदों पर अंग्रेज ही नियुक्त किए जाते थे जिनकी नियुक्ति इंग्लैंड में होती थी।

पुलिस में सुधार हेतु 1902 में फ्रेज़र आयोग गठित किया गया। इसकी सिफारिशों के आधार पर 1905 ई. में पुलिस विभाग में परिवर्तन किए गए। अपराधों की जांच हेतु एक पृथक विभाग स्थापित किया गया। पुलिस बल की संख्या में वृद्धि की गई। आयोग ने सिपाही का वेतन 8 रुपये प्रतिमाह की सिफारिश की थी मगर सरकार ने यह वेतन 7 रुपये प्रतिमाह ही निश्चित किया। अधिकांश भारतीयों को सिपाही पद पर ही नियुक्त किया जाता था।

सेना

वैसे तो ब्रिटिश भारतीय सेना की संरचना 1768 में मेजर स्ट्रिजर लारेंस ने मद्रास में की थी। इसलिए उसे ब्रिटिश भारतीय सेना का जनक पुकारा गया है। धीरे–धीरे जैसे–जैसे अंग्रेजों ने भारत में अपने राज्य का विस्तार किया वैसे–वैसे ब्रिटिश भारतीय सेना का विस्तार भी होता गया। ब्रिटिश भारतीय सेना में भारतीयों की अधिक संख्या को देखते हुए लॉर्ड डलहौजी को सेना में अंग्रेजों तथा भारतीयों में संतुलन बनाए रखने के लिए भारतीय सैनिकों की संख्या में कमी तथा अंग्रेजी सैनिकों की संख्या में वृद्धि करने की आवश्यकता महसूस हुई।

अंग्रेजों ने प्रारंभ से ही भारतीय और अंग्रेजी सैनिकों में भेद किया। भारतीय सैनिकों को अंग्रेजी सैनिकों की तुलना में बहुत कम वेतन, भत्ते एवं अन्य सुविधाएं मिलती थीं। सेना में सभी अधिकारी अंग्रेज ही होते थे। भारतीयों को केवल सूबेदार के पद तक ही नियुक्ति मिल पाती थी। 1857 के कथित विद्रोह का आरंभ भारतीय सैनिकों के द्वारा किया गया था और बाद में भी विद्रोह में मुख्य भाग उन्हीं का रहा।

इस कथित विद्रोह ने अंग्रेजी राज्य की जड़ें हिला दीं। इसके बाद सेना के पुनर्गठन पर अत्यधिक ध्यान दिया गया। पुनर्गठन पर ध्यान देने का एक अन्य कारण यह भी था कि 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैंड संसार की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में उभर रहा था। इसलिए, फ्रांस, जर्मनी, रूस, इटली, तथा अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों से इंग्लैंड की प्रतिद्वंद्विता स्वाभाविक थी। अतः इस दृष्टि से भारतीय सेना को सुदृढ़ किया जाना आवश्यक था। भारतीय सेना को समय–समय पर क्रीमिया, चीन, न्यूजीलैंड, मिडल ईस्ट (गल्फ प्रदेश) इत्यादि स्थानों पर भेजा गया।

1857 के पश्चात किए गए सैन्य सुधार

सर्वप्रथम ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना को अंग्रेजी सेना में सम्मिलित कर लिया गया। अब अंग्रेजी सेना के पदाधिकारी तथा सैनिक भारत में सेवा करने तथा अनुभव प्राप्त करने के लिए नियमित रूप से भेजे जाने लगे। यूरोपीय सैनिकों की संख्या 1857 के पूर्व 45000 थी उसे बढ़ाकर 65000 कर दिया गया तथा भारतीयों की संख्या 238000 से घटाकर 140000 तक लाई गई। बंगाल में भारतीय तथा यूरोपीय सैनिकों का अनुपात 2:1 तथा मद्रास मे 3:1 रखा गया। श्रेष्ठ शस्त्र जैसे तोप आदि अंग्रेजी सैनिकों के हाथों में रखे गए। सैनिकों में राष्ट्रवाद की भावना न पनपे इसके लिए क्षेत्रवाद की भावना को बढ़ावा देते हुए क्षेत्रीय आधार पर सैनिकों की भर्ती की गई जैसे– गोरखा, कुमायूं, सिक्ख, राजपूत, मराठा, बलोच रेजीमेंट आदि।

भारतीय सेना में एक नवीन जातिवाद, लड़ाकू तथा गैर लड़ाकू जाति के आधार पर भर्ती की गई। बिहार, अवध तथा अन्य स्थानों के व्यक्तियों को जिन्होंने 1857 के कथित विद्रोह में भाग लिया था गैर लड़ाकू घोषित किया गया और सेना में उनकी संख्या कम रखी गई। सिक्ख, गोरखा, पठानों को जिन्होंने 1857 के कथित विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों की सहायता की थी लड़ाकू जातियां घोषित कर अधिक संख्या में सेना में भर्ती किया गया।

सेना को जनसाधारण के विचारों और भावनाओं से पृथक रखा गया ताकि भविष्य में वे भारतीय अंग्रेजी शासन का विरोध न कर सकें यदि करें भी तो सेना उनका साथ न दे। सेना की युद्धक्षमता बढ़ाने के लिए लॉर्ड कर्जन के समय किचनर परीक्षा को सैन्य प्रशिक्षण में सम्मिलित कर लिया गया।

समय–समय पर सेना के पुनर्गठन से देश का रक्षाव्यय बहुत बढ़ गया। केंद्र एवं प्रांतीय सरकारों की कुल आय का 25 से 30% धन व्यय होने लगा। भारतीय सचिवालय के 3 फरवरी, 1908 के स्मरण पत्र ने इस ओर संकेत करते हुए बताया कि ग्रेट ब्रिटेन अपनी आय का 22% डोमेनियंस, 3% उपनिवेश तथा 4% रक्षा पर व्यय करता है जबकि भारत को अपनी कुल आय का 33% रक्षा पर व्यय करना पड़ता है।

भारतीय सेना प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध में एक श्रेष्ठ सेना सिद्ध हुई। भारतीय सैनिकों को विश्व के श्रेष्ठ सैनिकों में गिना जाने लगा। भारतीय सेना ने अंग्रेजी मालिकों की सेवा देश एवं विदेश में बड़ी वफ़ादारी से की। भारत में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को दबाने में ब्रिटिश सरकार की सहायता की तथा विदेशों में भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सुरक्षा की। वस्तुतः यदि देखा जाए तो अंग्रेजो द्वारा भारत तथा अंग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा भारतीय सैनिकों के द्वारा ही संभव हुई।

भारत को स्वतंत्रता प्राप्त होने में अंग्रेजों द्वारा भारतीय सेना की वफ़ादारी को खो देना भी एक प्रमुख कारण रहा। आजाद हिंद फौज का अंग्रेजों से संघर्ष और 1946 में भारतीय नौसेना के विद्रोह ने अंग्रेजों को सबक दिया था कि अब वे भारतीय सेना की वफादारी पर निर्भर नहीं रह सकते थे जो भारत में उनके शासन की सुरक्षा का मुख्य आधार थी।

कानून व्यवस्था

ब्रिटिश सरकार ने भारत में कानून व्यवस्था की स्थापना हेतु पुलिस एवं सेना का गठन किया। पुलिस एवं सेना के गठन के संबंध में हम ऊपर बता चुके हैं।

कानून व्यवस्था के तारतम्य में 1861 ई. में उच्चतम न्यायालय एवं सदर दीवानी व फौजदारी अदालतों को समाप्त कर कलकत्ता, मद्रास व बम्बई में उच्च न्यायालय का प्रावधान किया गया। फौजदारी कानून (संशोधन) अधिनियम 1908 एवं फौजदारी कानून संशोधन अधिनियम 1913 द्वारा भारत के राष्ट्रवादियों एवं क्रांतिकारियों पर अराजकता एवं आतंकवाद का अभियोग लगाकर तुरंत कार्यवाही कर कानून व्यवस्था बनाए रखने के प्रयास किए गए। किसी भी प्रकार के षड्यंत्र को अपराध की श्रेणी में रखा गया।

1935 में एक संघीय न्यायालय की स्थापना दिल्ली में की गई। यही वर्तमान के सर्वोच्च न्यायालय का आधार बना।

इस तरह अंग्रेजों ने भारत में कानून व्यवस्था एवं न्यायिक प्रशासन में सुधार किए। प्रथम विश्वयुद्ध के समय कानून व्यवस्था बनाए रखने के लिए यह प्रावधान किया गया था कि मात्र संदेह के आधार पर किसी को भी हिरासत में लिया जा सकता है। युद्धसमाप्ति के बाद भी यह काला कानून (रॉलेट एक्ट) जारी रहा जिसका भारत में प्रबल विरोध हुआ।

नागरिक सेवा

ईस्ट इंडिया कंपनी ने जब से भारत में राजनीतिक गतिविधियां संचालित कीं तब से उनके कर्मचारियों ने जो व्यापार करने के लिए नियुक्त हुए थे प्रशासकीय दायित्व भी निभाना शुरू किया, परंतु ये कर्मचारी भ्रष्ट सिद्ध हुए। उन्होंने प्रशासन पर ध्यान न देते हुए एक ओर भारतीय कारीगरों, व्यापारियों, जमींदारों सहित सभी वर्गों का शोषण किया और भारतीय शासकों से उपहार एवं रिश्वतें लीं वहीं दूसरी ओर अपना सम्पूर्ण ध्यान व्यक्तिगत व्यापार पर लगाया। यद्यपि कर्मचारियों के इस भ्रष्टाचार को रोकने के लिए क्लाइव और वॉरेन हेस्टिंग्स ने प्रयास किए किंतु असफल रहे।

कॉर्नवालिस प्रथम गवर्नर जनरल था जिसने असैनिक सेवा प्रारंभ करते हुए अलग से प्रशासनिक कर्मचारियों को नियुक्त किया। उसने भ्रष्टाचार को रोकने के लिए कंपनी के कर्मचारियों के व्यक्तिगत व्यापार पर प्रतिबंध लगाया और इस नियम का कठोरता से पालन किया। उसने असैनिक कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की तथा उन्हें रिश्वत एवं उपहार लेने से रोका और वरीयता के आधार पर उनकी पदोन्नति भी आरंभ की। कॉर्नवालिस ने अपनी व्यक्तिगत ईमानदारी तथा ईमानदार व्यक्तियों की नियुक्ति करके असैनिक क्षेत्र के भ्रष्टाचार को रोकने में कुछ सफलता प्राप्त की।

लॉर्ड वेलेजली ने असैनिक अधिकारियों के प्रशिक्षण की आवश्यकता को समझते हुए उनके प्रशिक्षण के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज खोला। 1806 में भारत में भेजे जाने वाले प्रशासकीय अधिकारियों की शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए इंग्लैंड में हेलेबरी में एक **'ईस्ट इंडिया कॉलेज'** खोला गया जहां प्रशासनिक अधिकारियों को दो वर्ष के प्रशिक्षण देने की व्यवस्था थी।

1853 तक सभी प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति कंपनी के डायरेक्टर किया करते थे, परंतु 1853 के चार्टर एक्ट के द्वारा उनका यह अधिकार समाप्त कर दिया गया और यह निश्चय किया गया कि सभी अधिकारियों की नियुक्ति प्रतियोगी परीक्षा द्वारा की जाएगी। 1858 में जब भारत की सत्ता ब्रिटिश क्राउन के हाथों में आई तो सभी प्रशासनिक अधिकारी क्राउन के अधीन हो गए। उस समय यह निश्चित किया गया कि भारतीय प्रशासकीय अधिकारी प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर ब्रिटिश असैनिक अधिकारी कमिश्नरों की सिफारिश के बाद भारत सचिव के द्वारा नियुक्त किए जाएंगे।

यद्यपि कंपनी के शासन काल में भारतीयों को प्रशासकीय सेवाओं से वंचित रखने का प्रयास किया गया था, किंतु आर्थिक संकट के चलते विलियम बैंटिंग के समय कुछ भारतीयों को इन प्रशासनिक पदों पर नियुक्त किया गया। उस समय भारतीयों को प्रदान किया गया उच्चतम पद सदर अमीन था। इस प्रकार भारतीयों को प्रशासनिक सेवा में उच्च पद प्रदान किया जाना शुरू किया गया। 1833 के चार्टर एक्ट के द्वारा यह घोषित किया गया था कि धर्म, जाति, रंग अथवा जन्म के आधार पर किसी भी व्यक्ति को कंपनी की सेवा में प्रवेश से नहीं रोका जाएगा परंतु व्यवहार में इस सिद्धांत का पालन नहीं किया गया।

1853 में अंग्रेजी संसद ने भारतीय जनपद सेवा (I.C.S) में भर्ती के लिए एक प्रतियोगी परीक्षा आरंभ की, जिसमें भारतीयों को बैठने की अनुमति थी, परंतु भारतीयों के लिए कुछ ऐसे अवरोध उत्पन्न किए गए जिनकी वजह से यह परीक्षा उत्तीर्ण करना भारतीयों के लिए कठिन था।

1861 के अधिनियम द्वारा नागरिक सेवाओं के लिए अधिकतम आयु सीमा घटा कर 21 वर्ष कर दी गई जिसके परिणामस्वरूप 1858 की घोषणा के विपरीत यह सेवा भारतीयों के लिए लगभग निषिद्ध की गई क्योंकि उस समय की परिस्थितियों में इतनी कम आयु में लंदन जाकर प्रतियोगिता में भाग लेना भारतीयों के लिए लगभग असंभव ही था। 1869 ई. में सभी सार्वजनिक सेवाओं को तीन भागों में बांट दिया गया। (1) शाही, (2) प्रांतीय एवं (3) अधीनस्थ। सभी महत्वपूर्ण पद शाही सेवाओं के वर्ग में रखे गए। नियम निर्माण इस प्रकार किया गया कि भारतीयों को उच्च पद से बाहर रखा जा सके। अंग्रेज भारतीयों को अधीनस्थ सेवाओं तक ही सीमित रखना चाहते थे। यद्यपि भारतीय नागरिक सेवा के लिए अधीकतम आयु सीमा दो वर्ष बढ़ा कर 23 वर्ष कर दी गई थी। जॉन स्ट्रेची ने स्पष्टतः कहा था कि "हमें बिना छल–कपट के मान लेना चाहिए कि हम वे कार्यकारी पद अपने हाथ में रखना चाहते हैं जिन पर देश का वास्तविक नियंत्रण निर्भर है।"

1870 के अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह भारतीयों को नागरिक सेवा में बिना परीक्षा पास किए भी उनकी योग्यता के आधार पर नियुक्त कर सकता है। फलतः 1879 ई. में स्टेट्यूरी सिविल सर्विस (Statutory Civil Service) का निर्माण किया गया जिसमें राजाओं व जमींदारों को मनोनीत किया जाने लगा।

2.4.3 राज और नस्लीय दृष्टिकोण की विचारधारा

अंग्रेजों ने 19वीं शताब्दी में सुविधा के हिसाब से भारत में सामाजिक पहचान की स्थापना की। यह सब कुछ अंग्रेजों ने अपने मतलब के लिए किया ताकि भारत जैसे देश पर

वो आसानी से शासन कर सकें। अंग्रेजों ने जातिगत विचारधारा को कुछ इस तरह स्पष्ट किया कि इसे उन्होंने धर्म, जाति और जनजाति में बांट दिया।

जाति के लिए अंग्रेजी में कास्ट (Cast) शब्द का प्रयोग होता है। यह पुर्तगाली भाषा के कैस्टा (Casta) शब्द से बना है। जिसका अर्थ वंश, नस्ल या वर्ण से होता है। अंग्रेजों की जातीय श्रेष्ठता एवं भारतीयों के साथ मतभेद की नीति ने नई विचारधारा को जन्म दिया। इस भेदभाव की नीति ने अप्रत्यक्ष रूप से भारतीयों को संगठित होने के लिए प्रेरित किया।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ ही भारत में पाश्चात्य विचारधारा का प्रवेश हुआ। ब्रिटिश शासन की भारत की जनता को सभ्य बनाने की भूमिका और पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार द्वारा अनेक वरदानों से धन्य करने की उसकी छवि को प्रस्तुत करने में यह प्रभाव प्रतिक्रिया वाला ढांचा ब्रिटिश उपनिवेशवादी तथा प्रशासक इतिहासकारों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। उन्होंने इस कार्य के लिए पाश्चात्य शिक्षा का सहारा लिया। लार्ड मैकाले भारत में अंग्रेजी शिक्षा द्वारा एक ऐसा वर्ग तैयार करना चाहता था जो "रक्त और रंग से भारतीय हो परंतु उसकी प्रवृत्ति विचार, नैतिक मापदंड और प्रज्ञा अंग्रेजों जैसा हो।"

परंतु वह अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सका। पाश्चात्य ज्ञान प्राप्त कर भारतीयों के बीच बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ जो अपने अधिकारों और स्वतंत्रता के प्रति सचेत हुआ। अंग्रेजी विचारधारा को वह संदेह की दृष्टि से देखने लगा और सुधारों के प्रति उसके अंदर कौतुहल ने जन्म लिया और अनेक सामाजिक सुधारकों ने आंदोलनों के माध्यम से समाज के सभी वर्गों में नवीन चेतना का संचार किया। इस आधुनिक विचारों के उदय ने सामाजिक सुधारों की तरफ कदम बढ़ाया जिसका प्रत्यक्ष कारण भारतीय जनमानस को अंग्रेजी शिक्षा में शिक्षित करना था। उन्हें सभ्य बनाने की प्रक्रिया और पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार द्वारा अनेक वरदानों से धन्य करने की उसकी छवि को प्रस्तुत करने में यह प्रभाव प्रतिक्रिया वाला ढांचा ब्रिटिश उपनिवेशवादी तथा प्रशासक इतिहासकारों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

अंग्रेजी शिक्षा के इस प्रकार के प्रसार से अंग्रेजी साहित्य, सभ्यता व संस्कृति का प्रचार भी होने लगा और कालान्तर में भारतीयों के हृदय में अपनी संस्कृति के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। भारतीय युवकों में अंग्रेजी की मानसिक दासता भरने लगी। भाषा, वेशभूषा और भावों में वे अपने आपको अंग्रेजी का मानपुत्र कहने लगे। अंग्रेजी संस्कृति की चकाचौंध में वे प्रत्येक भारतीय वस्तु को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। भारतीयों की मौलिकता, विचार, स्वतंत्र और कार्यक्षमता कुंठित होने लगी। भारतीय पाश्चात्य सभ्यता में रंगे जाने लगे और अंग्रेजों का अंधानुकरण करने लगे। इसमें अराष्ट्रीयता की प्रवृत्तियां जाग्रत हुई और भारतीय संस्कृति को भारी आघात लगा। इन हानियों के होने पर अंग्रेजी शिक्षा लाभप्रद प्रमाणित हुई। अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारतीयों को पश्चिमी विज्ञान व साहित्य की विशेषताओं की कुंजी प्राप्त हो गई। उनकी प्राचीन विचारधाराएं परिवर्तित हुई एवं उनका दृष्टिकोण अधिक विस्तृत हुआ। अंग्रेजी शिक्षा–प्रसार में भारतीय संस्कृति और यूरोपीय संस्कृति का परस्पर संपर्क हुआ। भारतीयों को अपनी संस्कृति के अभावों का अनुभव होने लगा। फलतः नवाभ्युत्थान और सामाजिक व धार्मिक सुधारों का युग प्रारंभ हुआ। भारत में राजनीतिक जागृति और उग्र राष्ट्रीय भावना का उत्कर्ष हुआ।

अंग्रेजों की जातीय श्रेष्ठता चार्ल्स ग्रांट की 'ग्रेट ब्रिटेन की एशियाई प्रजा की सामाजिक स्थिति' नामक पुस्तिका में भारतवासियों को अनैतिक झूठा और पतित आचरण वाला बताया गया है। इससे स्पष्ट होती है। उसका मानना था कि पाश्चात्य शिक्षा और ईसाई धर्म के प्रचार द्वारा भारतवासियों के नैतिक स्तर को उठाया जा सकता है। "अज्ञानता को दूर करने का वास्तविक उपचार ज्ञान का प्रसार है। हिंदू इसलिए गलती करते हैं क्योंकि वे अज्ञानी हैं और उनकी गलतियों को उचित प्रकार से कभी भी उनके समक्ष नहीं रखा गया है। उनको हमारे प्रकाश और ज्ञान का दिया जाना ही उनके लिए सर्वोत्तम उपचार सिद्ध होंगे।"

इस प्रकार अंग्रेजों की प्रजातीय श्रेष्ठता पूरे उनके शासनकाल तक बनी रही। वे भारतीयों को अच्छे दृष्टिकोण से नहीं देखते थे, परंतु वे जानते थे कि अगर भारत में लंबे समय तक शासन करना है तो उन्हें ऐसे वर्ग को तैयार करना होगा जो उनका समर्थन करे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अंग्रेजों ने अनेक नीतियों का निर्धारण किया और अपनी नस्लीय श्रेष्ठता को भारतीयों के ऊपर थोपने में सफल रहे।

अंत में इसी नस्लीय भेदभाव ने भारतीयों को अपनी आजादी के लिए एकजुट होने के लिए प्रेरित किया।

अपनी प्रगति जांचिए

7. गृह सरकार के कितने प्रमुख अंग थे?

   (क) 2 (ख) 3

   (ग) 4 (घ) 5

8. मारले मिंटो अधिनियम कब पारित किया गया?

   (क) 1909 में (ख) 1910 में

   (ग) 1912 में (घ) 1915 में

9. भारत में पुलिस प्रशासन का गठन कब किया गया?

   (क) 1858 ई. में (ख) 1861 ई. में

   (ग) 1863 ई. में (घ) 1865 ई. में

2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ख)
3. (घ)
4. (क)
5. (ग)
6. (क)

7. (घ)

8. (क)

9. (ख)

2.6 सारांश

18वीं सदी में उत्तरवर्ती मुगल शासकों के दुर्बल होने के कारण मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी तथा भारत में कई स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ। ठीक इसी समय भारत में यूरोपीय शक्तियां भी धीरे–धीरे अपने पांव पसार रही थीं, जिनमें सबसे प्रमुख अंग्रेज थे। अंग्रेजों ने बंगाल से अपने प्रसार की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी थी। इसके बाद उन्होंने अन्य यूरोपीय शक्तियों को भारत से भगाना प्रारंभ कर दिया। इस समय भारत में कई नये राज्यों का उदय हुआ।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में आरंभ में व्यापारिक गतिविधियों को अपनाया। उन्होंने बंगाल के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित किया तथा वहां के उत्पादों के लिए विदेशों में नए–नए बाजारों की तलाश की। कंपनी ने 1757 ई. में नवाब को पराजित किया, 1764 ई. में बक्सर के युद्ध में विजय प्राप्त की और अंततः द्वैध शासन को समाप्त कर शासन का संपूर्ण भार अपने हाथों में ले लिया। तब बंगाल में वर्तमान पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा के भारतीय प्रांत के साथ–साथ बांग्लादेश भी सम्मिलित था।

18वीं शताब्दी में बंगाल अंग्रेजों की व्यापारिक गतिविधियों का केंद्र बना रहा। यहां से यूरोपीय देशों को शोरा, नील, चावल, काली मिर्च, सूती वस्त्र, रेशम, चीनी आदि का निर्यात व्यापक पैमाने पर किया जाता था। उस समय अंग्रेजों के लिए व्यापारिक दृष्टि से बंगाल कितना अधिक महत्वपूर्ण था इसका प्रमाण हमें इस तथ्य से मिल जाता है कि उस समय ब्रिटेन को एशिया से प्राप्त होने वाले संपूर्ण आयात का 60 प्रतिशत बंगाल से ही पूरा होता था।

1609 ई. में जब ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का निर्माण हुआ तो उसे आरंभिक वर्षों में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जेम्स तथा मिडल्टन के नेतृत्व में अंग्रेजों ने पहली दो यात्राएं पूर्वी द्वीपों की ओर की लेकिन वहां पहले से डचों का वर्चस्व होने के कारण उन्हें विशेष सफलता नहीं मिल पाई। अतः अंग्रेज व्यापारियों ने भारत की ओर रुख किया। विलियम हॉकिन्स के नेतृत्व में तीसरे व्यापारिक जत्थे ने सूरत में अपना डेरा डाला।

रॉबर्ट क्लाइव द्वारा मुगल सम्राट शाह आलम से दीवानी प्राप्त कर लेने के बाद बंगाल में जो शासन व्यवस्था कायम हुई उसे द्वैध शासन के नाम से जाना जाता है। द्वैध शासन में प्रशासनिक दायित्व तो बंगाल के नवाब के हाथों में था लेकिन राजस्व वसूली का दायित्व ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के पास था।

अगस्त, 1765 ई. में स्थापित द्वैध शासन व्यवस्था के अनुसार वित्त अर्थात कर वसूली का अधिकार कंपनी को मिला जबकि प्रशासन नवाब के हाथों में बने रहने दिया गया। सबसे बड़ी बात यह है कि नवाब और कंपनी दोनों की अलग–अलग स्वतंत्रता

थी। बक्सर के युद्ध के बाद बंगाल अंग्रेजों के कब्जे में आ गया था। इसके बाद अंग्रेजों ने बंगाल में द्वैध शासन की शुरुआत की। यह असल में द्वैध शासन के नाम पर बंगाल में लूट का आरंभ था। यह योजना रॉबर्ट क्लाइव ने बनायी थी। बंगाल में द्वैध शासन 1765 से 1772 तक चला। वैसे द्वैध शासन का जनक लियोनेल कर्टिस को माना जाता है।

जिस समय लॉर्ड वेलेजली 1798 में भारत का गवर्नर बना उस समय अंग्रेजी कंपनी की भारत में स्थिति कुछ विशेष मजबूत नहीं थी। लॉर्ड वेलेजली ने भारतीय प्रांतों पर नियंत्रण रखने, फ्रांसीसी प्रभाव को कम करने और एक प्रतिद्वंद्वी सेना बनाने के लिए एक योजना तैयार की, जिसे आज के इतिहास में सहायक संधि के नाम से जाना जाता है।

1848 ई. से 1856 ई. का काल ब्रिटिश कालीन भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। इस काल में लॉर्ड डलहौजी भारत का गवर्नर जनरल रहा। वह बहुत ही सक्रिय प्रशासक था, उसने युद्धों और कूटनीतियों से भारतीय राज्यों पर अधिकार करके भारत में ब्रिटिश कंपनी के साम्राज्य का विस्तार किया। डलहौजी साम्राज्यवादी विचारों का व्यक्ति था। अतः उसने भारत में गवर्नर जनरल का पदभार संभालने के साथ ही नाम कमाने का दृढ़ निश्चय किया।

डलहौजी द्वारा जो नीति भारतीय राज्यों के प्रति अपनायी गई उसके विषय में इतिहासकारों ने लिखा है, ''उससे पहले के गवर्नर जनरलों ने साधरणतया इस सिद्धान्त के आधार पर कार्य किया कि जिस प्रकार भी संभव हो, राज्य विस्तार नहीं किया जाये। डलहौजी ने इस सिद्धान्त पर कार्य किया कि जिस भी प्रकार संभव हो सके, ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार किया जाये।''

भारत में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात, देश में कई प्रकार के सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन आये। इनमें से अधिकांश परिवर्तनों का कारण मुगलों का भारत आगमन एवं उसके उपरांत मंगोलों का आक्रमण भी रहा। इस समय मुसलमानों ने अपने समुदाय की स्थापना की तथा हिंदुओं को धर्म परिवर्तन हेतु विवश किया। मुसलमानों ने हिंदू मंदिरों एवं बौद्ध मठों को भी क्षति पहुंचायी। मुगलों के शासनकाल में हिंदु कई प्रकार से प्रताड़ित किये गये, यहां तक कि बौद्धों को भी अपने धर्म की उपासना करने से रोका गया। इस काल में कई धार्मिक आंदोलनों का जन्म हुआ तथा कई प्रकार के धार्मिक संप्रदायों की स्थापना हुयी। इनमें से कुछ ने भारतीय संस्कृति पर आधिपत्य जमाने का भी प्रयास किया, जबकि कुछ ऐसे भी थे, जिनका इस प्रकार का कोई उद्देश्य नहीं था।

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन दो भागों में विभाजित था। एक भाग इग्लैंड में था तो दूसरा भाग भारत में। इंग्लैंड में कार्यरत भाग गृह सरकार कहलाता था। गृह सरकार के 5 प्रमुख अंग थे। सम्राट, मंत्रिमंडल, संसद, भारत सचिव एवं उसकी परिषद। इनमें भारत सचिव का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था। भारत सचिव का विधि संबंधी प्रशासनिक एवं आर्थिक मामलों पर पूर्ण नियंत्रण था। उसकी सहायतार्थ एक परिषद थी। भारत सचिव भारत संबंधी मामलों में ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। 1919 के अधिनियम द्वारा भारत सचिव की परिषद के सदस्यों की संख्या कम की गई। 1935

के अधिनियम द्वारा भारत सचिव की परिषद का अंत कर दिया गया। भारत के मामलों में अंतिम निर्णय गृह सरकार के हाथ में था। गृह सरकार का सम्पूर्ण खर्च भारत द्वारा देय था।

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन दो भागों में विभाजित था। एक भाग इग्लैंड में था तो दूसरा भाग भारत में। इंग्लैंड में कार्यरत भाग गृह सरकार कहलाता था। गृह सरकार के 5 प्रमुख अंग थे। सम्राट, मंत्रिमंडल, संसद, भारत सचिव एवं उसकी परिषद। इनमें भारत सचिव का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था। भारत सचिव का विधि संबंधी प्रशासनिक एवं आर्थिक मामलों पर पूर्ण नियंत्रण था। उसकी सहायतार्थ एक परिषद थी। भारत सचिव भारत संबंधी मामलों में ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। 1919 के अधिनियम द्वारा भारत सचिव की परिषद के सदस्यों की संख्या कम की गई। 1935 के अधिनियम द्वारा भारत सचिव की परिषद का अंत कर दिया गया। भारत के मामलों में अंतिम निर्णय गृह सरकार के हाथ में था। गृह सरकार का सम्पूर्ण खर्च भारत द्वारा देय था।

2.7 मुख्य शब्दावली

- **पतन** : नाश, गिरना
- **नेतृत्व** : संचालन करना
- **वर्चस्व** : तेज, प्रधान्य
- **परिलक्षित** : अच्छी तरह देखाभाला हुआ
- **संप्रभु** : सर्वप्रधान सत्ताधारी
- **आधिपत्य** : अधिकार
- **विघटन** : अलग करना, तोड़ना
- **पराकाष्ठा** : चरम सीमा, उच्चता
- **सामर्थ्य** : योग्यता, क्षमता

2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का निर्माण कब हुआ?
2. रॉबर्ट क्लाइव और बंगाल में द्वैधा शासन व्यवस्था का संक्षेप में निरूपण कीजिए।
3. सहायक संधि की विशेषताएं बताइए।
4. प्लासी का युद्ध कब हुआ?
5. बक्सर के युद्ध के बारे में संक्षेप में प्रकाश डालिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. ब्रिटिश सत्ता के विस्तार की विस्तृत विवेचना कीजिए।

2. सहायक संधि के परिणामों को बताते हुए इससे भारतीय राज्यों को कौन–सी हानियां हुई?
3. लॉर्ड डलहौजी की हड़प नीति के विषय में बताते हुए उसके परिणामों को स्पष्ट कीजिए।
4. टिप्पणी लिखिए–
   (क) कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746–48 ई.)
   (ख) कर्नाटक का द्वितीय युद्ध (1749–54 ई.)
   (ग) कर्नाटक का तृतीय युद्ध (1758–63 ई.)
5. आंग्ल–मैसूर संघर्ष के विषय में विस्तारपूर्वक बताइए।
6. भारत की प्रशासनिक संरचना को स्पष्ट कीजिए।

2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. Arthur Marwic, The Nature of History, 1973.
2. Bajpayee, S. R., Methods of social survey and research, kitabghar, Kanpur, 1984.
3. Bhargav, K. D., An Introduction to Archives, Director of Archive, Government of India, New Delhi, 1958.
4. Basu, Purnendu, Archives and Records : Why are they ? National Archives of India, New Delhi, 1960.
5. कुमार रवींद्र, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1997.
6. पामदत्त रजनी, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी दिल्ली, 2011.
7. माथुर एल. पी., आधुनिक भारत का इतिहास, जैन पुस्तक मंदिर जयपुर, 1992.
8. महाजन विद्याधर, आधुनिक भारत का इतिहास, एस. चंद्र एंड कंपनी, नई दिल्ली, 1993.
9. श्रीवास्तव, बी. के., इतिहास लेखन : अवधारणा विधाएं एवं साधन, एस. बी. पी. डी. पब्लिशिंग हाऊस, आगरा, 2008.
10. श्रीवास्तव, बी. के., भारतीय इतिहास की विषयवस्तु, एस. बी. पी. डी. पब्लिकेशन, आगरा, 2010.

इकाई 3 सामाजिक नीतियां एवं सामाजिक परिवर्तन

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 भारतीय समाज के संदर्भ में ब्रिटिश समझ : प्राच्यवादी, इंजीलवादी, उपयोगितावादी और परिवर्तन के विचार
  3.2.1 अंग्रेजों का प्राच्यवादी दृष्टिकोण
  3.2.2 अंग्रेजों का इंजीलवादी दृष्टिकोण
  3.2.3 अंग्रेजों का उपयोगितावादी दृष्टिकोण
  3.2.4 परिवर्तन के विचार
3.3 शिक्षा : स्वदेशी और आधुनिक
  3.3.1 प्राच्यवादी शिक्षा
  3.3.2 अंग्रेजी शासन काल में शिक्षा
3.4 सामाजिक सुधार और उभरते सामाजिक वर्ग
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप व्यापार के क्षेत्र में महान क्रांतिकारी परिवर्तन आया। व्यापारिक दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप नवीन बाजारों की खोज के लिए व्यापारिक मार्गों की खोज प्रारंभ हुई। जिसके कारण भारत में अनेक व्यापारिक कंपनियों का आगमन हुआ। व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में भारतीयों को राजनीति का केंद्र बनाकर 'ईस्ट इंडिया कंपनी' ने अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया।

अंग्रेजों ने भारतीयों की राजनीतिक दुर्बलता का लाभ उठाकर धीरे–धीरे अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने की योजना को क्रियान्वित करना शुरू किया। शीघ्र ही उन्हें सफलता प्राप्त हुई। अंग्रेजों ने कालान्तर में भारतीयों की सामाजिक परंपराओं और धार्मिक रीतिरिवाजों का खंडन करना शुरू किया और उसमें बदलाव के प्रयास किए जिसका विरोध पुरातन परंपरावादी भारतीयों द्वारा किया गया।

अंग्रेजों में प्रजातीय श्रेष्ठता का गर्व था। उनका मानना था कि ईश्वर ने उन्हें असभ्य दुनिया को सभ्य बनाने के लिए इस संसार में भेजा है। इस उद्देश्य से उन्होंने ईसाई मिशनरी के माध्यम से भारतीय धर्म, रीतिरिवाज, परंपराओं को हीन बताकर धर्म परिवर्तन का आंदोलन चलाया जिसको सफल बनाने के लिए उन्होंने भारतीय धर्म, समाज को अपने ढंग से प्रस्तुत किया और उसे उसी रूप में लिखा गया जैसा वह भारतीयों को दिखाना चाहते थे इससे उनके लाभ जुड़े हुए थे। वे भारतीय समाज में मतभेद उत्पन्न कर अपने साम्राज्य को स्थिरता प्रदान करना चाहते थे।

प्रस्तुत इकाई में भारतीय समाज के संदर्भ में ब्रिटिश समझ, स्वदेशी व आधुनिक शिक्षा, सामाजिक सुधार और उभरते सामाजिक वर्ग के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है।

टिप्पणी

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय समाज के प्रति अंग्रेजों का दृष्टिकोण किस प्रकार का था, इस विषय से अवगत हो पाएंगे;
- अंग्रेजों ने जो भारतीय समाज के प्रति नीतियां अपनाई थी, उनका अध्ययन कर पाएंगे;
- अंग्रेजों के आगमन से आए हुए परिवर्तनों का अध्ययन कर पाएंगे;
- सामाजिक सुधारों और उभरते हुए सामाजिक वर्ग से अवगत हो पाएंगे।

3.2 भारतीय समाज के संदर्भ में ब्रिटिश समझ : प्राच्यवादी, इंजीलवादी, उपयोगितावादी और परिवर्तन के विचार

भारतीय समाज के संदर्भ में ब्रिटिश समझ को निम्न प्रकार से समझाया गया है।

सामाजिक नीतियां एवं सामाजिक परिवर्तन

1600 ई. में 'ईस्ट इंडिया कंपनी' का आगमन हुआ। उस समय किसी के मस्तिष्क में यह विचार नहीं आया होगा कि शीघ्र ही यह कंपनी सर्वेसर्वा बन जाएगी। उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश कर भारत की आर्थिक गतिविधियों को तो प्रभावित किया ही साथ ही सामाजिक रीतिरिवाज, परंपराओं पर भी प्रहार करना शुरू किया और समाज सुधार के लिए उन्होंने अनेक नीतियों और कानूनों का क्रियान्वयन किया।

अंग्रेज प्रारंभ से ही भारतवासियों के धर्म, संस्कृति तथा सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करते आए थे।

अंग्रेजों में प्रजातीय अहंकार की भावना अत्यधिक थी। सभी विजेताओं के समान वे पराजित भारतीयों को हेय और तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। वे प्रत्येक अवसर पर भारतीयों का अपमान करते थे। उनके अत्याचारों के लिए दंड का कोई प्रावधान नहीं था। उनकी धारणा थी कि प्रजातीय दृष्टि से वे भारतीय नस्ल से ऊंची श्रेणी के थे और उनकी सभ्यता भारतीयों से श्रेष्ठ थी। वे अहंकारी थे और भारतीयों को हीन दृष्टि से देखते थे। एक नियम के द्वारा यह अनिवार्य कर दिया गया था कि प्रत्येक भारतीय सड़क पर चलते हुए प्रत्येक यूरोपियन को सलाम करे। अंग्रेजों ने अपना सार्वजनिक वर्ग पृथक बना लिया था और वे भारतीयों के साथ कोई संबंध नहीं रखते थे।

भारतीयों को संदेह था कि अंग्रेज उनकी सामाजिक व्यवस्था को नष्ट करके उन पर पाश्चात्य सभ्यता लादना चाहते थे। रेलगाड़ियों को चलाना, तार व्यवस्था स्थापित

टिप्पणी

करना, यूरोपियन शिक्षा का प्रसार होना, सती तथा बाल विवाह प्रथाओं को बंद करना विधवा विवाह का कानून बनाना, धर्म परिवर्तन करने पर भी पारिवारिक संपत्ति में हिस्सा देने का कानून बनाना आदि ऐसी नीतियां थी जिनमें भारतीयों के मन में सामाजिक परिवर्तन की रूपरेखा का जन्म हुआ।

ऐसे प्रबुद्ध भारतीय जो भारतीय समाज के दोषों से परिचित थे तथा पश्चिमी सभ्यता से भी प्रभावित थे, उनका विचार था कि इस स्थिति का सामना करने के लिए भारत का सामाजिक तथा धार्मिक पुनर्गठन आवश्यक था। वे चाहते थे कि भारतीय मध्यकालीन दृष्टिकोण को त्यागकर आधुनिक युग के विज्ञान तथा तर्क को स्वीकार करे। कुछ ऐसे सुधारक थे जो भारत की प्राचीन परम्पराओं से प्रेरणा लेकर पुनर्निर्माण का कार्य करना चाहते थे। उनका उद्देश्य था कि सामाजिक तथा धार्मिक जागृति द्वारा राष्ट्रीयता को ठोस आधार प्रदान किया जाए।

3.2.1 अंग्रेजों का प्राच्यवादी दृष्टिकोण

अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य को स्थापित करने के लिए अपनी आवश्यकता के अनुरूप भारत के संदर्भ में विचारों को रेखांकित किया। अंग्रेजों ने अपने मस्तिष्क में भारत के संदर्भ में जो अवधारणा बनाई, वह भारत आए हुए यात्रियों के विवरणों से प्राप्त की। एडवर्ड, टेरी और जॉन ओविंगटन भारत आने वाले प्रारंभिक यात्री थे। मुगल काल में आए हुए यात्री 'बर्नियर' ने मुगल साम्राज्य का अपने दृष्टिकोण से वर्णन किया है। तत्पश्चात 1600 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी का भारत में व्यापारिक उद्देश्य को लेकर आगमन हुआ। विलियम हॉकिन्स, थॉमस रो जैसे यात्रियों ने मुगलों से व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त की और शीघ्र ही वे राजनीतिक प्रतिस्पर्धा में शामिल हो गए।

लंबे समय से भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के कारण भारतीय अपने गौरवपूर्ण अतीत को भुलाने लगे थे। उसका प्रमुख कारण था विजेता आक्रान्तताओं के द्वारा तलवार के बल पर अपने साम्राज्य की स्थापना करना। जब भारत में अंग्रेजों का आगमन हुआ तो उनका यह मानना था कि यदि भारत में लंबे समय तक शासन करना है तो उसके गौरवपूर्ण अतीत को समझना और उसे जनसाधारण वर्ग तक पहुंचाना आवश्यक है। इस कार्य को 'वारेन हेस्टिंग्स' ने समझा, वह यह जानता था कि उसे ऐसे प्रशासक वर्ग की आवश्यकता थी जो निष्ठापूर्वक अंग्रेजों की प्रशासनिक कार्यों में मदद कर सके। इसके लिए उसने 1784 में एशियासिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना की। जिसका उद्देश्य भारत के प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति पर अध्ययन करना था एवं भारत के स्वर्णिम अतीत संबंधी ज्ञान की खोज करना और फिर उन लोगों को इस ज्ञान से परिचित कराना जिन्हें इस देश में प्रशासन चलाना है।

प्राच्यवादी ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के कुछ ऐसे अधिकारीगण थे जिन्होंने भारतीय संस्कृति की परंपराओं तथा भाषाओं का माध्यम चुनने की वकालत की। प्रमुख प्राच्यवादी वारेन हेस्टिंग्स, विलियम जोन्स, जेम्स प्रिंसेप, जोनायन डंकन हेनरी मेसर, मोनियर विलियम्स थे।

भारत में प्राच्यवादी समर्थक का समय 1772 से 1835 था। इसके पश्चात पाश्चात्यवाद इवेंजिलिस्टों एवं उपयोगितावादी दृष्टिकोणों का प्रभाव बढ़ने लगा।

टिप्पणी

रेग्युलेटिंग अधिनियम के पश्चात प्राच्यवाद

रॉबर्ट क्लाइव ने अपनी कूटनीति से प्लासी एवं बक्सर के युद्ध में सफलता प्राप्त की। उसने भारत में प्रशासन की एक नई कार्य प्रणाली को क्रियान्वित किया जिसे 'द्वैध शासन' कहा गया। वह प्रणाली बहुत अधिक सफल नहीं हो पाई और उसे समाप्त कर रेग्युलेटिंग अधिनियम के आधार पर यहां के प्रशासन को चलाने की शुरुआत की। एक गवर्नर जनरल एवं उसके सहयोग के लिए परिषद की स्थापना की गई। भारत में पहली बार ब्रिटिश न्याय प्रणाली की शुरुआत की गई। कलकत्ता में 'सुप्रीम कोर्ट' की स्थापना की गई।

वारेन हेस्टिंग्स 1772 से 1785 तक एक प्राच्यवादी समर्थक गवर्नर था। वह भारतीय साहित्य और संस्कृति में रुचि रखता था। इसके लिए उसने बांग्ला, उर्दू, फारसी भाषाओं का अध्ययन किया। उसके समय में 'चार्ल्स विलिकन्स' ने 1785 में भगवद् गीता का अनुवाद अंग्रेजी में किया। उन्होंने देवनागरी एवं बांग्ला भाषाओं में मुडबा का आविष्कार किया। इस समय फारसी भाषा के अध्ययन पर भी जोर दिया गया। इसका कारण था कि यह मुगलों की राजकीय भाषा थी। वारेन हेस्टिंग्स ने 'नया नियल हॉलेड को' अ कोड ऑफ जेन्टू लॉज को एकत्र करने के लिए प्रोत्साहित किया, जो विधि से संबंधित थी। जेन्टू लॉ कंपनी द्वारा शासित हिंदू अदालतों का आधार बन गया।

एक अंग्रेज न्यायविद् विलियम जोन्स ने भारत को नये सिरे से जानने का प्रयास किया और उसने महसूस किया कि भारत को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने की आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से उसने एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की। इसका उद्देश्य एशिया में रहकर और एशिया से बाहर रहकर दोनों प्रकार से भारत की सांस्कृतिक विरासत का अध्ययन करना था। इस सोसायटी ने भारत के सामाजिक, धार्मिक, भाषायिक और राजनीतिक पक्षों का गहराई से और नजदीक से अध्ययन किया।

एशियाटिक सोसायटी ने फारसी और संस्कृत ग्रंथों, पुराणों और कालिदास की रचनाओं को अनुवादित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने भारतीय समाज और धर्म पर शोध किया और लेख लिखे। जिसके कारण भारत और उसकी संस्कृति से संपूर्ण विश्व परिचित हो सके।

इसी क्रम में कंपनी द्वारा कलकत्ता में 'हिंदू कॉलेज की स्थापना' की गई जिसका उद्देश्य संस्कृत का अध्ययन था। कलकत्ता में एक मदरसे की भी स्थापना की गई जिसका उद्देश्य अरबी भाषा का अध्ययन था।

इस प्रकार हेस्टिंग्स अंग्रेजी कानूनों के आधार पर शासन चलाने के पक्ष में नहीं था। उसका मानना था कि 'विजितो पर उनके तरीके' से शासन किया जाए और इसके लिए उसने प्रयास भी किए।

चार्ल्स कॉर्नवालिस और प्राच्यवाद– 1786 से 1793 कार्नवालिस के शासन काल में भी प्राच्यवादी समर्थन में अनेक कार्य किए गए। जोनाथन डंकन ने बनारस में 1791 में 'संस्कृत कॉलेज' की स्थापना की एवं 'विलियम केरी' ने 'सेरमपुर' में प्राच्य अध्ययन केंद्र की स्थापना की। 'जेम्स प्रिंसेप' एवं 'हेनरी मेसर' ने ब्राह्मी लिपि का गहराई से

टिप्पणी

अध्ययन किया और अशोक के अभिलेख खोज कर भारतीय संस्कृति एवं अशोक के बारे में विस्तृत जानकारी दी।

छापाखाना का योगदान– भारत में छापेखाने के आविष्कार ने नये युग की शुरुआत की। विदेशियों द्वारा इसका उपयोग भले ही अपने लाभ के लिए किया गया परंतु कालान्तर में भारतीय अपनी संस्कृति को छापेखाने के माध्यम से गहराई से समझ पाए एवं उसे जनसाधारण वर्ग तक पहुंचा पाए। भारत में प्रिंटिंग प्रेस की शुरुआत सोलहवीं सदी में पुर्तगाली मिशनरियों द्वारा की गई। गोवा के पादरियों द्वारा प्रथम प्रिंटिंग छापी गई। ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1684 में बंबई में अपना पहला प्रिंटिंग प्रेस स्थापित किया। पहला निजी प्रेस 'सेरमपुर मिशनरी' द्वारा कलकत्ता में स्थापित किया गया। 1780 में जेम्स ऑगस्टस हिक्की ने 'The Bengal Gazette' के नाम से पहला समाचार पत्र प्रकाशित किया। 'जेम्स सिल्क बकिंघम' का पत्रकारिता के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने स्वतंत्र तथा तटस्थ पत्रकारिता को जन्म देकर पत्रकारों को पत्रकारिता अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया। बकिंघम ने ही प्रेस को जनता का प्रतिबिंब बनाया।

इस प्रकार प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना से भारतीय भाषाओं को भी प्रोत्साहन मिला और अनेक विद्वतजनों ने भारतीय भाषाओं में समाचार पत्रों का प्रकाशन किया। बंगाल के गवर्नर 'जॉन जेफानियाह हॉलवेल' ने भारतीय संस्कृति पर दो पुस्तकें प्रकाशित की। हेनरी थॉमस कोलब्रुक ने हिंदू तथा इस्लामी धार्मिक रीतियों पर लेख लिखे। उन्होंने ऋग्वेद का अध्ययन किया।

वेलेजली एवं प्राच्यवाद– भारतीय अतीत को खोजने का प्रयास अब ब्रिटिश व्यावहारिकता में शामिल हो गया। इसका अनुसरण लॉर्ड वेलेजली (1799 से 1805) ने भी किया। उसने 1800 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। इस कॉलेज में छात्रों को विशेष रूप से भारतीय भाषाओं की जानकारी दी जाती थी ताकि जब वे भविष्य में प्रशासक का पद संभालें तब देशी भाषाओं और बोलियों से परिचित रहें और भारत के अतीत को गहराई से समझ सकें। तत्कालीन प्रशासकों ने भारतीय अतीत संबंधी दृष्टिकोण के बारे में भावी प्रशासकों को प्रशिक्षित करने के लिए प्रयास किए। विभिन्न अधीनस्थ भारतीय शासकों के दरबार में नियुक्त भारत रेजीडेंट फारसी भाषा की जानकारी रखते थे तथा दरबार की सांस्कृतिक जीवन पद्धति को अपनाने का प्रयास करते थे। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से ब्रिटिश प्रशासकों ने भारतीय संस्कृति के गौरवमय इतिहास का अध्ययन किया और उसे लेखों एवं पुस्तकों के माध्यम से विश्व तक पहुंचाया।

प्राच्यवाद का विरोध– प्रारंभिक ब्रिटिश गवर्नरों के द्वारा प्राच्यवादी दृष्टिकोण अपनाने के कारण भारत का प्राचीन गौरव विश्व के समक्ष प्रस्तुत हुआ। भारतीयों में पुनः आत्मसम्मान की भावना प्रबल होने लगी। कुछ भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के समाज सुधारक भी इस प्रयत्न में लग गए। तब वे ईस्ट इंडिया कंपनी की औपनिवेशिक प्रशासन की नीतियों में परिवर्तन करने को मजबूर हो गए और वे यह सोचने के लिए बाध्य हो गए कि प्राच्यवादी नीतियां वास्तविक तौर पर भारत के अतीत के गौरव को रेखांकित कर रही हैं।

ब्रिटिश प्रशासनिक नीतियों में धीरे–धीरे परिवर्तन आने लगा और 1813 में कंपनी ने पहली बार शिक्षा को सरकारी दायित्व बनाया। ईसाई मिशनरियों ने शिक्षा के प्रचार

टिप्पणी

हेतु 'श्रीरामपुर' को अपना केंद्र बनाया तथा बाइबिल का 26 भाषाओं में अनुवाद किया। 1820 में कलकत्ता में विशेष कॉलेज की स्थापना की। अब धीरे–धीरे अंग्रेजों ने अपनी श्रेष्ठता को भारतीयों पर लागू करना शुरू कर दिया। विलियम बैंटिक ने 1835 में 'फोर्ट विलियम कॉलेज' को बंद कर दिया। यह उसकी पाश्चात्यवादी नीति थी एवं इसी सत्र में अंग्रेजी भाषा को ईस्ट इंडिया कंपनी की आधिकारिक भाषा बना दी गई।

अतः अंग्रेजों ने अपने साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति के लिए प्राच्यवादी नीतियों का समर्थन किया जिसका प्रमुख कारण नवस्थापित ब्रिटिश साम्राज्य को सुदृढ़ता प्रदान करना था। भले ही इसके माध्यम से भारत के अतीत का गौरव सभी के समक्ष प्रस्तुत हुआ।

3.2.2 अंग्रेजों का इंजीलवादी दृष्टिकोण

प्रारंभ में भारतीय अतीत को जानने के लिए बनी संस्थाएं एक प्रकार के समझौते का परिणाम थी, जो कंपनी के वाणिज्य और प्रशासन के हितों को पूरा करती थी। उनकी नीति थी "भारतीय समाज को समझो, पर इसे छोड़ो मत।" श्रीरामपुर मिशनरियों ने इसका विरोध किया और चुपके–चुपके उनके द्वारा भारतीय समाज में परिवर्तन की रूपरेखा को तैयार किया गया। 'चार्ल्स ग्रांट' जैसे बाद के मिशनरियों ने 'भारतीय बर्बरता' का खुलकर विरोध किया। उसके इस विरोध ने 'इवेजिलिस्ट' विचारधारा को जन्म दिया। इस विचारधारा ने भारतीयों को बनाने के क्षेत्र में कदम उठाए और उन्हें ईसाइयत के रंग में रंग दिया।

ब्रिटिश शासन स्थापित होने के पूर्व ही भारत का ईसाई धर्म से संपर्क हुआ। सेंट थॉमस ने प्रथम शताब्दी में ईसाई धर्म के प्रचार–प्रसार करने हेतु भारत की यात्रा की। इसके बाद भारत में अंग्रेजों के आगमन से यहां मिशनरियों का भी आगमन हुआ और उन्होंने अपने कार्यकलापों के द्वारा भारतीय समाज को गहन रूप से प्रभावित किया। इन मिशनरियों का मुख्य उद्देश्य गैर ईसाइयों को ईसाई धर्म में दीक्षित करना था।

इसी क्रम में 1793 में विलियम कैरी बंगाल पहुंचा और 'सेरमपुर' में एक मिशन की स्थापना की। इसके अलावा विलियम वार्ड जोशुआ तथा हनाह मार्शमैन उनके सहयोगी थे। वार्ड के संस्मरणों हिस्ट्री, लिटरेचर एंड माईथोलोजी ऑफ द हिंदुस एवं राईटिंग्स, रिलिजन एंड मैनर्स ऑफ द हिंदुस में उन्होंने अपने कार्य को धर्मयुद्ध के समान बताया। उनके द्वारा हिंदू विधान को शैतानी करार दिया गया।

इंवेजिलिसिस्ट–18वीं सदी में इंग्लैण्ड का ईसाई आंदोलन था। जिसका विस्तार उन्होंने विश्व के समस्त राष्ट्रों में किया। भारत में 1600 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ ही अंग्रेजों का आगमन भारत में होने लगा। वे यहां पर एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना चाहते थे जिसके साथ मिलकर वे नवस्थापित अंग्रेजी साम्राज्य के हितों की पूर्ति कर सकें।

यह कार्य मिशनरियों द्वारा अच्छी तरह किया गया। उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति का विस्तार किया एवं शिक्षा के माध्यम से धर्म परिवर्तन पर भी जोर दिया।

पुर्तगाली मिशनरी– सर्वप्रथम पुर्तगालियों ने बंबई, गोवा, दमन, दियु, हुगली में ईसाई विद्यालयों की स्थापना की। 1756 में गोवा में उच्च शिक्षा हेतु प्रथम जेसुइट कॉलेज एवं

टिप्पणी

अन्य जगह कॉलेज स्थापित किए। जहां पर ईसाई धर्म, लैटिन भाषा, तर्कशास्त्र, व्याकरण व पश्चिमी संगीत की शिक्षा प्रदान की जाती थी। तत्पश्चात 1614 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने धर्म प्रचार हेतु भारतीयों को प्रशिक्षित करना प्रारंभ किया। 'सेरमपुर' मिशनरी द्वारा प्रथम निजी प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना की गई। बंगाल के डॉक्टर केरे वार्ड तथा मार्शमैन सीरामपुर की डच बस्तियों में बस गये जिसके फलस्वरूप 1799 ई. में सीरामपुर मिशनरी अस्तित्व में आई। इन्होंने बाइबिल का अनेक भाषाओं में अनुवाद किया और अनेक पुस्तकें प्रकाशित की। सीरामपुर के मिशनरियों ने 1818 में 'बैपटिस्ट' मिशन कॉलेज की स्थापना की। 1818 ई. में कलकत्ता के प्रथम बिशप 'रेवरेण्ड' डॉ. मिडिलटन ने कलकत्ता में एक मिशनरी कॉलेज खोला, जो बिशप कॉलेज के नाम से प्रसिद्ध है। एक डेनमार्की मिशन जिसके प्रसिद्ध अग्रणियों में 'जीगेन–बेल्स' व 'फल्यूशा' थे, ने दक्षिण भारत में मिशनरी व शैक्षणिक कार्य किया। मद्रास में सर्वाधिकार प्रचार किया। 1813 के पश्चात अनेक नई संस्थाओं का जन्म हुआ जिनमें जनरल बैपटिस्ट मिशनरी सोसायटी, लंदन मिशनरी सोसायटी, वैसलियन मिशन, चर्च मिशनरी सोसायटी और स्कॉटलैंड सोसायटी प्रमुख थी जिन्होंने भारत में धर्मान्तरण के साथ शिक्षा के क्षेत्र में कार्य किया।

1813 ई. के बाद इंजीलवादी

1813 ई. के चार्टर एक्ट द्वारा ईसाई मिशनरियों तथा ईसाइयों को भारत में बसने, संपत्ति खरीदने, काम करने की आज्ञा मिल गई। इसके पश्चात भारत में ईसाई गतिविधियां तेज हो गई तथा कलकत्ता में मिशनरी के कार्य का प्रधान कार्यालय खोला गया एवं एक बिशप की नियुक्ति की गई। जिसे ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकृत भू–भागों में धर्म प्रचार एवं भ्रमण करने का अधिकार दिया गया। इन मिशनरियों ने कंपनी सरकार से आग्रह किया कि वह भारतीयों के प्रति अनुचित तथा अतिशय उदारता की नीति का परित्याग करे तथा उन्होंने इस बात पर क्षोभ प्रकट किया कि ईस्ट इंडिया कंपनी 'हिंदू मंदिरों' के प्रबंध का काम करती है और गलत तथा अमानुषिक रीति–रिवाजों और प्रथाओं का समर्थन करके भारतीयों को अंधकार में भटकने के लिए छोड़ देती है। इस प्रकार मिशनरियों ने भारतीय सामाजिक तथा आर्थिक एवं शैक्षणिक व्यवस्था में आमूल–चूल परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया।

3.2.3 अंग्रेजों का उपयोगितावादी दृष्टिकोण

उपयोगितावादी सिद्धांत का प्रमुख प्रतिपादक 'जेरेमी बेशम' नामक दार्शनिक को माना जाता है। उपयोगितावादियों ने भारत को अपने सिद्धांतों को परखने की प्रमुख प्रयोगशाला के रूप में देखा। उन्होंने भारत को सभ्यता के मापदंड की कसौटी पर सबसे निम्नतर स्तर पर माना और उन्होंने भारतीय पिछड़ापन दूर करने, उसकी सभ्यता के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य की उपयोगिता को प्रतिपादित किया। रोमिला थापर के अनुसार "उपयोगितावादियों का पक्का विश्वास था कि भारत में अंग्रेजों का आगमन एक दैवी सुयोग था, क्योंकि ब्रिटिश प्रशासन और कानून से भारत का पिछड़ापन खत्म हो जाएगा। उससे अब तक के निरंकुश शासकों का अटूट सिलसिला समाप्त हो जाएगा और भारत के जनगण में राजनीतिक चेतना का संचार होगा।"

टिप्पणी

उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भारत का इतिहास लिखने का श्रेय उपयोगितावादी लेखक 'जेम्स मिल' को जाता है। जिन्होंने "ब्रिटिश भारत का इतिहास" लिखा। ये महानुभाव कभी भारत नहीं आए और भारत के संदर्भ में एक पूरा ग्रंथ लिख दिया।

ईस्ट इंडिया का शासन भारत में स्थापित हुआ और कार्नवालिस के समय से गवर्नर जनरल को अधिकांश मामलों में निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त हो गया। धीरे–धीरे कंपनी को राजनीतिक अधिकार के समय पर एकत्रित करने का भी अधिकार प्राप्त हुआ। अब कंपनी को भारतीय जनसंख्या, कृषि, उत्पादन, व्यापार एवं भारत के भूगोल की जानकारी की आवश्यकता थी। 1765 में 'मेजर जेम्स रेनेला' ने भारत का प्रथम सर्वे किया एवं भारतीय नक्शा 1782 में प्रकाशित किया। कंपनी को समस्त कार्यों के लिए कम वेतन पर योग्य कर्मचारियों की आवश्यकता थी। वारेन हेस्टिंग्स के समय 'हिंदू एवं मुस्लिम' विधि का संकलन कराया गया।

उपयोगितावादियों के विचारों का भारत के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण के निर्माण पर मूलभूत प्रभाव पड़ा। बैंटिक ने कानून बनाकर परिवर्तन का माध्यम बनाया और इस संदर्भ में भारतीय रीति–रिवाजों से संबंधित अनेक कानून बनाए। यह अंग्रेजों का एक सुधारवादी पक्ष था, परंतु परंपरावादी भारतीयों द्वारा इसका विरोध किया गया। उनका मानना था कि वे अपनी सुधारवादी प्रवृत्ति के माध्यम से हमारी परंपरा और संस्कृति को खत्म करने का प्रयास कर रहे हैं। अंग्रेज सुधारवादी माध्यम से भारत के बुद्धिजीवी वर्ग को अपने पक्ष में करना चाहते थे जिससे वे अपने शासन को स्थायी आधार प्रदान कर सकें। उनका मानना था कि यदि लंबे समय तक शासन करना है तो न बहुत कठोर बनो और न ही बहुत लचीले। इसी उद्देश्य से उन्होंने भारतीय समाज में बदलाव लाने का प्रयास किया। ये प्रयास उन्होंने 1835 में 'मैकाले' की शिक्षा नीति से लागू किए जिसका उद्देश्य ऐसे वर्ग का निर्माण करना था जो "रंग रूप में भारतीय परंतु सोच में अंग्रेज हो।"

स्थानीय प्रशासन की इकाई जिला प्रशासन था। जिसका अधिकारी 'रेवेन्यू' कलेक्टर या जिले की आय को कर के माध्यम से एकत्र करने वाला अधिकारी था। मिल ने उपयोगितावादी अर्थशास्त्र के अनुरूप भू–राजस्व में बदलाव लाने की नीति का समर्थन किया है। इसीलिए अंग्रेजों ने भारतीय कराधान प्रणाली को मजबूत करने के उद्देश्य से रैय्यतवाड़ी, स्थायी बंदोबस्त, महालवाड़ी व्यवस्थाओं को लागू किया। इसके लिए उन्होंने जमींदारों का सहयोग लिया। अंग्रेजों को ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ जिसने कभी भी उनके विरोध में स्वर नहीं उठाए बल्कि उनके तौर–तरीके और रहन–सहन को उन्होंने बहुत ही आसानी से अपनाया। उनके माध्यम से अंग्रेजों ने अपनी साम्राज्यवादी जड़ों को और अधिक मजबूती प्रदान की।

अंग्रेजी उपयोगितावादी विचार में निरंकुशता की प्रवृत्ति की शुरुआत की गई। इस मत का प्रणेता था डलहौजी। उसने जेम्स मिल की विचारधारा का समर्थन किया और भारतीय राज्यों के प्रति नवीन नीतियों का निर्धारण किया। उसने अनेक विभागों की स्थापना की क्योंकि वह एकीकृत अखिल भारतीय साम्राज्य के ढांचे में कुशल प्रशासन की अवधारणा को अंजाम देना चाहता था।

टिप्पणी

अतः सभी ने विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। उद्देश्य सभी व्यक्तियों के लिए एक जैसा नहीं था। विलियम का व्यवहारवादी, चार्ल्स ग्रांट का इवेजिलिस्टिक, जेम्स मिल का उपयोगितावादी और गवर्नरों का अपना अलग दृष्टिकोण था। पर अंतिम उद्देश्य इन सभी का भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माण करना था।

3.2.4 परिवर्तन के विचार

मध्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था के पश्चात यूरोपियन्स द्वारा व्यापारिक प्रतिस्पर्धा से परिवर्तन के युग की शुरुआत हुई। इस प्रतिस्पर्धा में ब्रिटिश सर्वोच्चता स्थापित हुई। वारेन हेस्टिंग्स के गवर्नर बनने के पश्चात ब्रिटिश विचारधारा में परिवर्तन आया। विलियम जोन्स भाषाविद थे। उन्होंने संस्कृत के विद्वानों के साथ मिलकर संस्कृत की बारीकियां सीखी एवं अध्ययन किया और कुछ ही समय में उन्होंने कानून, दर्शन, धर्म, राजनीति, नैतिकता, अंकगणित, चिकित्सा विज्ञान आदि भारतीय पुस्तकों का अध्ययन किया। जोन्स और कोलब्रुक ने भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रति आदर भाव व्यक्त किया और भारत के प्राचीन वैभव को व्यक्त करने के लिए प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन पर बल दिया। उनके अध्ययन से ही भारत के भविष्य का निर्माण संभव था।

इस बात को बढ़ावा देने हेतु 1781 में अरबी, फारसी, इस्लामिक कानून के अध्ययन को बढ़ावा देने के लिए कलकत्ता में एक मदरसा खोला गया। 1791 में बनारस में हिंदू कॉलेज की स्थापना की गई ताकि वहां प्राचीन संस्कृत ग्रंथों की शिक्षा दी जा सके और देश का शासन चलाने में मदद मिले।

1835 से भारत में पाश्चात्य शिक्षण पद्धति के प्रारंभ ने भारत में एक नवीन बुद्धिजीवी वर्ग तैयार किया। यद्यपि ब्रिटिश अधिकारियों ने अंग्रेजी शिक्षण पद्धति का प्रारंभ कंपनी हेतु भारतीय क्लर्क तथा अन्य कर्मचारी प्राप्त करने हेतु किया था। मैकाले भारतीयों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना चाहते थे जो रक्त एवं वर्ण में भारतीय हो परंतु विचारों से वह अंग्रेज हो। परंतु अंग्रेजों की यह विचारधारा लंबे समय तक उनके पक्ष में नहीं रही। भारतीयों का एक ऐसा शिक्षित वर्ग तैयार हुआ जो विदेशों में अध्ययन के लिए गया और विदेशी स्वतंत्रता की विचारधारा को भारत लेकर आया जिसने भारतीय गुलामी के बंधन से मुक्ति का प्रयास किया।

अंग्रेजों द्वारा भारत में समाज सुधार के लिए किए गए प्रयत्नों से कुछ समाज सुधारकों का आविर्भाव हुआ। जैसे– राजा राम मोहन राय, विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, ईश्वरचंद्र विद्यासागर जिन्होंने हिंदुओं के अंदर वही प्राचीन आत्मविश्वास भरने का प्रयास किया और भारतीय धर्म एवं संस्कृति को विश्व में नये रूप में प्रस्तुत किया।

इस प्रकार भारतीय सभ्यता और संस्कृति ने अपने पुरातन गौरव को पुनः पहचाना और उसे पुनःस्थापित करने के लिए वे पुरजोर कोशिश में लग गए। यह भारतीयों के लिए परिवर्तन के नए युग की शुरुआत थी।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. रेग्युलेटिंग अधिनियम भारत कब आया?
   (क) 1774 (ख) 1773
   (ग) 1775 (घ) 1776
2. एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना कब हुई?
   (क) 1784 (ख) 1785
   (ग) 1786 (घ) 1778
3. भारत में प्रिंटिंग प्रेस की शुरुआत किसने की?
   (क) ईस्ट इंडिया कंपनी (ख) फ्रांसीसियों ने
   (ग) डच ईस्ट इंडिया कंपनी (घ) पुर्तगालियों ने
4. फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना किस सन् में हुई?
   (क) 1800 (ख) 1900
   (ग) 1801 (घ) 1805
5. इवेजिलिसिस्ट क्या है?
   (क) इंग्लैण्ड का ईसाई आंदोलन (ख) अमेरिका ईसाई आंदोलन
   (ग) पुर्तगाली ईसाई आंदोलन (घ) भारत में ईसाई आंदोलन

3.3 शिक्षा : स्वदेशी और आधुनिक

शिक्षा वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति के लिए ही नहीं अपितु सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए अनिवार्य है। भारतीयों ने शिक्षा के इस गहन महत्व को समझ लिया था और इसलिए भारत में सुदूर अतीत में भी शिक्षा की सुंदर व्यवस्था की गई थी।

मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् हमारे देश में शिक्षा की प्रगति धीमी पड़ गई। ईस्ट इंडिया का शासन स्थापित होने के पश्चात उन्होंने प्रारंभ में शिक्षा की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया। ईसाई मिशनरियों ने शिक्षा के क्षेत्र में प्रारंभिक प्रयास किए। इसके पश्चात 1813 के अधिनियम में पहली बार शिक्षा सरकारी दायित्व बनी। इसके पश्चात् क्रमशः विभिन्न शिक्षा आयोगों के माध्यम से भारत में शिक्षा के क्षेत्र में प्रयास किए गए। इसी बीच शिक्षा के माध्यम की समस्या के लिए दो विभिन्न विरोधी समुदायों का उत्कर्ष हुआ। राजा राममोहन राय और उनके अनुयायी अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में थे। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारतीयों ने स्वतंत्रता और अपने अधिकारों के महत्व को समझा और वे भारत की आजादी के लिए प्रयत्नशील हो गए।

3.3.1 प्राच्यवादी शिक्षा

अंग्रेजी शासन के पूर्व भारत में देशी शिक्षा प्रणाली विकसित थी। मध्यकालीन शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन आया। परंतु अंग्रेजों ने अपने साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति के उद्देश्य

से अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का विस्तार किया। उनका उद्देश्य भारतीयों को शिक्षित करना नहीं था बल्कि एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना था जो उनकी साम्राज्यवादी नीतियों का समर्थक हो। उनका मानना था कि "यदि किसी देश को गुलाम बनाए रखना है तो उसके साहित्य और संस्कृति का विनाश कर देना चाहिए।" उन्होंने सदैव इसी सिद्धांत पर कार्य किया।

प्राच्यवादी शिक्षा की स्थिति

भारत की प्राचीन शिक्षा अध्यात्म एवं धर्म पर आधारित थी। शिक्षा ज्ञान पर आधारित थी जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान की समर्थक थी। डॉ. अल्टेकर का मत है– "वैदिक युग से लेकर अब तक भारतीयों के लिए शिक्षा का अभिप्राय यह रहा है कि शिक्षा प्रकाश का स्रोत है तथा जीवन के विभिन्न कार्यों में यह हमारा मार्ग आलोकित करती है।"

जिस प्रकार अंधकार को दूर करने का साधन प्रकाश है उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन को प्रकाशमय करने का साधन शिक्षा है। शिक्षा मनुष्य का सर्वांगीण विकास कर उसे योग्य बनाती है।

प्राचीन काल में गुरुकुल और आश्रम व्यवस्था के साथ महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों का निर्माण हुआ। प्राचीन शिक्षा प्रणाली की अपनी एक विशिष्ट विशेषता रही है। उपनयन संस्कार के माध्यम से शिक्षा का प्रारंभ होता था और गुरुकुल में आश्रम में रहकर विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करता था। अधिकतर शिक्षा मौलिक होती थी। प्रश्नोत्तर, वाद विवाद एवं शास्त्रार्थ विधि का भी प्रयोग किया जाता था। शिक्षा निःशुल्क होती थी।

मध्यकाल में शिक्षा– कालान्तर में जब हिंदू, मुस्लिम संस्कृतियों का सम्मिश्रण हुआ और मुगलकाल में अराजकता का दमन होकर शांति व व्यवस्था स्थापित हुई, तब शिक्षा में भी परिवर्तन हुआ। मुगल सम्राटों ने शिक्षा की ओर ध्यान दिया। इस्लाम के संरक्षण और प्रचार के लिए मस्जिदें बनवाई गई साथ ही मकतबों, मदरसों और पुस्तकालयों की स्थापना होने लगी। मकतब प्रारंभिक शिक्षा केंद्र होते थे। छात्र तथा शिक्षकों का संबंध प्रेम और सम्मान का था। सादगी, सदाचार, विद्या प्रेम और धर्माचरण पर जोर दिया जाता था। कंठस्थ करने की परंपरा थी। हिंदू जनता के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। स्त्री शिक्षा की ओर तो किसी का ध्यान ही नहीं गया।

3.3.2 अंग्रेजी शासन काल में शिक्षा

ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना से और देश के राजनीतिक मामलों में उसके द्वारा हस्तक्षेप होने से भारत की राजनीतिक परिस्थिति में परिवर्तन होने लगा। इसका प्रभाव हमारी शिक्षा तथा शिक्षण संस्थाओं पर पड़ा। अपना राज्य स्थापित करने के पश्चात भी ईस्ट इंडिया कंपनी देश में शिक्षा प्रसार करने के प्रति उदासीन रही। भारतीयों में शिक्षा की उन्नति के लिए कोई ध्यान ही नहीं दिया गया और अंग्रेज ईस्ट इंडिया कंपनी ने उसे अपना कर्तव्य ही नहीं समझा, परंतु बाद में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने उसे भारतीय शिक्षा की ओर ध्यान देने को बाध्य किया। तब उसने भारत में प्रचलित शिक्षा प्रणाली को जारी रखने में सहयोग किया।

मिशनरियों द्वारा शिक्षा प्रयास– ईसाई धर्म प्रचारकों ने शिक्षा के क्षेत्र में अनेक प्रयत्न किए। 1725 ई. में यूरोपीय धर्म प्रचारकों ने मुसलमानों के बच्चों के लिए सत्रह

टिप्पणी

पाठशालाओं की स्थापना की एवं ईसाइयों के लिए चार मिशनरी शालाएं भी स्थापित की। 1727 ई. में प्रथम अंग्रेज प्रोटेस्टेस्ट मिशन मद्रास पहुंचा और उसने शिक्षा की ओर प्रयास किया। 1804 में लंदन 'मिशनरी सोसायटी' ने लंका दक्षिण भारत और अंत में बंगाल में भी अंग्रेजी पाठशालाएं स्थापित की। इन मिशनरी शालाओं में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की और उच्च वर्ग के वे ही हिंदू अपने बालकों को शिक्षा के लिए भेजते थे।

उन्होंने कलकत्ता में पच्चीस किलोमीटर दूर 'सेरामपुर' को अपना केंद्र बनाया। वहां से वे भारतीयों के धर्म परिवर्तन का भी प्रयास करने लगे। उन्होंने वहां मुद्रण केंद्र भी खोला और बाइबिल का 26 भाषाओं में अनुवाद कर उसका प्रचार किया। 'मेरी' टॉमस, मार्शमैन, वार्ड और डेविड ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किए। इन प्रयत्नों से कलकत्ता में 1810 में बिशप कॉलेज की स्थापना हुई। 1808 में "हिंदुओं और मुसलमानों के नाम संदेश" नामक पुस्तिका में मुहम्मद साहब को झूठा पैगम्बर बताया गया और हिंदू धर्म की कठोर निंदा की गई।

'चार्ल्स ग्रांट' भारत में कंपनी का कर्मचारी रहा। उसने 'ग्रेट ब्रिटेन' की 'एशियाई प्रजा की सामाजिक स्थिति' पुस्तक में भारतीयों को अनैतिक और झूठा कहा है। उसका मानना था कि पाश्चात्य शिक्षा और ईसाई धर्म के प्रचार द्वारा भारतीयों के नैतिक स्तर को उठाया जा सकता है। शिक्षा के प्रसार के लिए ग्रांट ने अंग्रेजी शिक्षा को उपयुक्त माध्यम बताया। इसे भारत में आधुनिक शिक्षा का जन्मदाता कहा जाता है।

प्रारंभिक शिक्षा सर्वेक्षण– थॉमस मुनरो द्वारा मद्रास, बंगाल और बंबई प्रांतों में देशी शिक्षा संबंधी जांच कराई गई जो एक रिपोर्ट के रूप में प्रस्तुत की गई। मद्रास प्रेसीडेन्सी के अधीनस्थ राज्य क्षेत्रों में 12,498 विद्यालय और महाविद्यालय थे। जनसंख्या के आधार पर प्रति 1000 लोगों के लिए एक विद्यालय था, परंतु स्त्रियों को विद्यालय नहीं भेजा जाता था। 5 और 10 वर्ष की आयु के बीच बालकों में एक तिहाई के लगभग शिक्षा प्राप्त करते थे। सभी विद्यालयों के पाठ्यक्रम समान नहीं होते थे। शिक्षकों को बहुत कम वेतन लगभग 6–7 रुपए दिए जाते थे।

बंबई में 1823 से 1825 के दौरान गवर्नर माऊन्ट स्टुअर्ट एलफिस्टन ने जांच कराई। इस रिपोर्ट के अनुसार अधिकांश विद्यालय मंदिरों, शिक्षकों या सम्मानित लोगों के निवास स्थानों में चलते थे। प्रति विद्यालय में औसत छात्र 15 थे।

अनुमान लगाते समय इनमें घरेलू शिक्षा संस्थाओं को शामिल नहीं किया गया है।

नवीन शिक्षा पद्धति का क्रमगत विकास– ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने शासन के प्रारंभिक दिनों में भारत में शिक्षा के लिए प्रयास नहीं किए। अपवाद के तौर पर कुछ शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई। जैसे 1781 में गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने 'कलकत्ता मदरसा' की स्थापना की जिसमें फारसी और अरबी का अध्ययन होता था। 1778 में हेस्टिंग्स के सहयोगी सर विलियम जोंस ने एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना की जिसने प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के अध्ययन हेतु महत्वपूर्ण प्रयास किए। जोनाथन डंकन द्वारा 1791 में वाराणसी में हिंदू कानून और दर्शन हेतु संस्कृत कॉलेज की स्थापना की गई। 1800 ई. में 'लॉर्ड वेलेजली' द्वारा कंपनी के असैनिक अधिकारियों की शिक्षा के लिए 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की स्थापना की

टिप्पणी

गई। राजा राममोहन राय, डेविड हेयर सर हाईड ईस्ट ने मिलकर कलकत्ता में 'हिंदू कॉलेज' की स्थापना की। इस प्रकार अंग्रेजों के प्रारंभिक प्रयास बहुत अधिक नहीं थे।

1813 का अधिनियम और शिक्षा के क्षेत्र में अनुदान की नीति– 1813 ई. में जब ब्रिटिश पार्लियामेंट ने ईस्ट इंडिया कंपनी के अनुदान में परिवर्तन किया तब भारतीय शिक्षा के लिए कंपनी का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया गया और निश्चित किया गया कि प्रति वर्ष कंपनी कम से कम एक लाख रुपया शिक्षा की प्रगति के लिए व्यय करे। 1823 में इसी धनराशि में से 'कलकत्ता स्कूल सोसायटी ऑफ कलकत्ता स्कूल सोसायटी' को शिक्षा के हेतु अनुदान दिए गए और अनुदान वितरण कमेटी (Committee of Public Instruction) की स्थापना की गई। इस कमेटी ने भारतीय शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए कार्य किए।

1833 ई. में कंपनी के आज्ञापत्र का पुनःशोधन हुआ। इस आज्ञापत्र की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं–

1. धनराशि एक लाख से बढ़ाकर दस गुनी कर दी गई।
2. समस्त देशों के मिशनरी भारत में प्रवेश कर सकेंगे।
3. धर्म, वंश, वर्ण के आधार पर कोई भारतीय कंपनी की नौकरी के लिए अयोग्य नहीं ठहराया जाएगा।
4. गवर्नर जनरल की कौंसिल में एक कानूनी सदस्य की वृद्धि होगी और इस पद पर 'लॉर्ड मैकाले' नियुक्त हुआ।

प्राच्य–पाश्चात्य विवाद– भारतीयों की शिक्षा संबंधी नीति निर्धारण के प्रश्न पर दो दल उत्पन्न हो गए थे, प्राच्यवादी एवं पाश्चात्यवादी। प्रथम विचारधारा को मानने वाले कंपनी के पुराने कर्मचारी थे। इनका यह विश्वास था कि भारत में पाश्चात्य शिक्षा और ज्ञान का प्रसार प्राच्य भाषाओं के माध्यम से किया जाए। विल्सन नहीं चाहता था कि भारतीय अंग्रेजी पढ़कर उसके देशवासियों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर एक धरातल पर खड़े हो सकें। प्राच्यवादी विज्ञान की शिक्षा और विज्ञान के विरोधी नहीं थे। वे यूरोपीय ज्ञान–विज्ञान को देशी भाषाओं के माध्यम से बताना चाहते थे। वे चाहते थे कि अंग्रेजी ज्ञान की उपयोगी पुस्तकों का संस्कृत व अरबी में अनुवाद हो। इसलिए प्राच्यवादी देशी उच्च शिक्षण संस्थाओं में संरक्षण का समर्थन करते थे।

कुछ प्राच्यवादी कूटनीतिज्ञ कारणों से भी इस मत का समर्थन कर रहे थे। प्रिन्सेप अंग्रेजी भाषा पर बल देता था और मानता था कि भारतीय अंग्रेजी भाषा पर अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। कुछ प्राच्यवादी ब्रिटिश साम्राज्य के हित में संस्कृत, अरबी और फारसी भाषाओं के आधार पर भारतीयों को इसलिए शिक्षित करना चाहते थे ताकि उन्हें धर्मों, जातियों व सम्प्रदायों के आधार पर विभाजित रखा जा सके। प्राच्यवादियों की यह भी धारणा थी कि यदि भारतवासी पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान से अपरिचित रहे तो उनमें स्वाधीनता की भावनाएं पनप सकेंगी। प्राच्यवादियों के अपने तर्क थे। उनका मानना था कि 1813 ई. के चार्टर एक्ट द्वारा जो एक लाख रुपया प्रतिवर्ष शिक्षा पर व्यय होना था उसे प्राच्य विद्या की उन्नति के लिए खर्च किया जाए। यह शिक्षा भारतीयों के स्वभाव व प्रवृत्तियों के अनुकूल सिद्ध होगी। संस्कृत और अरबी साहित्य का भी अपना स्थान है। प्राचीन चिंतन अमूल्य निधि है जिसे सभी भारतीयों को जानना आवश्यक है।

टिप्पणी

पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक जो एक्लीसिस्ट के नाम से प्रसिद्ध थे, जिनका नेता चार्ल्स ट्रैवलियन था, भारतीय सभ्यता में कोई रुचि नहीं रखते थे। पाश्चात्य समर्थक राजा राममोहन राय एवं लॉर्ड मैकाले थे। लॉर्ड मैकाले भारत में पुरुषों की एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न करना चाहता था जो "रक्त और रंग से भारतीय हो, परंतु अपनी प्रवृत्ति, विचार, नैतिक मापदंड और प्रज्ञा" से अंग्रेज हो और जो कंपनी के बाबू वर्ग का दायित्व संभाल सके। वह अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारत में पश्चिमी विचारों का प्रचार एवं औद्योगिक क्रांति के लाभों से उन्हें परिचित करना चाहता था। यहां पाश्चात्य शिक्षा के समर्थन में राजा राममोहन पर एक प्रश्न चिह्न लगता है कि अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से वे अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन कर रहे थे या फिर अंग्रेजों के प्रति अपनी भक्ति प्रकट कर रहे थे। क्या जब हम अंग्रेजी नहीं पढ़ रहे थे तब हमारा समाज उन्नत नहीं था या हम सभ्य नहीं थे? या फिर हम अपनी भारतीय भाषाओं का ज्ञान लेकर अपने समाज को जागरूक नहीं कर सकते थे। जब हम अपनी भाषा में शिक्षा ले रहे थे, दे रहे थे तो विश्वगुरु के रूप में जाने जाते थे। फिर भारतीयों को सभ्य बनाने के लिए पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन क्यों?

लॉर्ड मैकाले ने घोषणा की कि कानूनों के ज्ञान के लिए संस्कृत, अरबी व फारसी के शिक्षालयों पर धन व्यय करना मूर्खता है। उनको बंद करके सरकार को हिंदू और मुस्लिम कानूनों को अंग्रेजी में संहिताबद्ध कर देना चाहिए। प्राच्य शिक्षा की वर्तमान संस्थाओं का अंग्रेजी शिक्षा के सम्वर्द्धन के लिए प्रयोग करना चाहिए। अंग्रेजी भाषा पाश्चात्य भाषाओं में भी सर्वोपरि है। जो इस भाषा को जानता है, वह सुगमता से उस विशाल ज्ञान भंडार को प्राप्त कर सकता है। जिसे विश्व की सर्वाधिक बुद्धिमान जातियों ने रचा है।

लार्ड बैंटिक स्वयं अंग्रेजी का पक्षधर था और उसे राजा राममोहन राय जैसे शिक्षित भारतीयों का समर्थन भी मिला। बैंटिक के बाद यह विवाद 4 वर्ष तक चला जिसे गवर्नर जनरल आर्कलैण्ड ने 1839 ई. में एक आदेश के द्वारा समाप्त कर दिया।

विप्रवेशन या अधोमुखी निस्पन्दन सिद्धांत

मैकाले की शिक्षा पद्धति विप्रवेशन पद्धति (Infiltration Theory) में विश्वास करती थी। लार्ड ऑकलैण्ड भी इस नीति के समर्थक थे। आर्कलैण्ड की घोषणा के बाद ही विप्रवेशन सरकारी नीति के रूप में प्रभावशाली हुआ। इस सिद्धांत में यह माना जाता है कि यदि उच्च वर्ग के कुछ लोगों को शिक्षित कर दिया जाए तो वे मध्यम वर्ग के और अधिक लोगों को शिक्षित करेंगे एवं फिर ये शिक्षित लोग निम्न वर्ग के काफी लोगों को शिक्षित करेंगे। यह सिद्धांत ब्रिटेन के अनुमत के आधार पर बनाया गया था, लेकिन भारत में ऐसा संभव नहीं हो सका क्योंकि भारतीयों की मानसिकता और ब्रिटिश मानसिकता में फर्क था। इसके ठीक विपरीत भारत में उच्च शिक्षा प्राप्त एक ऐसे अभिजात्य वर्ग का उदय हुआ जो अपने को आम लोगों से श्रेष्ठ समझते थे।

1854 का चार्ल्स वुड डिस्पैच

शिक्षा के प्रसार का दूसरा चरण लार्ड डलहौजी के समय में शुरू हुआ। 1853 के चार्टर एक्ट में भारत में शिक्षा के विकास की जांच के लिए एक समिति के गठन का प्रावधान किया गया। सर चार्ल्सवुड की अध्यक्षता में गठित समिति ने 1854 में भारत में भावी

शिक्षा के लिए वृहत योजना तैयार की जिसमें अखिल भारतीय स्तर पर शिक्षा की नियामक पद्धति का गठन किया गया। चार्ल्स वुड के डिस्पैच को "भारतीय शिक्षा का मैग्नाकार्टा" कहा गया।

टिप्पणी

डिस्पैच की सिफारिशें

डिस्पैच की सिफारिशें निम्न प्रकार हैं–

1. सरकार पाश्चात्य शिक्षा कला, दर्शन, विज्ञान और साहित्य का प्रसार करे।
2. उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो, लेकिन देशी भाषाओं को भी प्रोत्साहित किया जाए।
3. देशी भाषाई प्राथमिक पाठशालाएं स्थापित की जाएं और उनके ऊपर (जिला स्तर पर) ऐंग्लो–वर्नेकुलर हाईस्कूल और संबंधित कॉलेज खोला जाए।
4. अध्यापकों के प्रशिक्षण हेतु अध्यापक प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना।
5. महिला शिक्षा को प्रोत्साहन।
6. शिक्षा क्षेत्र में निजी प्रयासों को प्रोत्साहन देने हेतु अनुदान सहायता की पद्धति चलाने की योजना।
7. कंपनी के 5 प्रांत बंगाल, मद्रास, बंबई उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रांत और पंजाब में एक–एक शिक्षा विभाग के निर्माण की योजना जो लोक शिक्षा निदेशक के अधीन कार्य करेगा।
8. लंदन विश्वविद्यालय के आधार पर कलकत्ता, बंबई और मद्रास में तीन विश्वविद्यालय स्थापित करने की जिनका मुख्य कार्य परीक्षाएं संचालित करना हो।

वुड डिस्पैच की सिफारिशों के प्रभाव में आने के बाद 'अधोमुखी निस्पंदन' सिद्धांत समाप्त हो गया।

हंटर कमीशन (1882–83) : लॉर्ड रिपन ने 1882 में डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया जिसका उद्देश्य 1854 ई. के बाद शिक्षा के क्षेत्र में की गई प्रगति का मूल्यांकन करना था। इस आयोग को प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए भी उपाय सुझाने थे।

सिफारिशें

हंटर कमीशन की सिफारिशें निम्न प्रकार हैं–

1. प्राथमिक शिक्षा को महत्व देते हुए कहा गया कि यह शिक्षा स्थानीय भाषा और उपयोगी विषयों में हो, इसका नियंत्रण जिला नगर बोर्डों को सौंपा जाए।
2. उच्च शिक्षा संस्थाओं के संचालन से सरकार को हट जाना चाहिए। इसकी जगह पर सरकार को कॉलेजों के लिए वित्तीय सहायता तथा विशेष अनुदान निर्धारित करना चाहिए।
3. हाई स्कूलों में प्रवेश परीक्षाओं के अतिरिक्त व्यापारिक एवं व्यावसायिक शिक्षा की भी व्यवस्था की जानी चाहिए।
4. आयोग ने प्रेसीडेंसी नगरों के अलावा अन्य स्थानों पर महिला शिक्षा हेतु पर्याप्त प्रबंध न होने पर खेद प्रकट किया और उसे बढ़ावा देने को कहा।

5. शिक्षा के क्षेत्र में निजी प्रयत्नों को प्रोत्साहन देने हेतु हंटर की संस्तुतियों पर सामान्यतः प्रांतीय सरकारों द्वारा कार्य किया गया।

टिप्पणी

रैले कमीशन–1902 : वायसराय लार्ड कर्जन ने शिक्षा से संबंधित मैकाले की योजना की आलोचना की। कर्जन द्वारा शिक्षा में लाने वाले परिवर्तनों का उद्देश्य राजनीतिक अधिक शैक्षणिक कम था। 1901 में कर्जन ने भारत के उच्चतम शिक्षा और विश्वविद्यालय अधिकारियों का सम्मेलन शिमला में बुलाया। सम्मेलन में पारित प्रस्ताव शिमला प्रस्ताव के नाम से जाना जाता है। शिमला सम्मेलन में पारित प्रस्तावों की तीखी आलोचना से विवश होकर कर्जन ने 1902 में थॉमस रैले की अध्यक्षता में 'विश्वविद्यालय आयोग' की स्थापना की।

1904 में पारित भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम के मुख्य प्रावधान इस प्रकार हैं–

1. विश्वविद्यालय के उपसदस्यों की संख्या 50 से न्यून तथा 100 से अधिक नहीं होनी चाहिए जिनका कार्यकाल 6 वर्ष का होगा। उप सदस्य को सरकार द्वारा चुना जाना था।
2. विश्वविद्यालयों को अध्ययन तथा शोध के लिए प्रोफेसर और लेक्चरर की नियुक्ति करनी चाहिए।
3. विश्वविद्यालय पर सरकारी नियंत्रण बढ़ गया, सरकार को विश्वविद्यालय की सेनेट द्वारा पारित प्रस्ताव पर 'वीटो' (निषेधाधिकार) का अधिकार दिया गया।
4. इस अधिनियम द्वारा अशासकीय कॉलेजों पर सरकारी नियंत्रण कठोर हो गया, सिंडीकेट को समय–समय पर कॉलेजों के निरीक्षण का अधिकार मिल गया।
5. गवर्नर जनरल को विश्वविद्यालय की क्षेत्रीय सीमा निर्धारित करने का अधिकार मिल गया।
6. कॉलेजों को विश्वविद्यालय से संबंधित करने का अधिकार सरकार ने अपने जिम्मे ले लिया।

कर्जन के विश्वविद्यालय अधिनियम की आलोचना करते हुए कुछ आलोचकों ने कहा कि भारतीय विश्वविद्यालय संसार में सबसे अधिक पूर्णतया सरकारी विश्वविद्यालय बन गए हैं।" कर्जन के समय 'कृषि विभाग पुरातत्व विभाग' की स्थापना की गई। साथ ही 1904 के प्राचीन स्मारक, अभिलेख, संरक्षण अधिनियम को पारित करने में सहायता दी गई।

1913 ई. का सरकारी प्रस्ताव– 21 फरवरी, 1913 को नवीन शिक्षा–नीति संबंधी सरकारी प्रस्ताव पारित किया गया जिसके निम्न प्रावधान थे–

1. प्रत्येक प्रांत में एक विश्वविद्यालय की स्थापना पर जोर दिया गया।
2. शिक्षण विश्वविद्यालयों, प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के अध्यापकों के प्रशिक्षण और माध्यमिक शिक्षा के विकास के लिए निजी प्रयासों के महत्व पर बल दिया गया।

1914 में प्रथम विश्व युद्ध के कारण यह प्रस्ताव क्रियान्वित नहीं हो सका।

टिप्पणी

सैडलर आयोग–कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग–1997

1917 ई. में सरकार ने डॉ. माइकल सैडलर के नेतृत्व में कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं के अध्ययन हेतु एक आयोग नियुक्त किया। सैडलर आयोग में आशुतोष मुखर्जी और डॉ. जियाउद्दीन अहमद दो भारतीय सदस्य थे। सैडलर आयोग ने 1964 के विश्वविद्यालय अधिनियम की आलोचना करते हुए निम्न सिफारिशें प्रस्तुत की–

1. इंटरमीडिएट कक्षायें विश्वविद्यालय से पृथक हों।
2. इंटरमीडिएट परीक्षाओं के संचालन हेतु माध्यमिक बोर्ड का गठन हो।
3. कलकत्ता विश्वविद्यालय को भारत सरकार के नियंत्रण से मुक्त कर बंगाल सरकार के अधीन किया जाए।
4. स्नातक स्तर पर त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम हो।
5. प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक कुलपति नियुक्त किया जाए साथ ही अंतर विश्वविद्यालय स्थापित हो।
6. महिला शिक्षा पर जोर दिया जाए तथा औद्योगिक व प्रशिक्षण से जुड़ी समस्याओं को विश्वविद्यालय द्वारा निपटाया जाए

सैडलर आयोग के सुझावों पर उ.प्र. में एक 'बोर्ड ऑफ सेकेंडरी एजूकेशन' की स्थापना हुई एवं मैसूर, पटना, बनारस, अलीगढ़, ढाका, लखनऊ और हैदराबाद में विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। शिक्षा अब प्रांतीय विषय बन गया, विश्वविद्यालयों के संचालन का जिम्मा प्रांतों का हो गया।

हार्टोग समिति 1929– शिक्षा के विकास पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए सरकार ने 1929 में 'फिलिप हार्टोग' की अध्यक्षता में यह आयोग नियुक्त किया जिसकी सिफारिशें निम्न थी–

1. प्राथमिक शिक्षा पर बल।
2. ग्रामीण संस्कृति के छात्रों को मिडिल स्कूल तक की ही शिक्षा दी जाए। इसके बाद उन्हें औद्योगिक एवं व्यावसायिक शिक्षा दी जाए।
3. विश्वविद्यालयों को सुधारने के प्रयत्न किए जाएं तथा उन्हीं को उच्च शिक्षा मिले जो उसके योग्य हैं।

हार्टोग समिति की सिफारिश के आधार पर 1935 ई. में 'केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' का पुनर्गठन हुआ।

सप्रू समिति 1934– सन् 1934 में तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में उत्तर प्रदेश सरकार ने एक समिति को गठित किया जिसे सप्रू समिति 1934 के नाम से जाना जाता है। इस समिति का उद्देश्य राज्य में बढ़ती हुई बेरोजगारी की समस्या के कारणों को ज्ञात करके उन्हें दूर करने के उपायों को बताना था।

एबट–वुड रिपोर्ट 1936–37 : 1935 ई. में इंग्लैण्ड के दो शिक्षा विशेषज्ञ ए. एबट तथा एच.एस. वुड को भारत बुलाया गया और भारतीय शिक्षा व्यवस्था की जांच करके अपनी रिपोर्ट देने के लिए कहा गया। उन्होंने सामान्य शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा एवं वोकेशनल शिक्षा पर अपनी रिपोर्ट पर जोर दिया।

टिप्पणी

वर्धा योजना–1937– गांधी जी द्वारा 'हरिजन' में शिक्षा पर लिखे अनेक लेख तथा अक्टूबर 1937 में वर्धा में आयोजित अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन में उनके द्वारा शिक्षा पर प्रस्तुत योजना को मिलाकर बुनियादी शिक्षा की वर्धा योजना प्रस्तुत की गई।

इस योजना की सिफारिशें निम्न प्रकार हैं–

1. सात से चौदह वर्ष के बच्चों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था हो।
2. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए, जिससे विद्यार्थी स्वावलंबी बन सकें।
3. छात्र को उसकी रुचि के अनुरूप व्यावसायिक शिक्षा मिले।

द्वितीय विश्व युद्ध के कारण यह योजना लागू नहीं हो सकी।

सर्जेण्ट योजना 1944– भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार सर जॉन सर्जेण्ट ने शिक्षा पर एक महत्वपूर्ण एवं विस्तृत योजना पेश की जिसकी सिफारिशें इस प्रकार हैं–

1. देश में प्रारंभिक विद्यालय, उच्च माध्यमिक विद्यालय स्थापित किए जाएं।
2. 6 से 11 वर्ष तक के बालक–बालिकाओं के लिए व्यापक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था हो।
3. 11 से 17 वर्ष की उम्र तक के लिए छः वर्ष की शिक्षा की व्यवस्था।
4. उच्च विद्यालय दो प्रकार के होंगे।
5. प्राविधिक और व्यावसायिक।

सर्जेण्ट योजना के बाद 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हो गया, इसी के साथ भारतीय शिक्षा में ब्रिटिश काल समाप्त हो गया।

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग या राधाकृष्णन कमीशन 1948–49

देश के कर्णधारों तथा नेताओं ने देश के पुनर्निर्माण के लिए उच्च शिक्षा का पुनर्गठन किया। अतः 'केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' तथा अंतर्विश्वविद्यालय परिषद ने सरकार से एक अखिल भारतीय विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग नियुक्त करने की सिफारिश की। भारत सरकार ने 4 नवम्बर, 1948 में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में 'विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग' की नियुक्ति की जिसके निम्न सुझाव थे–

1. विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने से पूर्व 12 वर्ष का अध्ययन।
2. परीक्षा दिनों के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों में कम से कम 180 दिन की पढ़ाई होनी चाहिए।
3. प्रशासनिक सेवाओं के लिए विश्वविद्यालय की स्नातक की उपाधि आवश्यक नहीं होनी चाहिए।
4. सभी विश्वविद्यालयों के स्तर एक समान किए जाएं और ऊंचे उठाए जाएं।
5. शिक्षा को समवर्ती सूची में शामिल किया जाए।
6. एक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग बनाया जाए जो विश्वविद्यालय शिक्षा की देख रेख करे।

भारत में ब्रिटिश कालीन शिक्षा से भारतीयों को लाभ भी हुआ किंतु दूसरी ओर इससे हानि भी हुई। अंग्रेजी पढ़ा–लिखा युवक भारतीय संस्कृति, धर्म, परंपराओं आदि को भूल गया और अंग्रेजी के रंग में रंगकर अंग्रेजों का समर्थक बन गया। ब्रिटिश शिक्षा पद्धति

अंग्रेजों ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए लागू की। यह शिक्षा इंग्लैण्ड के आदर्शों पर आधारित थी। अतः वह भारत के लिए लाभप्रद नहीं थी। श्री परांजपे का कथन है कि "यह एक विदेशी पौधा था जो भारत की भूमि में उचित प्रकार से पल्लवित नहीं हो सकता था।" प्राचीन काल से भारत अपनी संस्कृति एवं सभ्यता के लिए प्रसिद्ध रहा है। भारतीय राष्ट्रीय जीवन एवं चरित्र की विशेषताएं रही हैं। अंग्रेजों ने इन सबको व्यर्थ ठहराकर अपनी पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता को भारत पर लादने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा को माध्यम बनाया। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा भारत में एक ऐसा बुद्धिजीवी वर्ग तैयार किया जो रूप में तो भारतीय था किंतु विचारों, भावनाओं, व्यवहारों तथा वेशभूषा में अंग्रेज था। इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीय राष्ट्रीय जीवन एवं चरित्र को दुर्बल कर राष्ट्रीय विशेषताओं का विनाश किया।

इसका एक दूसरा पक्ष भी है। अंग्रेजी शिक्षा ने वैज्ञानिक प्रगति की शुरुआत की। पाश्चात्य ज्ञान एवं विज्ञान से संपर्क स्थापित हुआ। इसने भारतीय समाज के आधुनिकीकरण में सहयोग दिया। इससे भारतीयों में विज्ञान के अध्ययन में रुचि बढ़ी तथा वे अधिक व्यावहारिक रूप से सोचने लगे और काम करने लगे। भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का विदेशों में विस्तार हुआ, अनेक विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन करके संस्कृत की अनेक पुस्तकों का हिंदी में अनुवाद किया तथा हमारे प्राचीन ग्रंथों का अंग्रेजी में भी अनुवाद किया। अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीय समाज के आधुनिकीकरण में सहयोग दिया जिससे अनेक भारतीय समाज सुधारकों ने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए अनेक आंदोलन चलाए और सफलता प्राप्त की।

अपनी प्रगति जांचिए

6. हण्टर आयोग का गठन कब हुआ?

   (क) 1882 (ख) 1883

   (ग) 1884 (घ) 1885

7. वर्धा शिक्षा सम्मेलन में बेसिक शिक्षा की योजना किसने प्रस्तुत की।

   (क) पं. जवाहर लाल नेहरू (ख) महात्मा गांधी

   (ग) सर्वपल्ली राधाकृष्णन (घ) वल्लभभाई पटेल

8. कर्जन द्वारा विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष थे–

   (क) सर टॉमस रैले (ख) गांधी जी

   (ग) नेहरू जी (घ) गोपाल कृष्ण गोखले

9. लोक शिक्षा समिति की स्थापना हुई

   (क) 1823 (ख) 1824

   (ग) 1825 (घ) 1826

10. हार्टोग समिति का गठन कब हुआ–

   (क) 1928 (ख) 1929

   (ग) 1930 (घ) 1940

टिप्पणी

3.4 सामाजिक सुधार और उभरते सामाजिक वर्ग

यहां विभिन्न सामाजिक सुधारों और उभरते हुए सामाजिक वर्ग का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

सामाजिक सुधार

18वीं शताब्दी में एक नवीन बौद्धिक लहर चली, जिसके फलस्वरूप जागृति के एक युग का सूत्रपात हुआ। अन्वेषण तथा तर्कवाद की भावना ने यूरोपीय समाज को एक प्रगति प्रदान की। भारत का एक नवीन पाश्चात्य शिक्षित वर्ग भी तर्कवाद, विज्ञानवाद तथा मानववाद से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। इन पाश्चात्य शिक्षित भारतीयों ने इस नवज्ञान से प्रभावित होकर अंदर से हिन्दू धर्म में सुधार के प्रयास किए। साथ ही धर्म में परंपरागत रूप से व्याप्त असंगतियों को त्यागा जाने लगा तथा समाज में व्याप्त अनेक रूढ़िवादिताओं के संबंध में समाज के विचारों में परिवर्तन आया। इसी प्रकार दैनिक कर्मकाण्डों में भी परिवर्तन आए। आधुनिकीकरण तथा शहरीकरण ने भी लोगों के विचारों को प्रभावित किया। इन नवीन विचारों के विक्षोभ ने भारतीय संस्कृति में एक प्रसार की भावना उत्पन्न की। ज्ञान के विस्तार के कारण भारत में पुनर्जागरण की भावना आयी। इन सभी के परिणामस्वरूप भारतीय समाज में कुछ सामाजिक व धार्मिक सुधार आंदोलन प्रारंभ हुए जिन्होंने भारतीय समाज का न केवल रूप ही बदल दिया अपितु भारत के आधुनिकीकरण में भी बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया।

ये सुधार आंदोलन मुख्य रूप से दो वर्गों में बांटे जा सकते हैं–

(1) वे आंदोलन जिन्होंने अपने–अपने क्षेत्रों में सुधार करने का प्रयत्न किया, जैसे– ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज तथा अलीगढ़ आंदोलन।

(2) वे पुनर्नवीनीकरण आंदोलन जिनका उद्देश्य अपने पक्ष का पुनरुद्धार करना था, जैसे– आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, देवबंद आंदोलन इत्यादि।

इन सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों का वर्णन निम्नानुसार है–

राजा राममोहन राय एवं ब्रह्म समाज

इस समाज की स्थापना 20 अगस्त, 1828 ई. को राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में की। राजा राममोहन राय का जन्म 1774 ई. में बंगाल में राधानगर नामक गांव में हुआ था। ये मूर्ति पूजा के विरोधी तथा अंग्रेजी भाषा एवं पाश्चात्य प्रभावों से प्रभावित थे। धर्म और समाज सुधार उनका मुख्य लक्ष्य था। वे ईश्वर की एकता में विश्वास करते थे लेकिन सभी प्रकार के धार्मिक अंधविश्वासों और कर्मकाण्डों के वे विरोधी थे। वे मूर्ति पूजा तथा बलि के भी विरोधी थे।

ब्रह्म समाज ने भारतीय पुनर्जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। राममोहन राय अंग्रेजी शिक्षा के पक्षधर थे। उन्होंने कलकत्ता में डेविड हेयर के सहयोग से 'हिन्दू कॉलेज' की स्थापना की। 1817 ई. में उन्होंने कलकत्ता में अपने खर्चे से 'इंग्लिश स्कूल' खोला। 1825 ई. में उन्होंने 'वेदांत कॉलेज' की स्थापना की।

टिप्पणी

बांग्ला भाषा के विकास में भी राममोहन राय ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने स्वयं एक बांगला व्याकरण का संकलन किया। उनके लेखन से बंगाल में एक सुंदर गद्य शैली का जन्म हुआ। उन्होंने बंगाली पत्रिका 'संवाद कौमुदी' का भी प्रकाशन किया। 1833 ई. में उन्होंने समाचार–पत्रों पर लगे प्रतिबंधों के विरुद्ध प्रबल आंदोलन किया। 1835 में समाचार–पत्रों को जो स्वतंत्रता मिली वह उन्हीं के प्रयासों का परिणाम थी।

उदारवादी विचारों के पोषक राजा राममोहन राय को राजनीतिक क्षेत्र में भी कुछ सफलता मिली। अतः उन्होंने आमूल परिवर्तन की जगह भारतीय प्रशासन में सुधार के लिए आंदोलन किया। ब्रिटिश संसद को भारतीय मामलों पर परामर्श देने वाले वे पहले भारतीय थे।

ब्रह्म समाज हिन्दू धर्म में पहला सुधार आंदोलन था तथा राजा राममोहन राय पहले भारतीय थे, जिन्होंने सर्वप्रथम (19वीं सदी में) भारतीय धर्म और समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। 1833 में इंग्लैंड में इनकी अकाल मृत्यु हुई।

राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद इसमें कुछ शिथिलता आ गई। लेकिन देवेन्द्रनाथ टैगोर के 1843 में इसमें सम्मिलित होने पर इसमें पुनः जान आ गई। राममोहन के विचारों के प्रसार के लिए देवेन्द्र नाथ टैगोर ने 1839 में 'तत्वबोधिनी सभा' की स्थापना की। तत्पश्चात् *तत्वबोधिनी पत्रिका* का बांगला भाषा में प्रकाशन किया। इसके बाद टैगोर ने 'केशवचंद्र सेन' को ब्रह्म समाज का आचार्य नियुक्त किया। केशवचंद्र सेन की शक्ति, वाक्पटुता और उदारवादी विचारों ने इसे अत्यंत लोकप्रिय बना दिया और इसकी शाखायें बंगाल से बाहर पंजाब, उत्तर प्रदेश और मद्रास में भी खुल गईं।

लेकिन शीघ्र ही केशवचंद्र के उदारवादी विचारों के कारण इसमें फूट पड़ गयी तथा 1865 में देवेंद्रनाथ टैगोर ने केशवचंद्र सेन को आचार्य के पद से हटा दिया। फलस्वरूप सेन ब्रह्म समाज से अलग हो गये तथा उन्होंने एक नयी सभा 'आदि ब्रह्म समाज' की स्थापना की।

1878 में केशवचंद्र सेन ने अपनी 13 वर्षीय पुत्री का विवाह कूच बिहार के राजा के साथ वैदिक कर्मकाण्डों से किया जिसका इस समाज के लोगों ने कड़ा विरोध किया। इससे केशवचंद्र सेन पुनः उससे अलग हो गये तथा उन्होंने 'साधारण ब्रह्म समाज' की स्थापना कर ली। इसके पश्चात् श्री सेन इतिहास के अंधकार में खो गये।

इसी प्रकार, केशवचंद्र सेन ने 'संगत सभा' और 'भारतीय समाज सुधार' नामक संस्थाओं का गठन किया।

राजा राममोहन राय ने सामाजिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किए, ये कार्य निम्नानुसार थे–

1. सती प्रथा का विरोध,
2. विधवा विवाह का समर्थन और बाल विवाह का विरोध,
3. कुलीन प्रथा का विरोध : इसे उस समय बहुपत्नी प्रथा के नाम से जाना जाता था,
4. बांगला एवं अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार–प्रसार,

5. समाज में व्याप्त रूढ़िवादियों, जैसे– छुआछूत, अंधविश्वास, जातिगत भेदभाव, इत्यादि का विरोध,
6. शिक्षा प्राप्ति पर बल।

टिप्पणी

स्वामी दयानंद सरस्वती और आर्य समाज

इसकी स्थापना स्वामी दयानंद सरस्वती ने 1875 ई. में बंबई में की, जिसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की शुद्ध रूप से पुनः स्थापना करना था।

आर्य समाज ने उत्तर भारत में हिन्दू धर्म और समाज में सुधार का काम किया। दयानंद का जन्म 1824 ई. में गुजरात में काठियावाड़ के मौरवि क्षेत्र के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके बचपन का नाम मूलशंकर था। इनके पिता स्वयं वेदों के महान विद्वान थे। वैदिक जिज्ञासा में दयानंद ने 21 वर्ष की आयु में घर छोड़ दिया तथा कई स्थानों में भटकते हुये 1860 में मथुरा में एक नेत्रहीन स्वामी विरजानंद से मिले और उनके शिष्य बन गये।

आरंभ में आर्य समाज ने केवल तीन लक्ष्य रखे–

1. आर्य समाज द्वारा वेदों को ही स्वतंत्र तथा अंतिम शब्द स्वीकार करना।
2. आर्य विद्यालय में वेदों के आधार पर ही शिक्षा दी जाएगी।
3. समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी आय का 1/100वां भाग आर्य समाज, आर्य विद्यालय तथा आर्य प्रवाह समाचार–पत्र को देगा।

आर्य समाज की स्थापना के बाद इसका उत्तर भारत के एक बड़े भू–भाग पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा बिहार के कुछ भागों पर प्रभाव हो गया। सबसे ज्यादा यह उत्तर–पश्चिमी भारत में लोकप्रिय हुआ। शीघ्र ही इसका और प्रसार हुआ तथा 1877 ई. में 'लाहौर आर्य समाज' की स्थापना की गई। तब इसके 10 सिद्धांत निर्धारित किये गये, जो इस प्रकार हैं–

1. वेद ही सत्य ज्ञान के स्रोत हैं अतः वेदों का अध्ययन आवश्यक है,
2. वेदों के आधार पर मंत्र पाठ और हवन करना,
3. तीर्थ यात्रा और अवतारवाद का विरोध,
4. मूर्तिपूजा का खंडन,
5. कर्म और पुनर्जन्म तथा जीवन के आवागमन पर विश्वास,
6. एक ईश्वर में विश्वास जो निराकारी है,
7. बाल विवाह और बहुविवाह का विरोध,
8. स्त्री शिक्षा में विश्वास,
9. कुछ विशेष परिस्थितियों में विधवा विवाह का समर्थन,
10. हिन्दी और संस्कृत भाषा के प्रसार का प्रयत्न करना।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने नारा दिया 'वेदों की ओर लौटो'। दयानंद ने समाज में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को चुनौती दी। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने छुआछूत, जाति प्रथा, बाल विवाह तथा अन्य बुराइयों पर कुठाराघात किया। स्वामी दयानंद भारत के

सामाजिक इतिहास में ऐसे पहले सुधारक थे जिन्होंने शूद्र तथा स्त्री को वेद पढ़ने, यज्ञोपवीत संस्कार धारण करने, ऊंची शिक्षा प्राप्त करने और ऊंची जाति तथा पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त करने के लिए आंदोलन किया। उनका सबसे प्रमुख कार्य स्त्री–सुधार था। वे पुत्र तथा पुत्रियों में कोई अंतर नहीं मानते थे। उनके सभी विचार उनकी प्रसिद्ध पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश में वर्णित हैं। स्वामी दयानंद का उद्देश्य था कि भारत को धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय रूप से एक कर दिया जाए। उनका मानना था कि आर्य धर्म ही देश का समान एवं श्रेष्ठ धर्म है। उन्होंने समकालीन हिन्दू समाज तथा धर्म में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने का अथक प्रयास किया। दयानंद की मृत्यु 1883 ई. में अजमेर में हुई।

आर्यसमाज के कार्य का सबसे अधिक प्रभाव विद्या, सामाजिक सुधार तथा सेवा के क्षेत्र में देखने को मिला। 1886 ई. में लाहौर में 'दयानंद एंग्लो वैदिक स्कूल' की स्थापना हुई, जो 1889 ई. में 'दयानंद एंग्लो कॉलेज' में बदल गया।

1892–93 ई. में आर्य समाज में फूट पड़ गयी। कुछ समाजियों ने शिक्षा के लिए पश्चिमी पद्धति का विरोध किया और परंपरागत भारतीय पद्धति से शिक्षा देने के लिए 1902 ई. में हरिद्वार के समीप कांगड़ी में गुरुकुल विश्वविद्यालय की नींव रखी थी।

वैलेन्टाइन शिरोल ने आर्य समाज को 'भारतीय अशांति का जन्मदाता' कहा है। महात्मा हंसराज, पंडित गुरुदत्त, लाला लाजपत राय और स्वामी श्रद्धानंद इसके विशिष्ट कार्यकर्ताओं में से थे। स्वामी श्रद्धानंद ने 'शुद्धि आंदोलन' चलाया।

प्रार्थना समाज

इसकी स्थापना 1867 ई. में केशवचंद्र सेन ने बंबई में की। वैसे केशवचंद्र सेन इसके प्रेरणा स्रोत थे, जबकि इसके वास्तविक संस्थापक आत्माराम पाण्डुरंग थे।

ब्रह्म समाज के समान यह भी पश्चिमी भारत का ही सुधार आंदोलन था। महाराष्ट्र में धार्मिक सुधार आंदोलन 1840 ई. में प्रारंभ हुआ। इस आंदोलन की शुरुआत परमहंस मंडली की स्थापना से हुई, जिसका उद्देश्य था– मूर्तिपूजा एवं जाति प्रथा का विरोध तथा विधवा विवाह का समर्थन। पश्चिमी भारत के सबसे पहले धर्म सुधारक गोपाल हरि देशमुख थे, जो 'लोकहितवादी' के नाम से प्रसिद्ध थे। इसी के तहत बाद में ब्रह्म समाज के प्रभाव से प्रार्थना समाज की स्थापना हुई।

प्रार्थना समाज की स्थापना के दो वर्ष बाद इसमें सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान आर. जी. भंडारकर तथा महादेव गोविंद राणाडे सम्मिलित हुए, जिससे इस समाज को नयी शक्ति मिली। राणाडे ने महाराष्ट्र में 'विधवा पुनर्विवाह एसोसिएशन' की स्थापना की तथा उन्हीं के प्रयत्नों से 'दक्कन एजुकेशनल सोसायटी' की स्थापना हुई। रानाडे के शिष्य गोखले ने 'सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी' की स्थापना की। इसी सभा द्वारा 'दलित जाति मंडल तथा समाज सेवा संघ' की भी स्थापना की गई। पंजाब में दयाल सिंह ट्रस्ट ने 1910 ई. में दयाल सिंह कॉलेज खोला।

प्रार्थना समाज के मुख्य चार उद्देश्य थे–

1. जाति प्रथा का विरोध,
2. विधवा पुनर्विवाह,

टिप्पणी

3. पुरुष तथा स्त्रियों की विवाह की आयु को बढ़ाना,

4. स्त्री शिक्षा।

प्रार्थना समाज की सफलता का सबसे बड़ा श्रेय राणाडे को ही है। प्रार्थना समाज के अनुसार मूल परपंरागत हिन्दू धर्म से अलग हुए बिना भी सुधार संभव है। प्रार्थना समाज की यही विशेषता उसे ब्रह्म समाज से अलग करती है।

सुधार के क्षेत्र में गुजरात भी पीछे न था। पश्चिमी भारत के प्रारंभिक समाज सुधारकों में 'मेहताजी दुर्गाराम मंचाराम' का नाम उल्लेखनीय है। 1844 ई. में उन्होंने 'मानव धर्म सभा' और 'यूनिवर्सल रिलिजियंस सोसायटी' का गठन किया, जिसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक समस्याओं पर परिचर्चा करना था।

विवेकानंद एवं रामकृष्ण मिशन

रामकृष्ण मिशन की स्थापना स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस की स्मृति में 1897 ई. में की थी। रामकृष्ण का जन्म सन् 1834 में बंगाल में हुआ था तथा वे कलकत्ता के एक छोटे–से मंदिर में पुजारी थे। विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना बारानगर में की थी। सन् 1899 ई. में एक मठ वैल्लोर में स्थापित किया गया, जो आज भी संपूर्ण भारत में फैले हुये मठों का केंद्र है।

रामकृष्ण परमहंस परंपरागत तरीके से ध्यान, संन्यास और भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में विश्वास रखते थे। उन्हें हिंदू दर्शन में श्रृद्धा थी मगर वे बाकी धर्मों का भी सम्मान करते थे। वे सभी धर्मों की मौलिक एकता में विश्वास करते थे। वे मनुष्य की सेवा को ही ईश्वर की सेवा मानते थे। इनके बचपन का नाम 'गदाधर चट्टोपाध्याय' था। रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु 1886 में हुई। उसके बाद उनके उपदेशों का प्रचार स्वामी विवेकानंद ने किया।

विवेकानंद का जन्म 1862 ई. में हुआ था। उनका बचपन का नाम नरेंद्र दत्त था। वे आध्यात्मिक जिज्ञासा से रामकृष्ण के संपर्क में आये तथा उनके शिष्य बन गये। स्वामी विवेकानंद नवीन हिन्दू धर्म प्रचारक के रूप में उभरे। उन्होंने 1893 ई. में शिकागो में हुई 'विश्व धर्म संसद' में अपने विचारों से सभी को प्रेरित किया।

स्वामी जी ने संसार के भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद के बीच एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। स्वामी जी ने हिन्दू धर्म के इस तथ्य कि 'मुझे मत छेड़ो' की तीव्र भर्त्सना की। विवेकानंद ने कोई राजनीतिक संदेश नहीं दिया फिर भी उन्होंने नवीन पीढ़ी में आत्म–गौरव की भावना जगाई। उनके बारे में सुभाष चंद्र बोस ने कहा कि, जहां तक बंगाल का संबंध है हम विवेकानंद को आधुनिक राष्ट्रीय आंदोलन का आध्यात्मिक पिता कह सकते हैं। उन्होंने जीवनपर्यंत रामकृष्ण के उपदेशों का प्रचार किया। उनकी मृत्यु 40 वर्ष की अल्पायु में 1902 ई. में हुई। संसार के लिए रामकृष्ण द्वारा प्रदत्त तीन महत्वपूर्ण देने हैं– अध्यात्मवाद सभी धर्मों की एकता में विश्वास जागृत करना तथा मनुष्य मात्र की सेवा और भलाई को धर्म बताना।

इस प्रकार रामकृष्ण परमहंस ने अपने व्यवहार और कर्म से उपनिषदों और वेदों के मूल विचारों को स्पष्ट करके हिन्दू पुनरुत्थान आंदोलन को उसकी श्रेष्ठता पर पहुंचा दिया।

टिप्पणी

थियोसोफिकल समाज

थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना 1875 ई. में रूसी महिला मैडम हेलना ब्लावेटस्की और एक अमेरिकी सैनिक अफसर कर्नल हेनरी स्टील अलकॉट ने अमेरिका में की थी। इसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य धर्म को समाज सेवा का मुख्य साधन बनाना और धार्मिक मातृभाव का प्रचार एवं प्रसार था। 1883 ई. में मद्रास के निकट 'अड्डयार' में इसका मुख्यालय बनाया गया।

लेकिन भारत में इसकी सफलता का अध्याय तब शुरू हुआ, जब 1893 ई. में श्रीमती एनी बेसेंट भारत आई और सोसायटी का कार्यभार संभाला।

इस सोसायटी के अनुयायी ईश्वरीय ज्ञान को आत्मिक हर्षोन्माद और अंतरदृष्टि द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इन्होंने हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म जैसे प्राचीन धर्मों को मजबूत करने की वकालत की। वे पुनर्जन्म तथा कर्म के सिद्धांत को स्वीकार करते थे तथा उपनिषदों एवं सांख्य दर्शन को अपना प्रेरणा स्रोत मानते थे। वे विश्व–बंधुत्व की भावना का समर्थन करते थे।

अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एनी बेसेंट ने बनारस में 'सेंट्रल हिंदू स्कूल' की स्थापना की और उसकी प्रगति के लिए भरसक प्रयत्न किया। यही स्कूल आगे चलकर कॉलेज और अंततः 1915 ई. में 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय' के रूप में परिणत हो गया। आयरलैंड के स्वराज्य लीग के नमूने पर श्रीमती बेसेंट ने भारत में भी 'स्वराज लीग' की स्थापना की। थियोसोफिकल समाज के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे–

1. प्राचीन, धर्म, दर्शन और विज्ञान के अध्ययन में सहयोग देना।
2. भ्रातृभाव की भावना से सभी मनुष्यों के संगठन की स्थापना करना।
3. प्रकृति के नियमों की खोज और मनुष्य की दैवी शक्तियों का विकास।

डेरोजियो का यंग बंगाल आंदोलन

19वीं शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक में बंगाल के बुद्धीजीवियों में एक रैडिकल या उग्रवादी प्रवृत्ति का जन्म हुआ। यह प्रवृत्ति राममोहन के विचारों से भी ज्यादा क्रांतिकारी और आधुनिक थी। इस आंदोलन को ही 'यंग बंगाल' आंदोलन के नाम से जाना जाता है। इस आंदोलन के प्रेरणा स्रोत नेता–युवा हेनरी विवियन डिरोजियो (1809–31 ई.) थे। डिरोजियो एंग्लो–इंडियन थे, जिन्हें भारत से अपार प्रेम था। ये 1826 से 1831 ई. तक हिन्दू कॉलेज में प्राध्यापक थे। अद्‌भुत प्रतिभा के धनी डेरोजियो फ्रांस की महान क्रांति से प्रभावित थे तथा अतिवादी विचार रखते थे। डेरोजियो के अनुयायियों ने प्राचीन जर्जर और पुराने रीति–रिवाजों का विरोध किया।

आध्यात्मिक उन्नति और समाज सुधार के लिए उन्होंने 'एकेडेमिक एसोसिएशन' और 'सोसायटी फॉर द एक्वीजीशन ऑफ जनरल नॉलेज' जैसे कई संगठनों की स्थापना की। उन्होंने बंगहित सभा, एंग्लो–इंडियन हिन्दू एसोसिएशन और डिबेटिंग क्लब का भी गठन किया।

कट्टर हिंदुओं से मतभेद के कारण 1831 ई. में डेरोजियो को हिन्दू कॉलेज से निष्कासित कर दिया गया। इसके पश्चात् वे ईस्ट इंडिया नामक दैनिक पत्र का संपादन

टिप्पणी

करने लगे। दुर्भाग्यवश इसी बीच 26 दिसंबर, 1831 को ही 23 वर्ष 8 महीने की अवस्था में हैजे से डेरोजियो की मृत्यु हो गई।

डेरोजियो के मरते ही एकेडेमिक एसोसिएशन बिखर गया। कृष्ण मोहन बैनर्जी, महेश चंद्र घोष, रामगोपाल घोष, इत्यादि इनके प्रमुख शिष्य थे।

इस महत्वपूर्ण आंदोलन का एक केंद्र हिन्दू कॉलेज भी था। इस कॉलेज के विद्यार्थियों ने 1828 ई.–1844 ई. के बीच आधा दर्जन से भी ज्यादा पत्र प्रकाशित किये। हिन्दू कॉलेज की ही तरह 1834 में बंबई में 'एलफिंसटन कॉलेज' की स्थापना की गई। इस कॉलेज के विद्यार्थियों ने हिन्दू कॉलेज के विद्यार्थियों की तरह ही 'यंग बॉम्बे आंदोलन' की शुरुआत की।

दक्षिण भारत में सुधार आंदोलन : उत्तर और पश्चिम भारत में होने वाले आंदोलनों का प्रभाव दक्षिण भारत में भी पड़ा। केशवचंद्र सेन की मिशनरी गतिविधियों के फलस्वरूप 1864 ई. में मद्रास में 'वेद समाज' की स्थापना हुयी। 1871 में श्रीधरलू नायडू ने इस संगठन को पुनः संगठित किया और इसका नाम 'ब्रह्म समाज ऑफ साउथ इंडिया' रखा। श्रीनाथ शास्त्री, एम. वी. पंतुलु और आर. वेंकेटरत्नम उस समाज के प्रमुख नेताओं में से थे। लेकिन मद्रास में ब्रह्म समाज से ज्यादा प्रार्थना समाज का प्रभाव रहा। दक्षिण में प्रार्थना समाज के प्रसार का सबसे बड़ा श्रेय पंतुलु को है। 1878 ई. में उन्होंने तेलुगू प्रदेश में आंदोलन की शुरुआत की और 'राजमुंद्री सोशल रिफॉर्म एसोसिएशन' की स्थापना की।

मुस्लिम समाज सुधार आंदोलन

मुस्लिम समाज सुधार आंदोलन निम्न प्रकार हैं–

बहावी आंदोलन

मुसलमानों की पाश्चात्य प्रभावों के विरुद्ध सर्वप्रथम जो प्रतिक्रिया हुई उसे ही 'बहावी आंदोलन' या 'वजीउल्लाह आंदोलन' के नाम से जाना जाता है।

वास्तव में यह पुनर्जागरणवादी आंदोलन था। शाह वजीउल्लाह (1702–62 ई.) अठारहवीं सदी में भारतीय मुसलमानों के वह प्रथम नेता थे, जिन्होंने भारतीय मुसलमानों में हुई गिरावट पर चिंता प्रकट की थी। उन्होंने भारतीय मुसलमानों के रीति–रिवाजों तथा मान्यताओं में आई कुरीतियों की ओर ध्यान दिलाया।

इसके बाद शाह अब्दुल्ला अजीज तथा सैयद अहमद बरेलवी ने वजीउल्ला के विचारों को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया। इन्होंने हिंदुस्तान को 'दारुल हर्ब' बनाने की कोशिश की। प्रारंभ में यह अभियान सिख सरकार के खिलाफ था। परंतु 1849 ई. में अंग्रेजों द्वारा पंजाब का विलय करने पर यह अंग्रेजों के विरुद्ध बदल दिया गया। यह आंदोलन 1870 ई. तक चलता रहा, जब तक कि इसे सैनिक बल द्वारा समाप्त नहीं कर दिया गया। सैयद अहमद का यह दल 'प्यूटरिन' एवं 'उग्र' था। इसका मुख्य केंद्र 'पटना' था।

अलीगढ़ आंदोलन

अलीगढ़ आंदोलन की शुरुआत सर सैयद अहमद खां ने की। सर सैयद का जन्म 1817 ई. में दिल्ली में हुआ था। सर सैयद अहमद ने 1839 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा

टिप्पणी

ग्रहण की। 1857 के विद्रोह के अवसर पर उन्होंने अंग्रेजों की विशेष सेवा की तथा अंग्रेजों की सद्भावना का उपयोग उन्होंने भारतीय मुसलमानों के हित में किया। उनके दो प्रमुख उद्देश्य थे– पहला, अंग्रेजों और मुसलमानों के संबंधों को ठीक करना, तथा दूसरा, मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा का प्रसार करना।

उन्होंने इस्लाम की सामाजिक कुरीतियों को भी दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने पीरी मुहम्मद की प्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न किया तथा अपने विचारों का प्रचार एक पत्रिका तहजीब–उल–अखलाक द्वारा किया। परंतु उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य कुरान पर टीका था।

उन्होंने 1875 ई. में अलीगढ़ में 'मुस्लिम एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज' की स्थापना की, जो आगे 1920 ई. में 'अलीगढ़ विश्वविद्यालय' बना। इससे पहले उन्होंने 1864 ई. में 'साइंटिफिक सोसाइटी' की स्थापना की। इसने अंग्रेजी पुस्तकों का उर्दू अनुवाद प्रकाशित किया। इस विश्वविद्यालय का पहला प्रिंसिपल 'थियोडर बैक' था। चूंकि, सैयद अहमद के कार्यक्रम का मुख्य केंद्र अलीगढ़ था इसीलिए इस आंदोलन को अलीगढ़ आंदोलन के नाम से जाना जाता है। अलीगढ़ आंदोलन के चार प्रमुख उद्देश्य थे, जो इस प्रकार हैं–

1. हिंदू और मुसलमान दो पृथक्–पृथक् राजनीतिक इकाइयां हैं, जिनके हितों और दृष्टिकोणों में बहुत अंतर है।
2. भारत में जनतंत्र के आधार पर प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना करने तथा असैनिक सेवाओं की परीक्षा भारत में करने से मुसलमानों के हितों की सुरक्षा संभव नहीं हो सकेगी क्योंकि वे हिंदू सत्ता के अधीन हो जायेंगे जो अंग्रेजी शासन से भी बुरा होगा।
3. मुसलमानों के हित क्योंकि अंग्रेजों के हाथों में पूर्णतया सुरक्षित हैं अतएव मुसलमानों को राजनीति से पृथक् रहकर अपने सांस्कृतिक विकास का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार राजनीति से पृथक् रहकर वे हिंदुओं के राजनीतिक आंदोलन को भी दुर्बल कर सकेंगे।
4. मुसलमानों को अंग्रेजी शासन की सुरक्षा में ही अपनी सुरक्षा समझनी चाहिए और उन्हें अंग्रेजों के विरुद्ध किसी भी राजनीतिक आंदोलन में भाग नहीं लेना चाहिए।

देवबंद आंदोलन

मुसलमान उलेमाओं ने, जो प्राचीन मुस्लिम विद्या के अग्रणी थे, देवबंद आंदोलन चलाया। यह एक पुनर्जागरणवादी आंदोलन था, जिसके दो मुख्य उद्देश्य थे–

1. विदेशी शासकों के विरुद्ध 'जिहाद' की भावना को जीवित रखना।
2. मुसलमानों में कुरान तथा हदीस की शुद्ध शिक्षा का प्रचार करना, तथा उलेमाओं ने मुहम्मद कासिम नानौत्वी तथा रशीद अहमद गंगोही के नेतृत्व में देवबंद, उत्तर प्रदेश के जिला सहारनपुर में एक विद्यालय खोला जिसका उद्देश्य मुस्लिम संप्रदाय के लिए धार्मिक नेताओं को प्रशिक्षित करना था। यह आंदोलन अलीगढ़ आंदोलन के पूर्णतया विपरीत था तथा 1888 ई. में तो देवबंद शाखा ने सर सैयद अहमद खां के विरुद्ध फतवा तक जारी कर दिया। महमूद–उल–हसन इस शाखा के प्रमुख नेताओं में से थे।

टिप्पणी

अहमदिया आंदोलन

19वीं शताब्दी में मुस्लिम समाज और धर्म सुधार के लिए एक और आंदोलन चलाया गया, जिसे 'अहमदिया आंदोलन' कहते हैं। मिर्जा गुलाम अहमद (1838–1908 ई.) इसके संस्थापक थे और उन्हीं के नाम पर इसे अहमदिया आंदोलन कहा जाता है। इसके नेता अपने को हजरत मुहम्मद की तरह का अवतार मानते थे।

यह आंदोलन पंजाब के गुरुदासपुर जिले के 'कादिया नगर' से प्रारंभ हुआ था। मिर्जा गुलाम अहमद ने अपने सिद्धांतों की व्याख्या अपनी मुख्य पुस्तक बराहीन–ए–अहमदिया में की थी।

सिख सुधार आंदोलन

सिखों में धार्मिक सुधार 19वीं शताब्दी के अंत में हुआ, जिसकी शुरुआत अमृतसर में 'खालसा कॉलेज' की स्थापना के साथ हुई। लेकिन इस दशा में वास्तविक गतिविधि तब शुरू हो पायी जब 1920 ई. में अकाली आंदोलन प्रारंभ हुआ। अकालियों का मुख्य उद्देश्य गुरुद्वारों का प्रबंध सुधारना था।

गुरुद्वारों में व्याप्त अकूत धन एवं भ्रष्टाचार का इन अकालियों ने जनता के सहयोग से 1921 ई. में विरोध किया तब बाध्य होकर 1922 ई. में सरकार को 'सिख गुरुद्वारा अधिनियम' बनाना पड़ा। इन नियमों में 1925 ई. में पुनः कुछ सुधार किये गये।

इसी प्रकार अमृतसर में 'सिंह सभा' आंदोलन प्रारंभ हुआ। इससे संलग्न एक और संस्था थी 'मुख्य खालसा दीवान'। इन संस्थाओं ने पंजाब में बहुत–से गुरुद्वारे स्थापित किये तथा विद्यालय और कॉलेज खोले।

पारसी सुधार आंदोलन

19वीं शताब्दी के इन सुधार आंदोलनों से पारसी भी अछूते न रहे। 1851 ई. में कुछ अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों ने 'रहनुमा–ए–मजदास्नान' सभा गठित की, जिसका उद्देश्य पारसियों की सामाजिक अवस्था का पुनरुद्धार करना और पारसी धर्म की प्राचीन शुद्धता को पुनः प्राप्त करना था।

इस आंदोलन के नेताओं में दादाभाई नौरोजी, फरदोनजी नौरोजी तथा आर.के. कामा प्रमुख थे। इस सभा के संदेशों को पारसियों तक पहुंचाने के लिए एक पत्रिका रास्त गोफ्तार (सत्यवादी) प्रारंभ की गई। इसके द्वारा पारसियों में अनेक सुधार किये गये, जैसे– पर्दा प्रथा समाप्त करना, विवाह की आयु बढ़ाना, स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन इत्यादि। धीरे–धीरे इस प्रकार पारसी समाज भारतीय समाज का सबसे अधिक पाश्चात्य प्रभावित पक्ष बन गया।

सामाजिक सुधार आंदोलन के परिणाम

19वीं शताब्दी का सुधार आंदोलन केवल धर्म तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसका धर्म से ज्यादा सामाजिक क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा। भारतीय समाज में कई ऐसी मान्यतायें व प्रथायें विद्यमान थीं, जिनका आधार अंधविश्वास व अज्ञान था। इनमें से अनेक प्रथायें अत्यंत क्रूर तथा अमानवीय थीं, जैसे– बाल विवाह, सती प्रथा, बाल हत्या इत्यादि। सारा सामाजिक ढांचा अन्याय और असमानता पर आधारित था। समाज भयंकर रूप से पिछड़ गया था। समाज में अशिक्षा व घोर अंधविश्वास था।

ऐसी स्थिति में कुछ भारतीयों ने स्थिति की गंभीरता को समझा तथा इनसे निबटने के लिए इन सुधारों का सहारा लिया। इन्हें ही 'सामाजिक सुधार' के नाम से जाना जाता है। धार्मिक सुधारों की तरह ये सामाजिक सुधार भी बंगाल से ही प्रारंभ हुये और इन्हें सर्वप्रथम प्रारंभ करने का श्रेय भी राजा राममोहन राय को ही मिला। इन सभी सामाजिक सुधार आंदोलनों ने विभिन्न क्षेत्रों में प्रभाव डाला। ये विभिन्न क्षेत्र निम्नानुसार थे–

नारी मुक्ति : समाज सुधारकों का ध्यान सबसे पहले स्त्रियों की दशा सुधारने की तरफ गया। तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दशा अत्यंत चिंताजनक थी। सदियों के शोषण तथा अत्याचार से उनकी दशा अत्यंत गंभीर थी। व्यक्तिगत कानून और धार्मिक प्रथाओं ने स्त्रियों को समाज में एक अत्यंत निम्न स्तर दे रखा था। उनमें अनेक प्रकार की क्रूर एवं अमानवीय कुप्रथायें, जैसे– सती प्रथा, बाल विवाह, पर्दा प्रथा, इत्यादि व्याप्त थीं। सामाजिक सुधार आंदोलनों ने इनमें से अनेक कुरीतियों को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सती प्रथा

सती का शाब्दिक अर्थ है– साध्वी स्त्री। यह उस पत्नी के लिए प्रयोग किया जाता था, जो अपने पति के साथ शाश्वत और निर्विघ्न रूप में जन्म–जन्मांतर तक रहना चाहती थी और प्रमाणस्वरूप उसकी मृत्यु के उपरांत उसकी चिता में जल जाती थी।

भारतीय समाज सुधारकों में सबसे पहले राजा राममोहन राय ने इस प्रथा पर महान प्रहार किया। पहले इसके लिए कुछ प्रारंभिक प्रयत्न किये गये तथा इस स्थिति में पुलिस की उपस्थिति अनिवार्य बना दी गई ताकि स्त्री को सती होने से रोका जा सके, परंतु ये सभी प्रयत्न पर्याप्त असफल रहे।

इसके पश्चात् 1833 ई. में चार्टर के नवीनीकरण पर संसद में होने वाले वाद–विवाद पर दृष्टि रखते हुये कम्पनी के डायरेक्टरों ने विलियम बैंटिक को सुझाव दिया कि वह उस कुप्रथा को बंद करे। इसके पश्चात् 1829 ई. में एक कानून पास करके 17वें नियम के अनुसार विधवाओं को जीवित जलाना बंद कर दिया गया और न्यायालयों को आदेश दिया गया कि वे ऐसे मामले में सदोष मानव हत्या के अनुसार मुकदमा चलायें तथा सजा दें। पहले यह नियम बंगाल के लिए था, फिर 1830 में यह बंबई एवं मद्रास में भी लागू कर दिया गया।

विधवा पुनर्विवाह की अनुमति एवं बाल विवाह का निषेध : सती प्रथा की समाप्ति के पश्चात् भी समाज में स्त्रियों की दशा नहीं सुधरी तथा उनमें अनेक कुप्रथायें विद्यमान रही। इनमें विधवा के विवाह का निषेध एवं बाल विवाह का प्रचलन प्रमुख थीं।

ब्रह्मसमाजियों ने विधवा विवाह के प्रश्न पर वाद–विवाद किया। तत्पश्चात् इसे लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। इसमें सबसे प्रमुख कार्य संस्कृत कॉलेज कलकत्ता के आचार्य श्री ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने किया। उन्होंने संस्कृत और वैदिक उल्लेखों से यह सिद्ध किया कि वेद विधवा विवाह की अनुमति देता है। उन्होंने लगभग 1 सहस्र हस्ताक्षरों से युक्त एक प्रार्थना पत्र सरकार को भेजा। अंततः उनके प्रयासों के परिणामस्वरूप 1856 में हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम बना, जिसके अनुसार विधवा विवाह को वैध मान लिया गया और ऐसे विवाह से उत्पन्न हुये बच्चे वैध घोषित किए गये।

टिप्पणी

बंबई में फर्ग्यूसन कॉलेज के प्रोफेसर डी.के. कर्वे एवं मद्रास में वीरेशलिंगम पंतुलु ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किये। प्रो. कर्वे ने विधुर होने पर 1893 ई. में स्वयं एक विधवा से विवाह किया। वे 'विधवा पुनर्विवाह संघ' के सचिव थे। 1899 ई. में उन्होंने पूना में एक 'विधवा आश्रम' स्थापित किया, जिसमें विधवाओं को जीविकोपार्जन के साधन प्रदान किये जाते थे। 1906 ई. में उन्होंने बंबई में 'भारतीय महिला विश्वविद्यालय' की स्थापना की।

भारत में पहला कानूनी विवाह (विधवा) कलकत्ता में 7 दिसंबर, 1956 को ईश्वरचंद्र की देखरेख में संपन्न हुआ।

बाल विवाह : इसके पश्चात् समाज सुधारकों ने बाल विवाह का भी विरोध किया। इसके फलस्वरूप 1872 में एक कानून 'नेटिव मैरिज एक्ट' पास किया गया, जिसमें 14 वर्ष से कम आयु की कन्याओं का विवाह वर्जित कर दिया गया तथा बहुविवाह को गैर–कानूनी घोषित कर दिया गया। लेकिन यह कानून बहुत प्रभावी नहीं हो सका। अंत में एक पारसी सुधारक वी.एम. मालाबारी के प्रयत्नों से 1891 ई. में 'सम्मिति आयु अधिनियम' पास हुआ, जिसमें 12 वर्ष से कम आयु की कन्याओं के विवाह पर रोक लगा दी गई। 1931 ई. में बड़ौदा की सरकार ने 'बाल विवाह निवारण अधिनियम' पास कर दिया, जिससे बाल विवाह पर निषेध लगा दिया गया।

भारत सरकार ने बाल विवाह के फलस्वरूप सबसे प्रभावी कदम 1930 में उठाया। उस वर्ष 'हरविलास शारदा' के प्रयत्नों से बाल विवाह निरोधक कानून पास हुआ, जिसे 'शारदा एक्ट' के नाम से जाना जाता है। इसने 18 वर्ष से कम उम्र के लड़के और 14 वर्ष से कम उम्र की लड़की के विवाह को अवैध घोषित कर दिया। साथ ही बाल विवाह करने वालों के लिए इसमें सजा का भी प्रावधान था।

शिशु वध : शिशु वध की क्रूर प्रथा बंगालियों और राजपूतों में प्रचलित थी। इस प्रथा के अनुसार आर्थिक भार मानकर या अन्य कारणों से बालिकाओं की बचपन में हत्या कर दी जाती थी। प्रबुद्ध भारतीय और अंग्रेजों दोनों ने ही इस प्रथा की आलोचना की।

अंततः कानून बनाकर शिशु हत्या को साधारण हत्या के बराबर अपराध मान लिया गया। भारतीय रियासतों के रेजिडेंटों से भी कहा गया कि वे ऐसे मामले में सदोष मानव हत्याओं के बराबर अपराध माने। इस प्रथा को रोकने के लिए 1870 ई. में कुछ कानून भी बनाये गये। 1795 ई. में बंगाल में 21वें नियम तथा 1804 ई. के तीसरे नियम के अनुसार शिशु हत्या को मानव हत्या के बराबर मान लिया गया।

स्त्री शिक्षा

19वीं शताब्दी में लोगों में अत्यंत गलत धारणा प्रचलित थी कि हिंदू शास्त्रों में स्त्री शिक्षा की अनुमति नहीं है और शिक्षित स्त्री को देवता लोग वैधव्य का दण्ड देते हैं।

स्त्रियों की शिक्षा के लिए प्रायः सभी तात्कालिक सुधार आंदोलनों ने प्रयत्न किया। लेकिन यह काम सबसे पहले ईसाइयों ने ही किया। उन्होंने स्त्री शिक्षा के लिए सर्वप्रथम 1819 ई. में कलकत्ता में 'कलकत्ता तरुण स्त्री सभा' की स्थापना की। आगे चलकर शिक्षा परिषद के अध्यक्ष जे.ई.डी. बेथुन ने 1849 ई. में एक बालिका विद्यालय स्थापित किया।

टिप्पणी

स्त्री शिक्षा के प्रसार में ईश्वरचंद्र विद्यासागर की देन महान है। वे बंगाल के कम से कम 35 बालिका विद्यालयों से संबंधित थे। बंबई के एलफिन्सटन इंस्टीट्यूट के विद्यार्थियों का भी स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है। 1854 ई. में चार्ल्स वुड के पत्र में भी स्त्री शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया गया है।

बीसवीं शताब्दी में जब राष्ट्रीय आंदोलन ने जोर पकड़ा तो इसमें अनेक महिलाओं ने सक्रिय रूप से भाग लिया। लेकिन नारी उद्धार के लिए प्रमुख रूप से प्रयत्न पुरुषों ने ही किया। 1920 ई. के बाद ही स्वयं स्त्रियों ने अपने उद्धार की जिम्मेदारी संभाली। उन्होंने कई संगठनों एवं संस्थाओं की शुरुआत की, जिनमें सर्वप्रथम 1927 ई. में 'अखिल भारतीय महिला सभा' का गठन एक महत्वपूर्ण घटना थी। देश में नारी आंदोलन के उद्‌भव एवं विकास से नारी आंदोलन की प्रक्रिया पुनः तेज हो गई।

संविधान में 'हिंदू विवाह अधिनियम 1955' तथा 'हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956' जैसे महत्वपूर्ण अधिनियम बनाये गये।

दास प्रथा का अंत : यूरोपीय देशों की तरह भारत में भी दासता की प्रथा थी लेकिन दासों की स्थिति वहां से बेहतर थी। उत्तर भारत में दास प्रायः घरों में काम करते थे तथा दक्षिण भारत में वे प्रायः कृषि कार्य में सहायता देते थे।

1833 में अंग्रेजों के शासनकाल में दासता प्रथा समाप्त कर दी गई और 1833 के चार्टर अधिनियम में एक धारा और जोड़ दी गई जिससे दासता को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त किया जा सके। अंत में 1843 में संपूर्ण भारत में दासता अवैध घोषित कर दी गई और मालिकों को कोई प्रतिकार दिये बिना सभी दास स्वतंत्र कर दिये गये।

जाति प्रथा का विरोध और अछूतोद्धार आंदोलन : जाति प्रथा भारतीय समाज का दूसरा बड़ा रोग था जिसके विरुद्ध सुधारकों ने संघर्ष छेड़ा। जाति प्रथा ने समाज में अनेक दोषों को जन्म दिया जिसकी वजह से सारा समाज अनेक इकाइयों में विभक्त हो गया।

जाति प्रथा तथा छुआछूत की नींव प्राचीन काल में ही पड़ चुकी थी और तभी से इन्हें दूर करने के असफल प्रयत्न भी होते रहे। जाति प्रथा और अस्पृश्यता को दूर करने की दिशा में प्राचीन काल में महात्मा बुद्ध तदुपरांत कबीर, रामानंद, नानक, तुकाराम, एकनाथ और नामदेव जैसे महापुरुषों ने प्रयास किया पर उन्हें यथोचित सफलता नहीं मिली।

इसके बाद से लेकर अंग्रेजी शासनकाल तक इस दिशा में अनेक प्रयास होते रहे। इस दिशा में सर्वप्रथम ठोस कदम गांधीजी ने उठाया। उन्होंने अछूतों को 'हरिजन' कहा तथा उनकी भलाई के लिए हरिजन नामक साप्ताहिक पत्र निकाला एवं 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। बाद के नेताओं में बी.आर. अम्बेडकर उल्लेखनीय हैं, उन्होंने जाति प्रथा पर कड़े प्रहार किये तथा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए 'ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लास फेडरेशन' की स्थापना की। अछूतों और दलितों के उद्धार के लिए इन जातियों के अन्य नेताओं ने भी 'ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लास फेडरेशन' की स्थापना की। 1920 में गैर–ब्राह्मण जातियों ने एक 'सेल्फ रेसपेक्ट मूवमेंट' चलाया। इसके बाद भी समय–समय पर इस दिशा में अनेक प्रयास होते रहे।

टिप्पणी

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् संविधान में इनके उत्थान के लिए अनेक नियम बनाये गये, जिनमें आरक्षण की व्यवस्था प्रमुख है।

मध्य वर्ग का उदय

अंग्रेजों की प्रशासनिक, आर्थिक तथा अन्य नीतियों से नगरों में एक मध्यवर्गीय नागरिकों की श्रेणी उत्पन्न हुई। इस नवीन श्रेणी ने तत्परता से अंग्रेजी भाषा सीख ली, जिससे उसे रोजगार तथा सामाजिक प्रतिष्ठा दोनों ही प्राप्त होने लगे। यह नवीन श्रेणी अपनी शिक्षा, समाज में उच्च स्थान तथा प्रशासक वर्ग के समीप आ गई। यह मध्यवर्ग भारत की नवीन आत्मा बन गया तथा इसने समस्त देश में नई शक्ति का संचार किया। इसी वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन को उसके सभी चरणों में नेतृत्व प्रदान किया।

मध्य वर्ग के उदय में जिन परिस्थितियों ने सहायक कारकों की भूमिका निभायी, कालांतर में वही कारक उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम बने। यद्यपि प्रारंभ में नवीन शिक्षा व्यवस्था एवं आर्थिक परिवर्तन से थोड़ा धन संचय कर इस मध्य वर्ग का उदय हुआ था, अतः प्रारंभ में ये लोग स्वयं को भारतीय समाज से अलग एवं श्रेष्ठ समझने लगे थे। इस वर्ग की मानसिकता यह बन गई कि भारतीय परंपराएं एवं रीति–रिवाज पिछड़े हुए हैं। इन्होंने पाश्चात्य तौर–तरीकों का अनुसरण भी प्रारंभ कर दिया। किंतु शीघ्र ही इनमें यह समझ विकसित हो गई कि भारतीयों का पक्षपोषण, साम्राज्यवादी शासन से नहीं हो सकता। धीरे–धीरे उन्हें उपनिवेशवादी शासन की शोषणमूलक प्रवृत्तियां समझ में आने लगीं। अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के संबंध में इनकी हीन भावना भी जाती रही। इसके पश्चात् यही मध्य वर्ग साम्राज्यवाद विरोधी प्रयासों का अगुआ बन गया। इस मध्य वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन के लगभग सभी चरणों में उसमें सक्रियता से सहभागिता निभायी तथा आवश्यकतानुसार उसे नेतृत्व भी प्रदान किया। इस मध्य वर्ग के कई व्यक्तियों ने भारत के सामाजिक–धार्मिक आंदोलनों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन दिया तथा समय–समय पर भारतीयों की दशा सुधारने के अनेक प्रयास भी किए। इस प्रकार आधुनिक काल में इस मध्य वर्ग का अपना प्रमुख स्थान एवं महत्व था।

जातीय संघ तथा जातीय गतिशीलता

ब्रिटिश शासनकाल में, 19वीं शताब्दी में जब सामाजिक–धार्मिक सुधारों की प्रक्रिया प्रारंभ हुई तब विभिन्न जातीय संघ भी अस्तित्व में आये तथा अनेक जाति संघ आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें से लगभग सभी जातीय आंदोलन, उच्चवर्गीय भेदभाव, शोषण एवं दमन के विरुद्ध प्रारंभ हुये थे। कुछेक जातीय संघों के उद्‌भव का कारण अंग्रेजी अत्याचार एवं शोषण भी था। इन जाति संघों में से प्रमुख संघों का वर्णन निम्नानुसार है–

सत्यशोधक समाज एवं ज्योतिबा फुले

ज्योतिबा फुले माली जाति में पैदा हुए थे। उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। इस समाज के नेता एवं सदस्य निम्न जाति के लोग थे। इस समाज का मुख्य उद्देश्य :–

(1) सामाजिक सेवा, तथा

(2) स्त्रियों एवं निम्न जाति के लोगों के मध्य शिक्षा का प्रचार करना था।

टिप्पणी

फुले ने सार्वजनिक सत्य धर्म के समर्थन एवं गुलामी के विरुद्ध कार्य किया। उनके ये कार्य जन–सामान्य के प्रेरणा स्रोत बने। ज्योतिबा फुले ने ब्राह्मणों के प्रतीक चिह्न 'राम' के विरोध में 'राजा बाली' को अपने आंदोलन का प्रतीक चिह्न बनाया। फुले समाज में जाति प्रथा के पूर्ण उन्मूलन तथा सामाजिक–आर्थिक समानता के पक्षधर थे। उन्होंने संस्कृत हिंदुत्व का विरोध किया। उनके आंदोलन ने समाज में ब्राह्मणों के वर्चस्व को समाप्त कर दलितों की पहचान बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्होंने पुरोहित वर्ग को समाज का शोषक कहा। उन्होंने अपनी पत्नी की सहायता से पूना में एक बालिका स्कूल की स्थापना की तथा महाराष्ट्र में अनेक स्थानों पर विधवा पुनर्विवाह का कार्यक्रम प्रारंभ किया।

श्री नारायण गुरु एवं धर्म परिपालन आंदोलन

यह एक क्षेत्रीय आंदोलन था, जिसका जन्म समाज के दलित वर्ग एवं ब्राह्मण वर्ग में टकराव के कारण हुआ। इस आंदोलन की शुरुआत केरल के इजर्यावस जाति के श्री नारायण गुरु स्वामी ने की। इजर्यावस केरल की सबसे बड़ी दलित जाति है, जिसे अछूत माना जाता था। यह राज्य की कुल जनसंख्या का 26 प्रतिशत थी। इस जाति के लोग मुख्यतया ताड़ी (शराब) बेचने का कार्य करते थे। 1902 ई. में इसी समुदाय के श्री नारायण गुरु ने एक आंदोलन प्रारंभ किया तथा नारायण गुरु धर्म परिपालन योगम की शुरुआत की। इस योगम के कई उद्देश्य थे–

(1) शिक्षा संस्थाओं में इस समुदाय के छात्रों को प्रवेश का अधिकार दिलाना,

(2) सरकारी सेवाओं में भर्ती,

(3) मंदिरों में प्रवेश, तथा

(4) राजनीतिक प्रतिनिधित्व इत्यादि।

इस आंदोलन के फलस्वरूप केरल में दलितों को अनेक अधिकार प्राप्त हुए, कई निषिद्ध क्षेत्रों एवं स्थानों में उनको प्रवेश मिला तथा उनमें चेतना का प्रसार हुआ। दलितों को उनके सामाजिक अधिकार दिलाने में इस आंदोलन का महत्वपूर्ण स्थान रहा।

वोक्कालिंग संघ

इस आंदोलन की शुरुआत 1905 ई. में मैसूर में हुई। यह एक ब्राह्मण विरोधी आंदोलन था।

जस्टिस आंदोलन

इस आंदोलन की शुरुआत सी.एन. मुदालियार, टी.एम. नायर एवं पी. त्यागराज ने मद्रास में की। इस आंदोलन का उद्देश्य गैर–ब्राह्मण जातियों का विधायिका में प्रतिनिधित्व बढ़ाना था। 1917 ई. में मद्रास प्रेसीडेंसी एसोसिएशन का गठन किया गया, जिसने विधायिका में निम्न जाति के लोगों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व की मांग की।

आत्म–सम्मान आंदोलन

इस आंदोलन की शुरुआत 1920 के दशक में ई.वी. रामास्वामी नायकर एवं बालाजी नायडू ने की। इसने समाज में ब्राह्मणों की सत्ता को चुनौती दी तथा लोगों से ब्राह्मणवाद का विरोध करने के लिए आगे आने का आह्वान किया। इसने पिछड़ी जाति

टिप्पणी

के लोगों को विभिन्न अधिकार एवं प्रतिनिधित्व देने की मांग की। आंदोलन के अनुयायियों ने कहा कि धार्मिक कर्मकांडों में ब्राह्मणों की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। उन्होंने लोगों से अपील की कि वे विवाह के अवसर पर विभिन्न पूजाओं के लिए ब्राह्मणों को आमंत्रित न करें।

अरवीप्पुरम आंदोलन

सन् 1888 में शिवरात्रि के अवसर पर श्री नारायण गुरु ने पिछड़ी जाति का होने के बावजूद केरल के अरवीप्पुरम नामक स्थान पर भगवान शिव की प्रतिमा स्थापित की तथा कहा कि देवताओं की पूजा एवं आराधना में ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं है। उन्होंने स्थानीय मंदिर की दीवार पर लिखा कि 'जातीयता एवं प्रजातीयता को बढ़ाने वाली दीवार को गिरा दो, आपसी घृणा को दूर करो, सद्भाव बढ़ाओ, हम सभी यहां भाई–भाई की तरह रहेंगे।' इस आंदोलन का द. भारत में दूरगामी प्रभाव हुआ। इसने द. भारत के लोगों में एक नयी चेतना जागृत की तथा इस क्षेत्र में अनेक आंदोलनों की पृष्ठभूमि तैयार की। बाद में होने वाले अनेक आंदोलन, विशेषकर 'मंदिर प्रवेश आंदोलन', इस आंदोलन से प्रेरित थे।

मंदिर प्रवेश आंदोलन

तत्कालीन अनेक समाज सुधारक तथा बुद्धिजीवियों, जैसे– श्री नारायण गुरु, एन. कुमारन असन, टी.के. माधवन इत्यादि पहले ही इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर चुके थे। 1924 ई. में के.पी. केशव के नेतृत्व में वाइकोम सत्याग्रह प्रारंभ हुआ, जिसमें सार्वजनिक मार्गों एवं हिन्दू मंदिरों में दलितों को प्रवेश का अधिकार दिये जाने की मांग की गई। पंजाब में जाटों एवं मदुरई के स्थानीय निवासियों ने भी इस सत्याग्रह के माध्यम से समान अधिकारों की मांग की। महात्मा गांधी ने इस आंदोलन के समर्थन में केरल की यात्रा की तथा सत्याग्रहियों की मांगें पूरी किये जाने की अपील की।

पुनः 1931 ई. में जब सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित हो गया, तब केरल में मंदिर प्रवेश आंदोलन जोर पकड़ने लगा। के. केलप्पन एवं केरल के प्रख्यात कवि सुब्रह्मण्यम तिरुभाम्बू ने गुरुवयूर नामक स्थान पर 16 स्वयंसेवी कार्यकर्ताओं के दल का नेतृत्व किया। प्रसिद्ध समाज सुधारकों, जैसे– पी. कृष्णा पिल्लई एवं ए.के. गोपालन को भी एक महत्वपूर्ण सफलता तब हाथ लगी, जब 1936 ई. में त्रावणकोर के महाराजा ने एक राजाज्ञा जारी करके सभी सरकार नियंत्रित मंदिरों को समस्त जातियों के लिए खोल दिया। इसी तरह का आदेश 1938 ई. में सी. राजगोपालाचारी की सरकार ने मद्रास में भी जारी किया।

जातीय आंदोलनों के प्रादुर्भाव एवं जातीय संघों के अस्तित्व में आने से दलित एवं पिछड़ी जातियों में चेतना जागृत हुई तथा उनमें गतिशीलता आयी। कभी अपने क्षेत्र एवं रीति–रिवाजों में सिमटे ये लोग बाह्य जगत से तादात्म्य स्थापित करने के प्रति विश्वस्त हुए तथा उन्होंने इस दिशा में अपने कदम बढ़ाए।

जातीय आंदोलनों के प्रादुर्भाव से ये लोग सभ्यता एवं विकास के प्रति जागरूक हुए तथा इस दिशा में आगे बढ़ने के निमित्त इन्होंने अपने प्रयास प्रारंभ किए। धीरे–धीरे इस जाति के कई लोगों ने अपनी प्रतिभा, लगन एवं मेहनत के बल पर उच्चवर्गीय लोगों के समकक्ष स्थान बना लिया तथा वे अनेक महत्वपूर्ण स्थानों एवं उपलब्धियों को प्राप्त

टिप्पणी

करने में सफल रहे। इस कार्य से जातीय गतिशीलता आयी। धीरे–धीरे यह प्रक्रिया आगे बढ़ती रही तथा स्वतंत्रता के समय तक तो यह प्रक्रिया अच्छी तरह से स्थापित हो चुकी थी।

ईसाई मिशन

ईसाई मिशनरियों ने ईसाई धर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म के रूप में प्रचारित किया तथा पाश्चात्यीकरण के द्वारा उसके प्रसार की नीति अपनायी। उनका विश्वास था कि इस नीति के द्वारा वे भारतीयों की अपने धर्म एवं संस्कृति में आस्था को विनष्ट कर देंगे। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इन मिशनरियों ने मौलिकतावादियों का समर्थन किया, क्योंकि उनका विश्वास था कि मौलिकतावादियों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की अवनति होगी। उन्होंने साम्राज्यवादियों का समर्थन किया क्योंकि उनके उद्देश्यों की सफलता के लिए कानून एवं व्यवस्था की स्थिति का उनके अनुकूल होना आवश्यक था। साथ ही मिशनरियों का मानना था कि ईसाई धर्म के प्रचार–प्रसार हेतु भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का होना नितांत आवश्यक है।

ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश व्यावसायियों एवं पूंजीपतियों का समर्थन किया क्योंकि उनका विश्वास था कि वे ईसाई धर्म का प्रचार कर भारतीयों में पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार करेंगे। इससे अंग्रेजी वस्तुओं की खपत बढ़ेगी तथा अंग्रेज पूंजीपति एवं व्यापारी मिशनरियों को उनके उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता पहुंचायेंगे।

1858 ई. के पश्चात् 'झिझकपूर्ण आधुनिकीकरण की नीति' (Policy of hesitant modernisation) त्याग दी गई, क्योंकि भारतीय धीरे–धीरे शासक के सम्मुख शिष्य की तरह व्यवहार करने लगे तथा अपने समाज एवं संस्कृति का तीव्रता से आधुनिकीकरण किये जाने की मांग करने लगे। साथ ही भारतीयों ने अपने अनुरूप स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय पर आधारित प्रशासन की मांग प्रारंभ कर दी थी। अब अंग्रेजों ने सामाजिक रूढ़िवादी एवं समाज के संकीर्णतावादी तत्वों का पक्ष लेना आरंभ कर दिया। अंग्रेजों ने जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद को उभारना भी प्रारंभ कर दिया।

सामाजिक वर्ग का उत्थान

19वीं शताब्दी में भारतीय समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। इस काल में भारतीयों की सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक मान्यताओं में तेजी से परिवर्तन हुए। वैसे इसके अनेकानेक कारण थे। यदि व्यापक संदर्भ में देखा जाए तो इस काल में भारतीय समाज धार्मिक अंधविश्वास एवं सामाजिक कुरीतियों में जकड़ा हुआ था। हिन्दू समाज बुराइयों, बर्बरता एवं अंधविश्वासों से ओत–प्रोत था। पुरोहित, समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाए हुए थे तथा जन–सामान्य पर विभिन्न कर्मकांडों व निरर्थक धार्मिक कृत्यों की सहायता से वर्चस्व स्थापित कर चुके थे। उन्होंने शिक्षा, ज्ञान एवं धार्मिक क्रियाकलापों को अपना विशेषाधिकार बताया तथा इनकी सहायता से जन–सामान्य के मनोमस्तिष्क पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा की।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था भी इतनी ही दयनीय थी। समाज में सबसे निम्न स्थिति स्त्रियों की थी। लड़की का जन्म अपशकुन, उसका विवाह बोझ एवं वैधव्य श्राप समझा जाता था। जन्म के पश्चात् बालिकाओं की हत्या कर दी जाती थी। स्त्रियों का वैवाहिक जीवन अत्यंत दयनीय एवं संघर्षपूर्ण था। यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो

टिप्पणी

जाती थी तो उसे बलपूर्वक पति की चिता में जलने को बाध्य किया जाता था। उसे 'सती प्रथा' के नाम से जाना जाता था। राजा राममोहन राय ने इसे 'शास्त्र की आड़ में हत्या' की संज्ञा दी। सौभाग्यवश यदि कोई स्त्री इस क्रूर प्रथा से बच जाती थी तो उसे शेष जीवन अपमान, तिरस्कार, उत्पीड़न एवं दुख में बिताने पर बाध्य होना पड़ता था।

जाति प्रथा भी समाज की एक महत्वपूर्ण बुराई थी। वर्ण या जाति का निर्धारण वैदिक कर्मकाण्डों के आधार पर होता था। इस जाति व्यवस्था की सबसे निचली सीढ़ी पर अनुसूचित जाति के लोग थे, जिन्हें समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था तथा अछूत माना जाता था। इन अछूतों या अस्पृश्यों की संख्या पूरी हिन्दू जनसंख्या के 20 प्रतिशत से भी अधिक थी। अस्पृश्य भेदभाव एवं अनेक प्रतिबंधों के शिकार थे। इस व्यवस्था ने समाज को कई वर्गों या समूहों में विभक्त कर दिया। आगे चलकर यह व्यवस्था राष्ट्रीय एकीकरण एवं विकास में महत्वपूर्ण बाधा सिद्ध हुई। वर्ग चेतना ने धीरे–धीरे अन्य संप्रदाय के लोगों को हिंदुओं से पृथक् करना प्रारंभ कर दिया। कालांतर में हिन्दू समाज की इस जाति व्यवस्था ने कई अन्य क्षेत्रों में विसंगतियां एवं कठिनाइयां पैदा कीं। अस्पृश्यता की कुरीति ने इस वर्ग के लोगों को समाज से लगभग पृथक् कर दिया। मानव सभ्यता एवं प्रतिष्ठा पर यह कुरीति एक शर्मनाक धब्बा था।

भारत में उपनिवेशी शासन की स्थापना के पश्चात् देश में अंग्रेजी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार हेतु सुनियोजित प्रयास किये गये। शहरीकरण तथा आधुनिकीकरण ने भी लोगों के विचारों को प्रभावित किया। इन नवीन विचारों के विक्षोभ ने भारतीय संस्कृति में प्रसार की भावना उत्पन्न की तथा ज्ञान का प्रसार हुआ।

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति एवं विदेशी शक्तियों को पराजित करने की चेतना ने जागृति की नई किरण फैलाई। धीरे–धीरे यह चेतना जागृत होने लगी कि भारतीय सामाजिक संरचना एवं संस्कृति में दुर्बलता के कारण भारत जैसा विशाल देश मुट्ठीभर विदेशियों के हाथों में चला गया है। यह भी महसूस किया जाने लगा कि भारत सभ्यता की दौड़ में काफी पिछड़ गया है। इस सोच ने एक प्रतिक्रियावादी स्वरूप को जन्म दिया। इसी समय कुछ पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त बंगाली नवयुवकों ने इस सोच से अभिप्रेरित होकर कि भारत सभ्यता एवं विकास में काफी पीछे छूटता जा रहा है, प्राचीन मान्यताओं एवं मूल्यों पर कुठाराघात किया तथा मांस एवं शराब के सेवन जैसे खान–पान के पाश्चात्य तरीकों को अपना लिया। इससे यह अवश्य परिलक्षित होने लगा कि शायद भारतीय समाज अब सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के दौर से गुजरने लगा है।

19वीं शताब्दी के अंतिम दशक में लोकतंत्र एवं राष्ट्रवाद के उफान ने भारतीयों एवं भारत की सामाजिक–धार्मिक संस्थाओं को भी प्रभावित करना प्रारंभ कर दिया। इन कारकों ने शीघ्र ही पुनर्जागरण की प्रक्रिया के उद्भव एवं विकास के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। विभिन्न कारक, यथा–राष्ट्रवादी भावनाओं के विकास, नई आर्थिक शक्तियों के अभ्युदय, शिक्षा के प्रसार, आधुनिक पाश्चात्य मूल्यों एवं संस्कृति के प्रभाव तथा विश्व समुदाय को सशक्त करने की सोच ने 'सुधार' के मार्ग को प्रशस्त किया।

टिप्पणी

स्त्रियों की स्थिति

समाज में स्त्रियों की दशा अत्यंत सोचनीय थी तथा उन्हें पुरुषों से नीचा समझा जाता था। समाज में स्त्रियों की अपनी कोई पहचान नहीं थी तथा उनकी ऊर्जा एवं योग्यता पर्दा प्रथा, सती प्रथा एवं बाल विवाह जैसी बुराइयों की बलि चढ़ गये थे। हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों ही समाजों में महिलायें आर्थिक तथा सामाजिक रूप से पुरुषों पर आश्रित थीं। उन्हें शिक्षा ग्रहण करने की मनाही थी। हिन्दू स्त्रियों को सम्पत्ति का कोई अधिकार नहीं था तथा विवाह में उनकी सहमति नहीं ली जाती थी। मुस्लिम स्त्रियों को हालांकि सम्पत्ति का अधिकार था परंतु उन्हें पुरुषों की तुलना में आधी सम्पत्ति ही दी जाती थी, लेकिन तलाक में पुरुष और महिलाओं में बहुत ज्यादा भेदभाव किया जाता था। बहुपत्नी प्रथा हिन्दू एवं मुसलमान दोनों समुदायों में प्रचलित थी।

पत्नी एवं मातृत्व दो ही ऐसे अधिकार क्षेत्र थे, जहां महिलाओं को समाज में थोड़ी बहुत मान्यता प्राप्त थी। सामान्यतया महिलाओं को उपभोग की वस्तु माना जाता था तथा ऐसी अवधारणा थी कि उनका जन्म पुरुषों की सेवा करने के लिए ही हुआ है। समाज में उनका अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं था तथा उनकी सभी गतिविधियों एवं क्रियाकलापों का निर्धारण पुरुषों द्वारा किया जाता था। यद्यपि समाज के कुछ क्षेत्र ऐसे थे, जिनमें महिलाओं ने उल्लेखनीय कार्य किये थे किंतु ऐसी महिलाओं की संख्या अत्यल्प थी तथा उन्हें उंगलियों में गिना जा सकता था। इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि जब कभी भी महिलाओं की उपेक्षा की गई है तब–तब सभ्यता अवनति की ओर उन्मुख हुई है।

समाज सुधार अभियान, स्वतंत्रता संघर्ष एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जहां महिलाओं ने उल्लेखनीय योगदान दिया है। भारतीय संविधान में महिलाओं की दशा सुधारने हेतु अनेक प्रावधान किये गये हैं।

सभी समाज सुधारकों ने महिलाओं की दशा सुधारने हेतु अपना ध्यान केन्द्रित किया तथा अपील की कि महिलाओं को समाज में उनका उचित दर्जा प्रदान किया जाये। समाज सुधारकों ने घोषित किया कि ऐसा कोई भी समाज सभ्य एवं विकसित नहीं हो सकता जहां महिलाओं से भेदभाव किया जाता हो तथा उनकी स्थिति दोयम दर्जे की हो। समाज सुधारकों ने स्त्रियों के विरुद्ध आरोपित की गई विभिन्न कुरीतियों, यथा– बहुपत्नी विवाह, बाल विवाह, सती प्रथा तथा पर्दा प्रथा इत्यादि की तीखी आलोचना की तथा उन्हें दूर करने के लिए प्रशंसनीय कदम उठाये। इन्होंने सरकार से भी अपील की कि वह समाज में महिलाओं की दशा सुधारने हेतु पहल करे एवं स्त्रियों से संबंधित विभिन्न कुप्रथाओं को दूर करने हेतु कदम उठाये। उन्होंने मांग की कि महिलाओं की मध्यकालीन तथा सामंतकालीन छवि को दूर किया जाये।

समाज सुधारकों के इन्हीं प्रयासों का प्रतिफल था कि सरकार ने स्त्रियों की दशा सुधारने हेतु अनेक कदम उठाये तथा अनेक कानून बनाए।

महिला संगठन

महिलाओं के उद्धार के लिए किये गये विभिन्न आंदोलनों एवं महिलाओं में शिक्षा के प्रचार–प्रसार से उनमें चेतना आई तथा वे अपने अधिकारों के प्रति सजग हुईं। इसके

फलस्वरूप अनेक महिला संगठनों की स्थापना हुई, जो महिलाओं के विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम सिद्ध हुए। इसी प्रकार के कुछ महत्वपूर्ण महिला संगठन निम्नानुसार थे–

टिप्पणी

1. **भारतीय स्त्री महामंडल** : इसकी स्थापना इलाहाबाद में सरला देवी चौधरानी ने 1901 ई. में की। महिलाओं के समान हितों को प्रोत्साहित करने वाला यह संगठन भारतीय महिलाओं का पहला स्थायी संगठन था। इस संगठन के उद्देश्य थे– महिला शिक्षा को बढ़ावा देना, बाल विवाह को हतोत्साहित करना और रोकना, परिवार में महिलाओं की स्थिति सुधारना, पर्दा प्रथा को दूर करना इत्यादि।
2. **भारतीय महिला परिषद** : इसकी स्थापना राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन ने की थी। यह परिषद महिलाओं से संबंधित सामाजिक विषयों पर विचार मंच के रूप में कार्य करता था। परिषद ने महिलाओं की दशा सुधारने एवं उन्हें शिक्षित बनाने के निमित्त अनेक प्रयास किए।
3. **स्त्री जरथोस्टी मंडल** : यह पारसी महिलाओं का संगठन था। यह महिलाओं को विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षण प्रदान करने का कार्य करता था। इस मंडल की सदस्य महिलायें विविध क्षेत्रों में सक्रियतापूर्वक भागीदारी निभाती थीं।
4. **आर्य महिला समाज** : इसकी स्थापना जस्टिस महादेव गोविंद राणाडे की पत्नी रमाबाई ने की थी। यह संगठन शिक्षित महिलाओं को प्रश्रय देकर उनका मार्गदर्शन करता था।
5. **भारतीय महिलाओं की राष्ट्रीय परिषद** : इसकी स्थापना 1925 ई. में की गई। यह महिलाओं का अखिल भारतीय संगठन था, जो अंतरराष्ट्रीय महिला संगठन से संबंधित था। दोराब टाटा की पत्नी मेहरबाई टाटा इस संगठन से संबंधित थीं।
6. **भारतीय महिला मंडल** : इसकी स्थापना एक आयरिश महिला डॉर्थी जिनराजदान ने 1915 ई. में की थी। डॉर्थी, थियोसोफिस्ट एवं आंदोलनकर्ता थीं। ऐनी बेसेंट इस मंडल की प्रथम अध्यक्षा बनीं। यह महिला संगठन महिलाओं को शिक्षित करने तथा उन्हें आत्मनिर्भर बनाने हेतु प्रशिक्षित करने का कार्य करता था। इस संगठन ने महिलाओं को राजनीतिक अधिकार प्रदान करने की मांग भी उठाई।
7. **अखिल भारतीय महिला सम्मेलन** : यह धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण वाला एक विशुद्ध भारतीय महिला संगठन था। संगठन का प्रथम सम्मेलन जनवरी 1927 में पूना में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन के आयोजन में मार्गरेट कजिंस एवं कुछ अन्य विशिष्ट महिलाओं की प्रमुख भूमिका थी। सम्मेलन में स्त्रियों के अधिकार एवं उन पर आरोपित विभिन्न सामाजिक रूढ़ियों पर चर्चा की गई। इस संगठन ने महिला शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए अनेक प्रशंसनीय कार्य किए। 1941 ई. में संगठन ने रोशनी नामक एक पाक्षिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया तथा 1946 ई. में एक केंद्रीय कार्यालय की स्थापना की। शारदा एक्ट के निर्माण एवं उसे प्रभावी बनाने में इस संगठन की महत्वपूर्ण भूमिका थी। 1940

टिप्पणी

के दशक तक आते–आते अखिल भारतीय महिला सम्मेलन महिलाओं के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला देश का प्रमुख संगठन बन गया।

महिलाओं से संबंधित ब्रिटिश कानून : अंग्रेजों ने अपने शासनकाल में प्रारंभ से ही इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव किया था कि भारतीय समाज में महिलाओं की दशा अत्यंत चिंताजनक है। तत्कालीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों की स्थिति दोयम दर्जे की थी। उनकी स्वतंत्रता एवं अधिकारों को जैसे ग्रहण लग गया था तथा उन पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध आरोपित कर दिए गए थे। इन प्रतिबंधों के बावजूद भी अनेक अमानवीय प्रथाओं को थोपा गया था तथा उन्हें जुल्म व उत्पीड़न का शिकार बनाया जाता था। तत्कालीन समाज में बाल विवाह, सती प्रथा, कन्या वध, बहुविवाह जैसी कुप्रथायें विद्यमान थीं, जिनसे महिलाओं की मर्यादा एवं सम्मान को ठेस पहुंचती थी। अतः ऐसी स्थिति में अंग्रेजों ने अपने शासनकाल में महिलाओं से संबंधित अमानवीय प्रथाओं को समाप्त करने तथा उनकी दशा सुधारने के लिए अनेक कानून बनाए।

ब्रिटिश शासनकाल में महिलाओं से संबंधित कानूनों में सबसे प्रमुख था– 1929 ई. का सती प्रथा निरोधक कानून। गवर्नर जनरल विलियम बैंटिक के शासनकाल में बने इस कानून द्वारा सती प्रथा को दंडनीय अपराध घोषित किया गया तथा इस कार्य हेतु किसी महिला को उकसाने या बाध्य करने वालों हेतु भी दण्ड का प्रावधान किया गया। सर्वप्रथम इस नियम को बंगाल में लागू किया गया फिर देश के अन्य भागों में। इसी प्रकार बाल विवाह को रोकने के लिए 1872 ई. में 'नेटिव मैरिज एक्ट' पारित किया गया। इसमें 14 वर्ष से कम आयु की कन्याओं का विवाह वर्जित कर दिया गया। 1891 ई. में 'सम्मति आयु अधिनियम' पारित हुआ। 1930 ई. में 'शारदा एक्ट' पारित हुआ। विधवा विवाह को प्रोत्साहित करने हेतु 1856 ई. में 'हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम' बना, जिसके अनुसार विधवा विवाह को वैध मान लिया गया तथा ऐसे विवाह से उत्पन्न सभी संतानें भी वैध घोषित की गईं। 1795 ई. एवं 1804 ई. के अधिनियम द्वारा कन्या शिशु वध को मानव हत्या के बराबर घोषित किया गया। इसके साथ ही बहुविवाह को रोकने के लिए भी नियम बनाए गए।

स्वतंत्र भारत में महिलाओं हेतु वैधानिक उपाय : स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् निर्मित संविधान में महिलाओं को विधिक समानता के अधिकार दिये गये हैं तथा उनसे किसी भी प्रकार के भेदभाव को रोकने के लिए संविधान के अनुच्छेद 14 एवं 15 में विभिन्न उपबंध किये गये हैं। 1954 ई. के विशेष विवाह अधिनियम द्वारा अंतर्जातीय एवं अंतर–धर्म विवाह को कानूनी मान्यता दी गई है। 1955 के हिंदू मैरिज एक्ट द्वारा एक पत्नी के रहते हुए पुरुष द्वारा दूसरा विवाह करने पर रोक लगा दी गयी तथा ऐसा करने पर दण्ड एवं जुर्माने का प्रावधान किया गया। 1956 ई. के हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम द्वारा लड़की को भी पुत्र के बराबर उत्तराधिकारी बनाने की व्यवस्था की गई। हिन्दू गोद एवं व्यय अधिनियम द्वारा लड़की को भी इस संबंध में लड़के के बराबर मान लिया गया। 1961 ई. में मातृत्व लाभ अधिनियम बना, जिसे अप्रैल 1976 ई. में संशोधित करके गर्भावस्था के दौरान कार्यालयों में कार्यरत महिलाओं के लाभार्थ अनेक उपायों की घोषणा की गई। संविधान के नीति–निदेशक सिद्धांत, समान कार्य के लिए महिलाओं को पुरुषों के बराबर वेतन दिये जाने की पहल करते हैं। 'समान पारितोषिक (पारिश्रमिक) अधिनियम, 1976' महिलाओं को पुरुषों के समान वेतन देने एवं नौकरियों

टिप्पणी

में उनसे किसी प्रकार के भेदभाव को रोकने की व्यवस्था करता है। 'कारखाना अधिनियम, 1976' द्वारा सभी कारखानों के लिए यह अनिवार्य बना दिया गया कि यदि किसी कारखाने में 30 या उससे अधिक महिला कर्मचारी कार्यरत हैं तो कारखाने के मालिक या प्रबंधक वहां 'शिशु पालन गृह' (क्रेच) की स्थापना करेंगे, जहां कार्य के दौरान महिलाओं के छोटे बच्चों की देखभाल की जायेगी। 1983 ई. में संसद ने फौजदारी कानून (संशोधित) पास किया, जिसके द्वारा भारतीय दंड संहिता (आईपीसी), इंडियन एविडेंस एक्ट एवं क्रिमिनल प्रोसीजर कोड में महिलाओं को अत्याचार से बचाने हेतु अनेक अधिनियम जोड़े गये। महिलाओं के साथ बलात्कार तथा पति या ससुराल द्वारा सताये जाने पर कठोर दण्ड एवं कारावास की सजा निर्धारित की गई है। 'महिला व्याभिचार अधिनियम' एवं 'बालिका अधिनियम, 1956' में वर्ष 1986 ई. में संशोधन किया गया तथा यह नियम बना दिया गया कि किसी महिला या बालिका को लैंगिक रूप से प्रताड़ित करने पर कठोर दण्ड एवं कारावास की सजा दी जायेगी। इस अधिनियम द्वारा यह भी व्यवस्था की गई है कि किसी महिला का व्यावसायिक उद्देश्यों से दैहिक शोषण गंभीर अपराध माना जायेगा। 1986 ई. में 'दहेज निवारण अधिनियम, 1961' में अनेक संशोधन किये गये तथा दहेज देना एवं ग्रहण करना दोनों ही जुर्म की श्रेणी में रख दिये गये। वर्ष 1987 ई. में एक अधिनियम पारित करके सती प्रथा को अक्षम्य मानव हत्या अपराध घोषित कर दिया गया।

सामाजिक उत्थान की प्रक्रिया का मूल्यांकन

सामाजिक उत्थान से संबंधित किये गये प्रयास मुख्यतया शहरी मध्यम एवं उच्च वर्ग तक ही सीमित रहे तथा कोई भी आंदोलन देश के गांव और किसानों तथा शहरों के गरीबों तक नहीं पहुंच सका। इसके अतिरिक्त आंदोलन के कार्यकर्ताओं ने पीछे देखने या अतीत की महानता और अपने–अपने धर्मग्रंथों से प्रमाण देने की प्रवृत्ति का सहारा लिया। उनकी इन प्रवृत्तियों ने लोगों में सांप्रदायिकता के आधार पर विभाजित होने की गलत परंपरा को अप्रत्याशित रूप से बढ़ावा दिया। अनेक इतिहासकारों का मत है कि देश में अन्य अनेक कारणों के साथ–साथ इन आंदोलनों ने भी सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया।

सुधार आंदोलनों में संस्कृति के कुछ चुनिंदा पहलुओं को ज्यादा महत्व दिए जाने से संस्कृति के अन्य क्षेत्र, जैसे– स्थापत्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला इत्यादि उपेक्षित हुए। हिंदू समाज सुधारक अपनी विचारधारा में प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति में ही संकुचित होकर रह गए तथा उन्होंने मध्यकालीन इतिहास को बिल्कुल भुला दिया, जबकि भारतीय इतिहास में मध्यकाल का अपना एक विशेष स्थान है तथा इसकी अनेक गौरवशाली उपलब्धियां रही हैं। प्राचीन संस्कृति का अतिशय गुणगान करने से वे जातियां इसके विरुद्ध हो गईं, जिनके पूर्वज प्राचीन काल में विभिन्न प्रकार के शोषण एवं उत्पीड़न के शिकार रहे थे।

प्राचीन काल में पुरोहितों का सामाजिक एकाधिकार एवं वर्चस्व था। इसके कारण भी कई जातियां, विशेष रूप से निम्न जातियां, इन आंदोलनों में सक्रिय नहीं हुईं। कई मुस्लिम मध्यवर्गों ने मुस्लिम समाज का पाश्चात्यीकरण किए जाने के प्रयासों को उच्च वर्ग के हितों का पक्षपोषण माना तथा इसे मध्य एशिया की मुस्लिम सभ्यता एवं संस्कृति को नीचा दिखाने का प्रयास समझा। धार्मिक सुधारकों द्वारा केवल अपने धर्म की श्रेष्ठता

टिप्पणी

स्थापित करने के प्रयास से सांप्रदायिक सौहार्द को धक्का लगा तथा लोगों में आपसी भाईचारा कम हुआ। कालांतर में इसी मनोधारणा से लाभ उठाकर अंग्रेजों ने भारतीय समाज को विभाजित करने के कुत्सित प्रयास आरंभ किए, जिनकी दुखद परिणति देश के विभाजन के रूप में हुई।

सामाजिक उत्थान की प्रक्रिया का बौद्धिक आधार

19वीं सदी के सामाजिक–धार्मिक सुधार आंदोलनों में तार्किक बुद्धिवाद और धार्मिकता के साथ–साथ भौतिकवाद को मुख्य मापदंडों के रूप में अंगीकार किया गया। राजा राममोहन राय के अनुसार 'सत्य की कसौटी उसकी दृश्यमानता है।' अक्षय कुमार दत्त संपूर्ण प्राकृतिक व सामाजिक घटनाक्रम को विशुद्ध यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा समझने व विश्लेषित करने के इच्छुक थे। उन्होंने तर्क एवं उपयोगिता के आधार पर सामाजिक व धार्मिक मान्यताओं का मूल्यांकन करने पर जोर दिया। तर्क को आस्था की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण माना गया। ब्रह्म समाज ने वेदों की निर्दोषता का खंडन किया, जबकि अलीगढ़ आंदोलन द्वारा कुरान व इस्लामी शिक्षाओं में समयोचित परिवर्तन लाने का आह्वान किया गया। अक्षय कुमार दत्त ने बाल विवाह के विरोध तथा विधवा विवाह के समर्थन हेतु अतीत के दृष्टांतों का सहारा नहीं लिया, बल्कि चिकित्सा विज्ञान व तार्किक दृष्टिकोण के आधार पर अपनी बात सामने रखी। गोपालहरि देशमुख सामाजिक सुधारों के लिए धार्मिक स्वीकृति को आवश्यक नहीं मानते थे। उनके अनुसार सामाजिक सुधारों का निषेध करने वाले धर्म को ही बदल देना चाहिए।

इन सुधारों का दृष्टिकोण विश्ववादी था। राजा राममोहन राय विभिन्न धर्मों को एक सार्वभौम ईश्वरवाद की अलग–अलग अभिव्यक्ति मानते थे। आरंभ में ब्रह्म समाज की स्थापना एक सार्वभौम चर्च के रूप में ही की गई थी। राजा द्वारा वैदिक अद्वैतवाद तथा ईसाई एकेश्वरवाद दोनों का समर्थन किया गया। केशवचंद्र सेन का कथन था कि, ''हम सभी धर्मों में सत्य की खोज नहीं कर सकते किंतु यह मान सकते हैं कि सभी स्थापित धर्म सत्य हैं।'' सेन ने सार्वभौमिकतावादी दृष्टिकोण के सामाजिक प्रभावों को मुखरता दी। उनके अनुसार प्रतिदिन सच्चे मन से ईश्वरोपासना करने वाले में यह समझ अवश्य आ जानी चाहिए कि सभी देशवासी भाई–बंधु हैं। ऐसी समझ वाले समाज में जातिवाद का कोई चिह्न नहीं रहेगा। बंकिमचंद्र चटर्जी के विचार में श्रेष्ठता का मानदंड किसी धार्मिक समूह से जुड़ाव की बजाय धार्मिक विशेषताएं एवं गुण होने चाहिए।

इस प्रकार, इन सामाजिक–धार्मिक सुधार आंदोलनों के पृष्ठ में एक बुद्धिवादी आधार मौजूद था, जो इन आंदोलनों को मानवतावादी एवं निरपेक्ष दृष्टि प्रदान करता था।

ये सुधार आंदोलन पाश्चात्य एवं प्राच्य संस्कृति के प्रतिगामी तत्वों से संघर्ष करते रहे। इन आंदोलनों ने सर्वप्रथम भारत की प्राच्य संस्कृति में विद्यमान रूढ़ियों को हटाने की ओर ध्यान दिया। धर्मग्रंथों का विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया, जिससे धार्मिक ज्ञान एकाधिकार से मुक्त हो गया। सामान्य जन प्रामाणिक ज्ञान की प्राप्ति के बाद पुजारियों के पाखंड को समझने लगे। कर्मकांडों के सरलीकरण से पंडित व इमामों की ठेकेदारी समाप्त हो गई। राजा राममोहन राय, एम.जी. राणाडे, दयानंद

टिप्पणी

सरस्वती तथा विवेकानंद द्वारा जाति व्यवस्था पर कड़े प्रहार किए गए। नारायण गुरु द्वारा मानव मात्र के लिए एक धर्म, एक ईश्वर तथा एक जाति का आह्वान किया गया। महिलाओं की स्थिति सुधारने को समग्र समाज सुधार की पूर्व आवश्यकता माना गया। महिलाओं की उन्नति के बिना घरों एवं पुरुषों की उन्नति संभव नहीं थी। सुधारवादियों ने महिलाओं की स्थिति सुधारने के क्रम में पश्चिमीकरण की बजाय आधुनिकीकरण पर ज्यादा जोर दिया। पश्चिमी संस्कृति का अंधानुकरण सुधार आंदोलन का भाग नहीं था।

इन सुधारों को लेकर पहले–पहल विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएं देखी गईं। प्रथम विधवा विवाह को देखने के लिए हजारों की भीड़ मौजूद थी। दूसरी ओर, पाश्चात्य संस्कृति का आक्रमण तीव्र होता जा रहा था। इससे निबटने के लिए पारंपरिक संस्थाओं के पुनर्निर्माण की कोशिशें की जा रही थीं। पाश्चात्य प्रभाव के विरुद्ध संघर्ष ने शुरुआत में प्राचीन संस्कृति की रक्षा के अभियान का रूप ले लिया। भारतीय अपनी संस्कृति के कवच से पाश्चात्य संस्कृति के हमलों का बचाव करने में जुटे थे। भाषा, धर्म, रीति–रिवाज एवं दर्शन पर चारों ओर से आक्रमण किया जा रहा था।

सुधार आंदोलनों ने प्रतिरोधक कार्यवाही करते हुए भारतीय भाषाओं के विकास की कोशिशें आरंभ कीं, शिक्षा की वैकल्पिक प्रणाली की खोज पर बल दिया, भारतीय कला एवं साहित्य के पुनरुत्थान के प्रयास किए, भारतीय वेशभूषा तथा खान–पान पर बल दिया, धर्म रक्षा का आह्वान किया, प्राचीन चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद को पुनः अपनाने का प्रचार किया, पारंपरिक ज्ञान की पुनर्रचना के प्रयत्न किए तथा भारतीय हस्तशिल्प के पुनर्विकास की कोशिशें कीं। प्रतिरोध की इस रणनीति के अंतर्गत तत्वबोधिनी सभा की गतिविधियों के संबंध में राजा राममोहन राय एवं ईसाई मिशनरियों के बीच व्यापक बहस हुई। मद्रास के 70 हजार लोगों ने शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन हेतु सरकार को ज्ञापन सौंपा। स्थानीय रीति–रिवाज अधिनियम के विरोध के पीछे भी संस्कृति की रक्षा का भाव मौजूद था।

इस बचाव अभियान में परंपरावादी व पुनरुत्थानवादी सुधार आंदोलनों ने खुलकर हिस्सा लिया और राष्ट्रीय चेतना के विकास में सहायता दी। किंतु राजनीतिक व सांस्कृतिक संघर्षों के एकीकरण तथा तालमेल के अभाव ने राष्ट्रीय चेतना तो विकसित की किंतु सांस्कृतिक पिछड़ापन पूरी तरह समाप्त नहीं हो सका।

3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (घ)
4. (क)
5. (क)
6. (क)
7. (ख)

8. (क)
9. (क)
10. (ख)

टिप्पणी

3.6 सारांश

भारत में अंग्रेजों के आगमन से परिवर्तन के युग की शुरुआत हुई और वे प्राच्यवादियों द्वारा भारत के पुरातन गौरव को स्थापित कर अपने साम्राज्य को सुरक्षा प्रदान करना चाहते थे। उनका उद्देश्य भारतीयों का हित नहीं था बल्कि अपने हितों की पूर्ति करना था। जब उनके अपने हितों की पूर्ति हो गई तो कालान्तर में उनकी विचारधारा में परिवर्तन आने लगा।

मिशनरियों के माध्यम से धर्मपरिवर्तन एवं शिक्षा के माध्यम से वे भारतीय जनमानस को प्रभावित कर भारतीय समाज की जड़ों तक पहुंचना चाहते थे। उपयोगितावादी विचारधारा साम्राज्यवादी हितों की पोषक थी उसने भारत में निरंकुशतावादी प्रवृत्ति की शुरुआत की।

इन सभी पक्षों का अध्ययन करने के पश्चात यह कहा जा सकता है कि अंग्रेज इतने बड़े विजेता नहीं थे पर फिर भी उन्होंने बहुत आसानी से भारत में साम्राज्यवादी जड़ों को मजबूत कर लिया।

अंग्रेजी शिक्षा के परिणामस्वरूप भारत में राष्ट्रीयता के विकास में सहयोग मिला। भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना जागृत हुई, जिसके कारण राष्ट्रीय आंदोलन तीव्र हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा यूरोप में हुई क्रांतियों का भारतीयों को ज्ञान हुआ। इससे प्रेरणा लेकर भारतीय स्वतंत्रता की लहर पैदा हुई।

भारतीय शिक्षा का आधार सदैव से ही औपनिवेशिक रहा है। उन्होंने हमारी गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को पिछड़ी बताकर हम भारतीयों पर अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए पाश्चात्य शिक्षा लाद दी। समाज में कालान्तर में दो वर्गों का उदय हुआ जो रंग रूप में भारतीय थे परंतु अंग्रेजों के समर्थक थे। पाश्चात्य शिक्षा लंबे समय तक जनसाधारण वर्ग से दूर रही इसका प्रमुख कारण था कि इस वर्ग के साथ अंग्रेजों के हित नहीं जुड़े हुए थे।

पाश्चात्य शिक्षा के संदर्भ में अगर हम बात करें तो प्रश्न यह है कि क्या हमने हमारे आत्मसम्मान को बढ़ाया या सदियों से गौरव रही हमारी सभ्यता, संस्कृति एवं भाषाओं को नष्ट किया।

वर्तमान परिदृश्य में भी यही सिद्धांत लागू होता है। हमारी भारतीय भाषाओं की नींव पर अंग्रेजी का महल खड़ा करने का क्या औचित्य है?

3.7 मुख्य शब्दावली

- **प्रतिस्पर्धा** : प्रतियोगिता, मुकाबला।
- **निरंकुश** : वश में न रहने वाला।

टिप्पणी

- **उत्कर्ष** : उन्नति।
- **भर्त्सना** : निंदा।
- **निषेध** : मना करना, रोक।
- **तादात्म्य** : अभिन्नता।
- **अवनति** : गिरावट।
- **व्यापक** : फैला हुआ।
- **वैधत्य** : विधवापन।

3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. प्राच्यवाद से क्या अभिप्राय है?
2. उपयोगितावाद को संक्षेप में प्रतिपादित कीजिए?
3. इवेजिलिस्ट पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए?
4. विलियम जोंस के कार्यकाल के विषय में बताइए?
5. सैडलर आयोग किससे संबंधित है?
6. हंटर आयोग से क्या अभिप्राय है? संक्षेप में बताइए।
7. सार्जेण्ट आयोग का गठन कब और किसने किया था?
8. हार्टोग आयोग पर प्रकाश डालिए।
9. चार्ल्स वुड डिस्पैच को संक्षिप्त रूप में विवेचित कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. अंग्रेजों की सामाजिक नीतियों एवं परिवर्तन की व्याख्या कीजिए।
2. प्राच्यवादी विचारधारा का विस्तारपूर्वक विश्लेषण कीजिए।
3. उपयोगितावादी विचारधारा किस प्रकार साम्राज्यवादी हितों की पोषक थी? समीक्षा कीजिए।
4. इवेजिलिस्ट विचारधारा का वर्णन कीजिए।
5. भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति की विस्तृत विवेचना कीजिए।
6. मिशनरियों द्वारा शिक्षा के प्रचार के लिए क्या कार्य किए गए?
7. ब्रिटिश शिक्षा नीति के विषय में मैकाले की क्या भूमिका थी?
8. शिक्षा के विकास पर निबंध लिखिए।
9. लॉर्ड कर्जन का शिक्षा के प्रसार में क्या योगदान था।

3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

टिप्पणी

1. Arthur Marwic, The Nature of History, 1973.
2. Bajpayee, S. R., Methods of social survey and research, kitabghar, Kanpur, 1984.
3. Bhargav, K. D., An Introduction to Archives, Director of Archive, Government of India, New Delhi, 1958.
4. Basu, Purnendu, Archives and Records : Why are they ? National Archives of India, New Delhi, 1960.
5. कुमार रवींद्र, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1997.
6. पामदत्त रजनी, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी दिल्ली, 2011.
7. माथुर एल. पी., आधुनिक भारत का इतिहास, जैन पुस्तक मंदिर जयपुर, 1992.
8. महाजन विद्याधर, आधुनिक भारत का इतिहास, एस. चंद्र एंड कंपनी, नई दिल्ली, 1993.
9. श्रीवास्तव, बी. के., इतिहास लेखन : अवधारणा विधाएं एवं साधन, एस. बी. पी. डी. पब्लिशिंग हाऊस, आगरा, 2008.
10. श्रीवास्तव, बी. के., भारतीय इतिहास की विषयवस्तु, एस. बी. पी. डी. पब्लिकेशन, आगरा, 2010.

इकाई 4 आर्थिक संगठन : परिवर्तन एवं निरंतरता

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 ग्रामीण अर्थव्यवस्था
  4.2.1 ब्रिटिश शासन से पहले का आर्थिक संगठन
  4.2.2 ग्रामीण अर्थतंत्र : पूर्वी भारत, मध्य भारत और उत्तरी भारत
  4.2.3 ग्रामीण अर्थतंत्र : पश्चिमी एवं दक्षिण भारत और देशी रियासतें
4.3 शहरी अर्थव्यवस्था
  4.3.1 कारीगर और औद्योगिक उत्पादन
  4.3.2 विऔद्योगिकीकरण पर बहस
  4.3.3 आंतरिक बाजारों एवं शहरी केंद्रों का विकास तथा डाक, टेलीग्राफ व रेल संचार
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

यह सर्वविदित रहा है कि ब्रिटिश–राज से पहले का आर्थिक संगठन कोई ज्यादा सुदृढ़ नहीं था। ब्रिटिश–राज से पहले भारत की शासन–व्यवस्था काफी डांवाडोल स्थिति से गुजर रही थी। उसका प्रभाव देश की अथवा राज की अर्थव्यवस्था पर भी पड़ रहा था। आर्थिक–संगठन भी ऊहापोह की स्थिति में थे। परिणामस्वरूप आर्थिक संगठनों का विघटन हो रहा था। ग्रामीण अर्थव्यवस्था में भी सकारात्मक परिवर्तन देखने को मिल रहे थे। उसमें निरंतर परिवर्तन हो रहे थे। उसका कारण, ग्रामों में कृषि–संबंधी उपकरणों ने अपनी पैठ बनानी शुरू कर दी थी, जिससे किसानों की पैदावार में वृद्धि होनी शुरू हो गई थी। परिणामस्वरूप किसानों की माली हालत में सुधार आया था। इसी के फलस्वरूप कृषि का वाणिज्यीकरण भी शुरू हो गया था। इससे वित्तीय संस्थाओं में उभार आने शुरू हो गए थे। क्योंकि ग्रामीणों ने अपनी कृषि को अधिक उत्पादक बनाने के लिए ऋण लेने शुरू कर दिए थे। ऋण लेने से जहां किसान/ग्रामीण विकास की ओर उन्मुख हुआ था, वहीं उसे ऋण लेने की स्थिति ने चिंता में भी डाल दिया था। कर्जा उतारने की चिंता उसे सताने लगी थी। क्योंकि यह सभी जानते हैं कि किसान का धन तो खुले आकाश के नीचे खुला पड़ा रहता है। ऐसे में उसे प्राकृतिक प्रकोपों के भी झटके लगने की संभावना सताती ही रहती है। इसमें सबसे भयानक स्थिति अकाल पड़ने के समय की रहती है। ऐसी विपदा आने पर ब्रिटिश राज से पूर्व भी प्राकृतिक आपदाओं से निबटने की नीतियां बनाई जाती थीं। इन नीतियों से जब किसान संतुष्ट नहीं हो पाता था तब वह विद्रोही भी बन बैठता था। जिससे राज–व्यवस्था पूरी तरह चरमरा जाती थी। इस प्रकार की समस्याओं से निबटने के लिए तत्कालीन शासन को सिंचाई व्यवस्था पर विशेष ध्यान देना परम आवश्यक बन

जाता था क्योंकि अकाल से निबटने के लिए सिंचाई व्यवस्था विकसित करने की आवश्यकता होती ही थी।

प्रस्तुत इकाई में ग्रामीण अर्थव्यवस्था और शहरी अर्थव्यवस्था का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है।

टिप्पणी

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- ब्रिटिश–राज से पहले के आर्थिक संगठन के विषय में जान पाएंगे;
- ब्रिटिश–राज से पहले के आर्थिक संगठन के विघटनों के कारणों के बारे में जान पाएंगे,
- ग्रामीण अर्थव्यवस्था में आए परिवर्तनों के कारणों को समझ पाएंगे;
- कृषि के वाणिज्यीकरण के विषय में जान पाएंगे;
- वित्तीय संस्थाओं द्वारा ग्रामीणों को दिए जाने वाले ऋण की प्रक्रिया से अवगत हो पाएंगे,
- गांवों में सिंचाई व्यवस्था में आए विकास के विषय में जान पाएंगे;
- किसान–विद्रोहों के कारणों और परिणामों को समझ पाएंगे;
- अकाल–ग्रस्त क्षेत्रों में अपनाई जाने वाली नीतियों को जान पाएंगे।

4.2 ग्रामीण अर्थव्यवस्था

ब्रिटिश शासन से पहले भारत के आर्थिक जन–जीवन और उसकी संरचना के विषय में अनेकानेक संदेह सामने आते हैं। किंतु इतने संदेहों के बीच भी भारत में एक 'स्वर्ण युग' था– यह तो माना ही जा सकता है। शायद उसी के आधार पर भारत को 'सोने की चिड़िया' कहा जाता था।

अठारहवीं सदी की अर्थव्यवस्था की सही–सही जानकारी के विषय में इतिहास–विशेषज्ञों में खासे मतभेद रहे हैं। इतिहास लेखक जदुनाथ सरकार ने अंग्रेजी शासन की बुराइयों की ओर संकेत दिए हैं।

सी.ए. बेली का कथन रहा है कि मुगलकाल में चलने वाली जो इजारेदारी की प्रथा थी वह तत्कालीन कृषि के वाणिज्यीकरण के कारण ही पैदा हुई थी। यह प्रणाली नये क्षेत्रीय भू–सम्पत्तिवान वर्गों के विकास पर ही आधारित थी। ऐसे में इसने कृषि के क्षेत्र में मुद्रा के प्रचलन को काफी बढ़ाया। मुगल प्रशासन ने इन्हें काफी महत्व दिया था। इनका उपभोग प्रशासन ने अपने तरीके से किया था। इतना ही नहीं इस प्रशासन का नौकरशाही ढांचा इन्हीं लोगों की सहायता से राज्य का कृषि अधिशेष किसानों से प्राप्त करता था। परंतु मुगलों के प्रशासन के विघटन के बाद से इन भू–सम्पत्तिवान वर्गों ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना शुरू कर दिया था। ऐसे में ये वर्ग बढ़ती हुई

टिप्पणी

मुद्रा–प्रचलन की व्यवस्था के तहत राज्य से भू–राजस्व प्राप्त करने का (किसानों से) अधिकार प्राप्त कर लेते थे। तत्पश्चात् इस निश्चित की गई राशि को किसानों से वसूलकर अपनी स्थिति मजबूत एवं प्रभावी भी बना लेते थे।

4.2.1 ब्रिटिश शासन से पहले का आर्थिक संगठन

यह तो सर्वविदित है कि ब्रिटिश राज से पूर्व भी कृषि ही सबसे महत्वपूर्ण व्यवसाय था। कृषि उत्पादन से किसानों और ग्राम्यवासियों की सीमित आवश्यकताएं तो पूरी हो जाती थी किंतु, बाहरी दुनिया में होने वाले आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों से ये ग्रामवासी अनभिज्ञ ही रह जाते थे।

इस सन्दर्भ में कुछ विद्वानों का मानना था कि अंग्रेजी राज से पहले भारत पूर्णतया स्वायत्त और स्वावलम्बी ग्रामीण समुदायों का समूह ही था। ये समूह आपस में मिलजुलकर 'वस्तु–विनिमय प्रणाली' (Barter System) से ही अपना जीवन–यापन कर लेते थे। इनके समुदायों के जीवन जीने का सिद्धांत था– 'मोटा खाओ, मोटा पहनो और मोटा सोचो' अर्थात सीमित जीवन–निर्वाह करो। इसे 'पशुवत् जीवन–निर्वाह' का नाम भी दिया जा सकता था। ऐसे में इन ग्राम्य–समुदायों में निजी सम्पत्ति की भी कोई सोच नहीं थी– सो, ऐसे में वर्ग–विभेद भी पैदा नहीं होता था।

यह भी सभी जानते हैं कि उस समय (ब्रिटिश–राज से पूर्व) कृषि पूरी तरह प्रकृति और मानसून पर निर्भर करती थी। सिंचाई व्यवस्था नाममात्र को ही थी। इसमें भी परम्परागत घिसे–पिटे तरीकों को ही अपनाया जाता था। उस पर अकालों का प्रकोप किसान की जान सुखाता रहता था।

वाणिज्य

देखा जाये तो अंग्रेजी–राज से पूर्व भारतीय उद्योग का स्वरूप तथा ढांचा बाजार की संरचना के संग सामाजिक व्यवस्था पर भी आधारित होता था। अंग्रेजी–राज से पहले भारत में मुख्यतया उत्पादन के दो तरीके थे– पहला था स्थानीय उपभोग की वस्तुओं का तथा दूसरा तरीका था दूरस्थ मंडियों के लिए उत्पादन का।

स्थानीय उपभोग के लिए जो उद्योग उत्पादन का कार्य करते थे, वे स्थानीय कच्चे माल की आपूर्ति पर ही निर्भर करते थे। इसीलिए इनके उत्पादन में स्थानीयकरण ही परिलक्षित होता था, जबकि दूरस्थ/विदेश के लिए जो उत्पाद तैयार किए जाते थे, उनके उद्योग उत्पादन के लिए कच्चा माल दूरस्थ क्षेत्रों से भी प्राप्त करते थे। हां, यदि स्थानीय कच्चे माल से काम चल जाता था तो वे स्थानीय कच्चा माल भी ले लेते थे।

तो ऐसे में पहले तरीके का उत्पादन पिछड़े किस्म के आर्थिक संगठन, सरल/देशी औजार तथा तकनीक पर आधारित था अथवा परम्परागत तकनीकि पर निर्भर करता था और श्रम–विभाजन रहित कहा जा सकता था। जबकि बड़े व्यावसायिक केन्द्रों के उत्पादन में कुछ श्रम के विभाजन की बात भी दृष्टिगोचर होती थी। अंग्रेजी राज से पूर्व लोग जातिगत व्यवसाय ही करना पसंद करते थे। इसीलिए विभिन्न दस्तकारी उद्योगों के जाति के आधार पर संघ स्थापित किए गए थे। देखा जाये तो यूरोप की भांति ही

टिप्पणी

भारत में इन उद्योगों में घरेलू उत्पादन के रंग–ढंग ही शुरू कर दिए गए थे। इन उद्योगों के घरेलू उत्पादों में दादनी व्यवस्था ही लागू की जाती थी अर्थात व्यापारी दस्तकारों/शिल्पकारों को पेशगी रकम दे देते थे। फिर ये दस्तकार कच्चे माल को खरीदकर वस्तुएं बनाते थे। उनके निर्माण के कार्य को व्यापारियों के गुमाश्ते अपनी देखरेख में कराते थे। ऐसे में इन दस्तकारों को निर्धारित दामों पर इन व्यापारियों के लिए काम करना होता था। किंतु, इस दौर में अधिकांश दस्तकार स्वतंत्र रूप से कार्य करना ही पसंद करते थे। वे अपनी कला अथवा उत्पाद–कार्य/प्रणाली के ऊपर किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं चाहते थे। जो बिल्कुल भी सक्षम नहीं होते थे, वे ही दस्तकार व्यापारियों के चंगुल में फंसते थे। फिर तो वे 'बंधुआ' बनकर ही रह जाते थे। अतः 'दादनी प्रथा' में दस्तकारों का विश्वास कम ही था। फिर भी दस्तकारों की माली हालत ठीक न होने के कारण सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में 'दादनी–प्रथा/व्यवस्था' तेजी से फैलने लगी थी। इसके भी अनेक कारण थे, जो दस्तकारों को इस प्रथा को अपनाने के लिए मजबूर करते थे। यूरोपीय व्यापारी जगत में भारत के उद्योगों के उत्पाद की मांग का तेजी से बढ़ना इसका प्रमुख कारण बना। इन उत्पादों में भी कपड़े और शोरे की मांग तो बड़ी तेजी से बढ़ रही थी। दस्तकारों और कारीगरों के पास कच्चा माल खरीदकर उत्पाद की आपूर्ति करने के लिए पैसा नहीं होता था। उधर, व्यापारी उनको लालच देकर काम कराना चाहते थे। बस, ऐसी ही परिस्थिति में दस्तकार/कारीगर कच्चे माल के लिए पेशगी रकम/दादनी लेने पर मजबूर हो जाते थे। ऐसे में भी यह प्रथा वहां ज्यादा कारगर सिद्ध होती थी, जहां कच्चा माल महंगा होता था या फिर उसे दूर से मंगाया जाता था। इस बात की पुष्टि करने के लिए उदाहरण है–गुजरात के रेशमी कपड़े के कारीगर तथा बुनकर/जुलाहे कच्चा रेशम बंगाल से प्राप्त किया करते थे। यह दूरी साधारण और व्यक्तिगत कारीगर/दस्तकार के लिए पाटनी मुश्किल होती थी। ऐसे में ही उसे व्यापारी/संघ/संघठन के पास जाना पड़ता था और दादनी–व्यवस्था में फंसना पड़ता था। वैसे भी भारतीय उद्योग तकनीकी लिहाज से बहुत पीछे ही थे। वे केवल श्रम पर निर्भर करते थे। जबकि यूरोप और चीन जैसे देशों में जल अथवा पवन शक्ति के प्रयोग करने वाले तरीके अपनाए जाते थे। इन तरीकों से यहां के कारीगर अनजान थे। 'मेहनत कम और उत्पाद ज्यादा' करने के तौर–तरीकों को वे अपनाने में हिचक अथवा अनभिज्ञता ही अधिक महसूस करते थे।

वैसे यह भी सत्य है, अंग्रेजी शासन से पहले भारत का उद्योग काफी विस्तृत था। यहां बड़ी मात्रा में उत्पादन किया जाता था। यूरोप के व्यापारी भारत से अनेकानेक उत्पादों को ले जाते थे, जैसे– रेशमी और सूती कपड़े, गर्म मसाले, नील आदि। इन वस्तुओं के अतिरिक्त यहां विशेष रूप से काली मिर्च, शोरा आदि का निर्यात भी काफी बड़ी मात्रा में किया जाता था। बनारस, अहमदाबाद, सूरत और बंगाल द्वारा निर्मित रेशम, रेशमी कपड़ों की मांग तो बर्मा तथा मलाया में खूब थी। लाख फारस में भेजा जाता था। भारत देश की चीनी, काबुल, फारस तथा फ्रांस तक निर्यात की जाती थी। इधर भारत जिन जीव–निर्जीव वस्तुओं का आयात करता था, उनमें प्रमुख थीं– सोना, चांदी, तांबा, सीसा, चीनी मिट्टी के बर्तन, कागज, घोड़े और सूखे मेवे आदि। इसी प्रक्रिया के चलते

टिप्पणी

यूरोपीय देशों के साथ–साथ पूर्वी देशों तथा चीन, फारस, अरब, मिश्र के साथ भी भारत का व्यापार खूब फल–फूल रहा था। मध्य एशिया में भी तुर्किस्तान से भारत के शासकों और उनकी सेना के लिए घोड़ों का आयात बड़ी संख्या में किया जाता था। घोड़ों की मांग तो सेना के लिए सदैव बनी ही रहती थी। इस काल में यूरोप के साथ व्यापार करने के लिए फारस की खाड़ी के मार्ग से आवाजाही थी। पुर्तगाल की व्यापारिक गतिविधियों से पूर्व इस व्यापारिक मार्ग पर अरब के व्यापारी पूरी तरह छाए हुए थे। परंतु इनसे पहले पुर्तगालियों का एकाधिकार इस मार्ग पर कायम था। भारत से होने वाले निर्यात का मूल्य आयात किए जाने वाले सामान के कुल मूल्य से अधिक ही था। व्यापारिक संतुलन हमेशा भारत के पक्ष में ही रहता था। इसी कारण भारत अपने माल को बड़ी मात्रा में देकर बाहर से सोना–चांदी प्राप्त करने में सफल हो रहा था। पैसे के इस प्रकार आवागमन से भारत की मुद्रा प्रणाली और वित्तीय व्यवस्था को काफी प्रोत्साहन मिल रहा था।

देखा जाये तो यूरोपियन व्यापारी भारत में 15वीं सदी के अंत और 16वीं सदी के प्रारम्भ में आने शुरू हो गए थे। सबसे पहले मई, वर्ष 1498 में कालीकट में कदम रखने वाला यूरोपवासी वास्को–डि–गामा ही था। यहीं से यूरोपीय–एशियाई व्यापार का सूर्य उदित होना शुरू माना जाता है। शुरू–शुरू में पुर्तगाल के व्यापारियों ने भारत तथा यूरोप के मध्य चल रहे व्यापारिक–जगत पर अपना शिकंजा कसना शुरू किया, क्योंकि पुर्तगालियों ने ही आशा अंतरीप होकर आने वाले समुद्री रास्ते को खोजने में सफलता प्राप्त की थी। उस समय तक पुर्तगाल में कोई शक्तिशाली व्यापारी वर्ग नहीं था। समुद्री–व्यापारिक साम्राज्य की स्थापना पुर्तगाल–सम्राट ने की थी। परिणामस्वरूप उसने समुद्र के पार व्यापारिक गतिविधियों को राजनीतिक और वित्तीय सहायता प्रदान कराने में प्रमुख भूमिका निभायी थी किंतु, 16वीं सदी के अंत तक डच और अंग्रेजी व्यापारिक कंपनियों ने मिलकर भारत में पुर्तगाली व्यापार जगत को चुनौती देनी शुरू कर दी थी। इनकी देखा–देखी फ्रांसीसी, ईस्ट इंडिया कंपनी भी इस मैदान में जोर आजमाने लगी। इस उठा–पटक के कारण इन बड़ी–बड़ी कंपनियों ने व्यापार को अपने नियंत्रण में तो कर लिया था, किंतु कुछ निजी व्यापारी भी इन व्यापारिक गतिविधियों में भागीदार बन गए थे। भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना से पूर्व ये व्यापारिक साम्राज्य उनके द्वारा व्यापार पर अपना अधिकार जमाने में प्रयासरत रहने लगे थे। ऐसा इनकी नौसैनिक सर्वोच्चता के कारण संभव हो पा रहा था। वैसे ये व्यापारिक साम्राज्य केवल बन्दरगाहों तक ही सीमित थे। इनके वित्तीय और मानवीय साधन सीमित थे, जिससे ये देशी शासकों के भौगोलिक साम्राज्य को नष्ट करने में सफल नहीं हो पा रहे थे। ऐसी ही परिस्थिति के बीच उन्होंने देशी व्यापारियों के माल को प्राप्त करने तथा आन्तरिक व्यापार के विकास का सहारा लिया था। अपने इस व्यापार की बदौलत भारत का देशी माल यूरोप में भेजते थे और उसके स्थान पर वहां से सोना लेकर आते थे। इसके चलते यह विदेशी व्यापार भारत में आर्थिक विकास की महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। इसीलिए भारतीय देशी शासक भी इन यूरोपीय गतिविधियों को चलने में बाधा नहीं डाल

टिप्पणी

पा रहे थे। फिर भी नोंक–झोंक तो होती ही रहती थी क्योंकि व्यापार और मंडियों के नियंत्रण को लेकर समस्याएं आती ही रहती थीं।

देखा जाए तो भारत के पूर्वी और पश्चिमी तटों पर अनेक बंदरगाह शहर यूरोपीय कंपनियों की व्यापारिक गतिविधियों के कारण ही विकसित हो पाए थे। अन्यथा तो इनसे पूर्व बंदरगाह समुद्र के उस पार व्यापारिक गतिविधियों और स्थल भीतरी प्रदेश के बीच संबंध स्थापित करने वाले केन्द्र मात्र ही थे, परंतु अब ये यूरोपीय शक्तियों तथा प्रशासन के सत्ता के केन्द्र बनकर उभर चुके थे। यहां व्यापार करते हुए इन्हें डर भी लगा रहता था। ऐसे में ये सतर्क भी रहते थे। इसी के चलते इन यूरोपियन कंपनियों ने सुरक्षा के अच्छे खासे प्रबंध भी कर लिए थे। इसी सुरक्षा प्रबंध ने बाद में भौगोलिक साम्राज्य स्थापित करने में भी मुख्य भूमिका निभाई थी। वैसे भारत में अभी भी ये यूरोपीय समुदाय ज्यादा बड़े तो नहीं थे। अतः यहां के समाज पर इनका कोई सामाजिक प्रभाव नहीं पड़ पाया था। इसीलिए ये लोग व्यापारिक गतिविधियों में भारतीय तरीके ही अपनाते रहे। अपने निर्यात के लिए ये भारतीय समाज की ही सहायता लेते थे क्योंकि ये यह भी जानते थे कि सागर में रहकर मगरमच्छ से बैर करना उनके हित में अच्छा नहीं रहेगा। वह और रोड़े ही अटकाएगा। अतः ये भारतीयों के साथ मिल–जुलकर ही अपने व्यापार को चलाने में कामयाब हो रहे थे। उधर भारत को भी इनके व्यापार से लाभ हो रहा था क्योंकि जो ये सोना–चांदी यूरोप से लाते थे उसके परिणामस्वरूप भारत में मुद्रा का प्रचलन बहुत बढ़ गया था। इसी के चलते मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् पैदा हुई सभी राज्य व्यवस्थाओं ने भू–राजस्व का आकलन मुद्रा के रूप में ही शुरू कर दिया था। इसी कारण से बाजारू विनिमय में बढ़त देखी गई। अतः व्यापार भी विकसित हुआ। इसके परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही भारत के बैंकिंग घरानों ने अपना धंधा तेजी से करना शुरू कर दिया था। इन घरानों में जगत सेठ जैसे अनेक भारतीय धनाढ्य थे।

भारत में बैंकिंग व्यवस्था के द्वारा भुगतान के तरह–तरह के साधनों का आपसी रिश्ता भी बन गया था। वैसे यह व्यवस्था मुगल काल में ही शुरू हो चुकी थी, मंडियों में हुंडियों का प्रचलन तेजी से चल रहा था। बीमा व्यवस्था भी चलन में आ चुकी थी। दक्षिणी भारत, गुजरात तथा बंगाल और बनारस जैसे व्यापारिक क्षेत्रों में सर्राफ, साहूकार, महाजन और बैंकर छाने लगे थे। ये व्यापारिक गतिविधियों में अपनी घुसपैठ पूरी तरह कर चुके थे। ये पैसा देने वाली निश्चित दर पर रुपये, पगोदा आदि का आदान–प्रदान करते थे। इनसे तो व्यापारिक कंपनियां (विदेशी भी) कमीशन के आधार पर यूरोपीय मुद्रा का भारतीय मुद्रा में लेन–देन करती थीं। इन धनाढ्य व्यक्तियों की गतिविधियों ने तो आन्तरिक व्यापार में उछाल ला दिया था। साथ ही इस वर्ग ने तो किसानों तथा राज्य के मध्य व्यापारियों और साहूकारों तथा सूदखाने वाले वर्गों को भी पैदा कर दिया था। बस ये लोग छोटे स्तर पर लेन–देन करते थे जबकि वे बड़े स्तर पर धन का आदान–प्रदान करते थे। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप प्रशासनिक केन्द्रों के कृषि–क्षेत्र के साथ आर्थिक संबंध बनते चले गए। इस कारण से व्यापारी भी अपनी घुसपैठ इन दोनों के बीच बनाने लगे थे। भू–राजस्व और लगान का भुगतान साहूकार

टिप्पणी

और महाजनों के द्वारा हुंडियों से किया जाने लगा था। मराठा राज्य में राजस्व का 1/4 भाग नकदी में वसूला जाता था। इसका भुगतान पूना के साहूकारों द्वारा किया जाता था। वह भी नकदी में न होकर हवाला (हुंडी) जैसे साधन के रूप में किया जाता था। इन सब बदलावों से विदेशी व्यापार की उत्पादन व्यवस्था के साथ–साथ कृषि व्यवसाय भी प्रभावित हो रहा था।

इस समय में वित्त–व्यवस्था करने वालों की व्यापार–जगत में तूती बोल रही थी। गुजरात के नथजी, बंगाल के जगत सेठ और दक्षिण के चेट्टियों के मुद्रा बाजारों, व्यापार और प्रशासन पर बहुत प्रभाव था। ये सोने–चांदी से मुद्रा और सिक्के बनाने से लेकर रुपये की अदला–बदली के अतिरिक्त शासकों तथा यूरोप की कंपनियों को धन देने का काम भी करते थे। एक जानकारी के आधार पर कहा जा सकता है कि 1757 ईसवीं में बंगाल के जगत सेठ ने नवाब के लिए सिक्के ढालने के काम में ही साढ़े तीन लाख रुपये कमीशन लिया था। जगत सेठ ही नवाब के सरकारी खजाने की देखरेख भी करते थे। आयात–निर्यात के काम में भी ये सेठ लोग काफी मुनाफा कमा लेते थे।

अतः कहा जा सकता है कि अंग्रेजी शासन से पहले की भारतीय आर्थिक परिस्थितियों की जटिलता के बाद भी इनमें भिन्नताएं थीं। इनमें अच्छी–खासी गतिशीलता भी थी। ब्रिटिश शासन से पहले के भारतीय आर्थिक संगठन इस दृष्टि से काफी सुदृढ़ थे तथा कारगर सिद्ध होते थे।

भू–राजस्व निर्धारण

जैसा कि सर्वविदित है कि मुगल शासन में भू–राजस्व वसूलने के अनेक तरीके अपनाए जाते थे, किन्तु अंग्रेजी शासन में भू–राजस्व वसूल करने के मुख्य रूप से तीन ही प्रकार थे, जैसे– (1) स्थायी बंदोबस्त (2) रैयतवाड़ी (3) महालवाड़ी। कहीं–कहीं इन प्रकारों में भी परिस्थिति के अनुसार संशोधन कर दिए जाते थे। अंग्रेज शासकों ने अपने शासन काल में काफी सूझ–बूझ से काम लिया था। उनका उद्देश्य मुख्य रूप से किसी न किसी प्रकार से अधिक से अधिक भू–राजस्व वसूलना था। हर क्षेत्र के प्रभावशाली लोगों को किस प्रकार प्रभावित किया जाए, इस ओर भी अंग्रेजी शासकों का पूरा ध्यान रहता था। कृषि उत्पादन कैसे अधिक से अधिक बढ़ाया जाए, इस ओर भी शासन का ध्यान एवं प्रयास निरंतर रहता था। इसका प्रभाव यहां के लोगों पर भी पड़ा। स्थानीय परिस्थितियों से भी अंग्रेजों पर प्रभाव पड़ा। ऐसे में अंग्रेज शासकों के सामने तीन प्रश्न मुंह उठाकर खड़े हो गए, जैसे– (1) भूमि पर मालिकाना अधिकार का, (2) भू–राजस्व वसूलने की जिम्मेदारी किसको सौंपी जाए (3) राज्य को भू–राजस्व का कितना भाग मिले। इन प्रश्नों के हल ढूँढ़ने के लिए अंग्रेजी शासकों को मुगल राज्य की तत्संबंधी व्यवस्थाओं को फिर से देखना पड़ा, उनका अध्ययन करना पड़ा। अध्ययन के उपरांत ब्रिटिश प्रशासन ने स्थानीय स्तर की कृषि की परिस्थिति को भी बदलकर रख दिया। इस कृत्य में उन्हें भू–सम्पत्तिवान लोगों का सहयोग एवं समर्थन भी मिला। अंग्रेजों ने उन असरदार लोगों का समर्थन करके उनको सहयोग प्रदान किया। ऐसी उलट–फेर करके ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन ने मौलिक रूप से अपने आपको सर्वोच्च भू–स्वामी मान लिया।

टिप्पणी

साथ ही उनकी मंशा भी थी कि भू–राजस्व की वसूली को मालिकाना अधिकार में मिला दिया जाए। इस प्रकार वे बिचौलियों को शासन (भू–राजस्व की वसूली करने वाला) और भू–राजस्व देने वालों के मध्य से हटा देना चाहते थे। लेकिन ईस्ट इंडिया कंपनी की ये मंशा शुरू–शुरू में तो सफल नहीं हो पाई थी। इसी कारण से भू–राजस्व वसूलने की प्रथा ज्यादातर पुरानी ही रीति से रही थी। ब्रिटिश राज्य ने पुराने कुलीन वर्ग को कमजोर करने के प्रयास करने शुरू कर दिए थे। फिर भी भू–सम्पत्ति में पुराने शासकों द्वारा दिए जाने वाले पुरस्कारों के अधिकारों को भी पूरी तरह से समाप्त नहीं किया गया था। भू–राजस्व की दरों को सभी क्षेत्रों में वर्ष 1830 से 1840 तक समान रूप से ऊंची ही दरों पर रखा गया था। भू–राजस्व की वसूली इस अवधि में मुद्रा के रूप में ही की जाती थी।

ब्रिटिश काल में (शुरुआती दौर) में भू–स्वामित्व का अधिकार स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर करता था। उदाहरण के लिए, बंगाल तथा गंगा के दोआब में भू–स्वामित्त्व के अधिकार जमींदारों को दिए गए थे। ये जमींदार ब्रिटिश समय से पहले के थे। इनमें भू–राजस्व किसान भी लिए गए थे। इसका कारण था कि अंग्रेजों को बंगाल के जमींदारों में इंग्लैंड के भू–स्वामियों की छवि दृष्टिगोचर होती थी। इसीलिए जमींदारी व्यवस्था का प्रसिद्ध उदाहरण 1793 ईसवी में बंगाल में शुरू किया गया। इसी व्यवस्था को कुछ समय बाद तटीय मद्रास और उत्तर–पश्चिमी प्रांत में भी शुरू किया गया। जमींदारी व्यवस्था के क्षेत्र बहुत बड़ी मात्रा में लगान देने वाले थे। जमींदारी–व्यवस्था की एक शर्त यह भी रखी गई थी कि जमींदारों को मालिकाना अधिकार तभी तक दिया जाएगा जब तक वे राज्य को भू–राजस्व की एक निश्चित राशि प्रदान करते रहेंगे। मराठा राज्य में मिरासदारों को भूमि के स्वामित्व के अधिकार प्रदान किए गए थे। ये मिरासदार ग्रामीण भूमि में हिस्सा रखते थे। अंग्रेजी राज के दौर में ग्रामीण अर्थव्यवस्था में निरंतर परिवर्तन के चलते वर्ष 1799–1800 की अवधि में दक्षिणी क्षेत्र के पोलीगरो का दमन करके यहां किसानों को भूमि का मालिकाना अधिकार दिया गया था। वस्तुतः पोलीगर–वर्ग उत्तर भारत के जमींदारों जैसा ही वर्ग था। कम्पनी प्रशासकों ने कृषक की भू–राजस्व को आकलन करने की पुरानी रीति को ही जारी रखा। इस रीति के अंतर्गत भू–राजस्व का आकलन समूचे ग्राम के लिए ही किया जाता था, इस रीति के तहत किसानों से अपने हिस्से आपस में बांटने की आशा की जाती थी। इसके बाद, अंग्रेजी शासन ने अपनी मंशा भी चलानी शुरू कर दी। इसके अनुसार कृषक के व्यक्तिगत हिस्से को मापने और आकलन करने का कार्य अंग्रेजी शासन ने स्वतः ही प्रारम्भ कर दिया। पंजाब के दोआब और रोहेलखण्ड क्षेत्रों में ताल्लुकदारों का दमन कर दिया गया। तत्पश्चात् पहले तो ग्राम–समुदाय को एक इकाई की मान्यता दी गई। फिर उसे भू–सम्पत्ति का स्वामी घोषित कर दिया गया। इन क्षेत्रों की कृषि असुरक्षित थी तथा जनसंख्या भी कम ही थी। इसीलिए यहां अधिक भू–राजस्व नहीं लिया जा सकता था। 1830 ईसवीं के दशक में इन क्षेत्रों में भी ग्राम्य भूमियों से भू–राजस्व के निजी हिस्सों

टिप्पणी

का आकलन अंग्रेजी प्रशासन ने प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार की घोषणा से इन क्षेत्रों के हिस्से और अधिकार बाजार में बिक्री के योग्य बन गए थे। इसीलिए इनका भी वाणिज्यीकरण शुरू हो गया था।

बंगाल के राज्य का भू–राजस्व निर्धारित कर दिया गया था। महालवाड़ी और रैयबवाड़ी के भू–राजस्व के आकलन को 20 अथवा 30 वर्षों बाद बदला जा सकता था। भू–राजस्व के आकलन में संशोधन किया जा सकता था। इस आकलन में तरह–तरह के तरीके अपनाएं जाते थे। उदाहरण के रूप में– कहीं पर फसल के दाम का आकलन करके भू–राजस्व निर्धारित किया जाता था। उसमें से भी उत्पादन की लागत कम कर दी जाती थी, इसके पश्चात् जो शुद्ध बचत होती थी, उसी का एक भाग भू–राजस्व के रूप में वसूला जाता था। इस प्रक्रिया के झंझट में न पड़ कर कभी–कभी पहले से किए गए आकलन के आधार पर भू–राजस्व की राशि को उपज के मूल्य के अनुसार अधिक या कम करके भी नये सिरे से भू–राजस्व निर्धारित कर देते थे।

सच पूछा जाए तो ब्रिटिश राज्य का उद्देश्य भारत की ग्राम्य अर्थव्यवस्था तथा भू–राजस्व प्रणाली में परिवर्तन लाने का था। इसका जो प्रमुख कारण था वह यह था कि कृषि करों से मिलने अथवा होने वाली आमद की अतिरिक्त राशि से ही ईस्ट इंडिया कंपनी भारत से किए जाने वाले निर्यातित माल का भुगतान करती थी। कम्पनी के प्रशासकों का यह भी मानना था कि भू–राजस्व की वसूली करने की प्रथा ही ब्रिटिश राज्य तथा हिन्दुस्तानी समाज का केन्द्र बिन्दु थी। साथ ही ईस्ट इंडिया कंपनी का यह भी मानना था कि भारत की प्रजा उनका मूल्यांकन उनके द्वारा दी जाने वाली सुरक्षा तथा सततता के आधार पर विशेष रूप से करेगी। अतः कंपनी को भारतीय जनता को पूर्ण विश्वास दिलाना होगा कि वे उनकी सुरक्षा तथा सततता के लिए वचनबद्ध होकर ही इंडिया में आए हैं। दूसरी तरफ कंपनी जमींदारों से अपने मधुर रिश्ते कायम करने के लिए भी सदैव ही प्रयत्नशील रहती थी। प्रायः जमींदार बंगाल के नवाबों के समय के ग्रामों के प्रभावशाली तथा धनाढ्य लोग ही ज्यादा थे। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि यूरोपीय अर्थशास्त्र के आधुनिक युग का एक नामी–गिरामी घराना था। इस घराने को फिजियोक्रेट कहते थे। यह घराना भू–राजस्व के क्षेत्र अथवा निर्धारण में अपनी खास भूमिका निभा रहा था। इसके वैचारिक मत ब्रिटिश सरकार को मान्य भी होते थे। ब्रिटिश अधिकारी गणों की यह सोच भी थी कि इस धनी तथा प्रभावी वर्ग से ही वे भारतीय समाज के सामाजिक ढांचे को सततता और स्थायित्व देने में सफलता पा सकते हैं। इसका दूसरा कारण यह भी था कि अंग्रेजी शासन इंडिया में नया–नया कायम हुआ था। उसके पास यहां के अनुसार अनुभव की कमी थी। साथ ही, अभी, इस क्षेत्र के अनुसार (भू–राजस्व निर्धारण) उनके पास नौकरशाही भी अनुभवी नहीं थी। तो ऐसे में किसी वर्ग पर तो निर्भर रहना ही था। यह उनकी विवशता थी। ऐसे में उन्हें इस सारे कार्य के लिए जमींदार–वर्ग ही सर्वाधिक उपयुक्त लगा। इस अनुभवहीनता का झटका अंग्रेजी प्रशासन को लग चुका था। इसलिए शुरू–शुरू में उन्होंने भू–राजस्व की मांग बढ़ा–चढ़ाकर रखी थी। एक अनुमान के अनुसार यह मांग 1757 ईसवीं से पहले के आकलनों से 20 प्रतिशत अधिक थी।

टिप्पणी

ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा साम्राज्य स्थापित करते ही भू–राजस्व प्रणाली को सुचारू–रूप से संगठित करने की समस्या आ धमकी। ऐसा पूर्वी भारत में सर्वप्रथम हुआ था। वर्ष 1759–60 में कंपनी को 24 परगना, मिदनापुर और चटगांव की जमींदारी मिली थी। किंतु, 1759 ईसवीं में बक्सर की जीत के पश्चात् कंपनी को समूचे बंगाल का भू–राजस्व और कर प्राप्त करने का अधिकार मिल गया था। ऐसे में कंपनी के सामने यह असमंजस की स्थिति आ खड़ी हुई थी कि उनके लिए भू–राजस्व का कौन–सा कारगर और सर्वहितकारी तरीका अपनाया जाए। इसी असमंजस की स्थिति में वर्ष 1764–72 के मध्य भू–राजस्व की वसूली करने का अधिकार सर्वाधिक ऊंची बोली लगाने वाले व्यक्तियों को दिया गया था। लेकिन, यह तरीका घातक सिद्ध हुआ। इसका परिणाम वर्ष 1769–70 में बंगाल में एक भयंकर अकाल के रूप में सामने आया। इस दौर में भू–राजस्व के मामलों को निबटाने के लिए जिलों में रिवेन्यु सुपरवाइजर्स (राजस्व पर्यवेक्षक) नियुक्त किए गए थे। पटना तथा मुर्शिदाबाद में रिवेन्यु काउंसिलों को स्थापित किया गया था। वर्ष 1772 से 1777 की अवधि में इसी के चलते नई इजारेदारी प्रणाली शुरू करने वाले अंग्रेज थे– वॉरेन हेस्टिंग्स। इस प्रणाली के तहत वसूली बोली के आधार पर ही की जाती थी। इजारेदारों को 5 वर्ष का पट्टा दे दिया जाता था। इस बोली में वॉरेन ने पुराने जमींदारों और भू–राजस्व कृषकों को प्राथमिकता दी थी। जमा अथवा संकलित किए जाने वाले भू–राजस्व की राशि को इसमें बढ़ा दिया गया था। इस प्रकार की 'बोली–प्रणाली' में पहले की भारतीय व्यवस्थाएं भी समाहित कर दी गई थीं। परन्तु कंपनी ने इसमें एक अपना नियम भी यह जोड़ दिया था कि भू–राजस्व अधिक से अधिक कैसे वसूला जाए। एक आंकड़े के अनुसार 1777 ईसवीं में लगभग 2.30 करोड़ रुपये का भू–राजस्व बकाया था। इजारा पाने के लिए दरबार–खर्च के नाम पर रिश्वत भी चलने लगी थी। इसके चलते वॉरेन हेस्टिंग्स ने बहुत पैसा हथिया लिया था।

स्थायी बंदोबस्त

वस्तुतः भू–राजस्व प्रणाली में चल रहे प्रारम्भिक प्रयोगों से कंपनी को अत्यधिक हानि हुई थी। कंपनी को काफी उतार–चढ़ावों का सामना करना पड़ा। इनसे कृषि की स्थिति भी डांवाडोल स्थिति में पहुंच गई थी। ऐसा देखते हुए काश्तकारों ने स्थायी बंदोबस्त का रास्ता अपनाया। इसके चलते 1789 ईसवीं में जमींदारों के साथ लॉर्ड कॉर्नवालिस ने एक दस वर्षीय व्यवस्था का बंदोबस्त किया था। इस बंदोबस्त को 1793 ईसवीं में स्थायी रूप दे दिया गया था। इसके चलते ही 1765–93 ईसवीं के मध्य के प्रयोगों से कंपनी ने काफी कुछ सीखा था। उदाहरणार्थ, उन्होंने पता लगाया कि कृषि–उत्पादन की मात्रा कितनी है, उसका मूल्य कितना है। साथ ही, कृषि–व्यवस्था को नष्ट किए बिना ही कितना भू–राजस्व किसानों से / उत्पादन कर्त्ताओं से उगाहा जा सकता है। साथ ही उन्होंने यह भी जाना कि भू–राजस्व निर्धारण तथा वसूली में होने वाले व्यय में कैसे कमी लायी जा सकती है। अतः ऐसे ही दौर में वित्त और आय को स्थायित्व प्रदान करने के लिए 1793 ईसवीं में कॉर्नवालिस ने निर्णय लिया, जिसके आधार पर निर्णय हुआ कि भू–राजस्व संकलन करने का दायित्व जमींदारों को दिया जाए। कितना भू–राजस्व

टिप्पणी

उन्हें काश्तकारों से लेना है, इसका निर्णय भी जमींदारों पर ही छोड़ दिया गया था। परंतु यदि जमींदार समय रहते ही संकलित अथवा निर्धारित भू–राजस्व राजकीय कोष में नहीं जमा कर पाते थे तो उनकी जमींदारी समाप्त करने का भी प्रावधान बना दिया गया। उनके स्थान पर दूसरे जमींदार बना दिए जाएं तथा उन्हें भू–राजस्व वसूलने का दायित्व भी दे दिया जाए। भू–राजस्व का निर्धारण बार–बार परिवर्तित न किया जाए– इसको ध्यान में रखते हुए यह प्रस्ताव भी रखा गया कि वर्ष 1789–90 के दौर में जो भू–राजस्व निर्धारण था वह एक अंदाज से काश्तकारों/किसानों द्वारा जमींदारों को दिए जा रहे लगान का 9/10वां हिस्सा था, तो उसे ही अब भी स्थायी तौर से भू–राजस्व के रूप में निर्धारित कर दिया जाए।

अब इस स्थायी बंदोबस्त से जो समस्या पैदा हो गई थी, वह थी, अगर कृषि में सुधार या विस्तार से भी जमींदार को खेतों अथवा जमींदारी से प्राप्त किए गए लगान में बढ़ोतरी होती थी अथवा वैसे भी फायदा होता था तो ऐसे में जमींदार अपने किसानों से अधिक भू–राजस्व वसूल सकता था। ऐसे में जमींदार को ही लाभ मिलता था। राज्य इस लाभ से वंचित रह जाता था। इस स्थिति (आमद) को ही अनुपार्जित आमद कहा जा सकता है। जमींदार तो ताक लगाए बैठे रहते थे। कृषि में सुधार या विकास के आधार पर वे लगान संकलन करते थे। ऐसे में राज्य उन्हें स्थायी बंदोबस्त के तहत कुछ नहीं कह सकता था। वैसे भी जमींदार लोग ज्यादातर प्रवासी थे। इसी के चलते जमींदारों की अनुपार्जित आमद में तेजी से बढ़ोतरी होती जा रही थी। उधर 'स्थायी बंदोबस्त' प्रथा चलाने के पीछे शासन की राजनीतिक, वित्तीय तथा प्रशासनिक आवश्यकताएं भी कारण रही थीं। ब्रिटिश प्रशासन को आशा ही नहीं विश्वास भी था कि भू–राजस्व वसूलने वाला जमींदार–वर्ग उनके प्रति वफादार रहेगा तथा विश्वासपात्र मित्र की तरह व्यवहार करेगा। प्रशासन के इस विश्वास पर जमींदार–वर्ग खरा भी उतरा। इससे ब्रिटिश प्रशासन की वित्तीय स्थिति में स्थायित्व भी आया। कंपनी योग्य तथा कुशल व्यक्तियों को ही जमींदार बनाती थी। भू–राजस्व उगाहने का दायित्व सौंपती थी। साथ ही उन्हें निर्देश भी देती थी कि उन्हें निर्धारित किए गए दिन ही सूर्य छिपने से पहले–पहले भू–राजस्व की पूरी राशि सरकारी कोष में जमा करानी होगी। ऐसे निर्देश के तहत जो जमींदार भू–राजस्व वसूलने में कामयाब नहीं हो पाते थे, उन्हें भू–राजस्व जमा करने के लिए अपनी जमींदारी तक बेचनी पड़ जाती थी। अधिकतर जमींदार शहरों में रहते थे। वहां उनके रहन–सहन भी शहरी और खर्चीले होते थे। ऐसे में वे राजस्व को जमा करने की स्थिति में कमी पड़ने पर धन साहूकार और महाजनों से लेने पर भी मजबूर हो जाते थे।

वर्ष 1769–70 में जो बंगाल में भीषण अकाल पड़ा था उससे कृषि की दशा भी बिगड़ गई थी। परिणामस्वरूप मंदी का दौर आ गया था। भू–राजस्व की वसूली में भी काफी कमी आ गई थी। इससे भू–राजस्व वसूलने वाली जमींदारियां भी कमजोर पड़ गई थीं। अतः ये जमींदारियां विशेष रूप से व्यावसायिक और साहूकार–महाजनों द्वारा बेची गई। इस प्रकार ये महाजन/साहूकार राज्य और काश्तकार के बीच बिचौलिए की भूमिका निभाने लगे थे।

टिप्पणी

कृषि के सुधार में स्थायी बंदोबस्त पूरी तरह असफल रहा था, क्योंकि पुरानी जागीरें और जमींदारियां बिखर कर रह गई थीं। जमीन और सत्ता नये और छोटे–छोटे भू–स्वामियों के हाथों में जाने लगी थी। यह कभी प्रशासनिक सेवा, व्यापार और व्यावसायिक सेवा करने के फलस्वरूप उभरा हुआ कुलीन वर्ग था। ऐसे में कुछ लोगों ने कृषि को सुधारने के यत्न भी किए। इसके तहत उन्होंने नील की खेती में अपनी पूंजी लगाई। ज्यादा मूल्य वाली नकदी फसलों को पैदा करने में भी इन वर्गों ने पूंजी लगाई। ये फसलें विशेषरूप से थी– गन्ना, शहतूत, नील, अफीम आदि। इन नकदी फसलों से इन वर्गों को लाभ भी हुआ। उस समय ये ही वर्ग भू–सम्पत्ति, पूंजी तथा श्रम पर अंकुश बनाए हुए थे, ये सब कुछ स्थायी–बंदोबस्त के चलते हुआ। इस संबंध में विद्वान रजत दत्ता का भी मानना है कि बंगाल के अधिकांश क्षेत्रों में 18वीं सदी में छोटे किसान तथा काश्तकार ही मुख्य रूप से प्रकाश में आए हुए थे।

स्थायी बंदोबस्त के अन्तर्गत बहुत से भूमिहीन अथवा छोटे किसान बटाईदारों में परिवर्तित हो गए थे। ये जमींदारों की जमीनों पर 50 प्रतिशत की फसल पर काम करते थे। इस पर भी जमींदारों की ही बनी हुई थी। वे मनमाने तरीकों से काश्तकारों पर लगान बढ़ा सकते थे। उन्हें जमीन से बेदखल भी कर सकते थे। काश्तकारों को उत्पादन–संबंधी निर्णय लेने का कोई अधिकार नहीं होता था। इतना ही नहीं जमींदारों ने लगान के अतिरिक्त भी अन्य बहुत–से गैर–कानूनी सामंती कर भी काश्तकारों से वसूलने प्रारम्भ कर दिए थे। इन सामंती करों को 'अबवाव' कहा जाता था। इस मनमाने व्यवहार में कंपनी ने 1799 ईसवीं में और भी अधिकार जमींदारों को दे दिये थे। इसके आधार पर वे काश्तकारों को कैद में भी रख सकते थे। इतना ही नहीं लगान की बकाया रकम वसूलने के लिए जमींदार काश्तकारों के पशुओं की नीलामी भी कर सकते थे। यद्यपि वर्ष 1812 के रेजोलूशन 'पांच' में इस प्रकार के अधिकारों पर अंकुश भी लगा दिया गया था। इतने पर भी काश्तकार भयभीत तो रहते ही थे। शोषण और उत्पीड़न इस स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था का पर्याय बन चुका था।

स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था के आधार पर किए जा रहे अन्याय एवं अत्याचारों की भनक ब्रिटिश शासकों को भी लग गई थी। उसका जो प्रमुख कारण था, वह था– कंपनी को भू–राजस्व तो मिलने लगा था किन्तु इसमें बढ़ोतरी की गुंजाइश बिल्कुल भी नहीं छोड़ी गई थी जिसका लाभ जमींदारों, उनके एजेंटों तथा इजारेदारों को मिलता रहता था। राज्य और किसान को किसी भी स्थिति में कुछ भी लाभ नहीं मिल पाता था।

रैयतवाड़ी व्यवस्था

19वीं सदी के प्रारम्भ में रिकार्डो इंग्लैंड के सर्वश्रेष्ठ विख्यात् अर्थशास्त्री थे। इस अर्थशास्त्री का प्रभाव रैयतवाड़ी व्यवस्था के विकास में प्रशंसनीय रहा। थॉमस मालथस वहां अर्थशास्त्र के अध्यापक थे। उन्होंने रिकार्डो के विचार और सिद्धांतों की जानकारी एलिफेन्स्टन तथा एडवर्ड स्ट्रेची जैसे तत्कालीन अधिकारियों को दी।

रिकार्डो ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमि' में लिखा है– जमींदार लोग जमीन के लिए जो लगान काश्तकारों से वसूलते हैं, वह

टिप्पणी

कुदरत की नियामत भूमि पर उनके एकाधिकार की वजह से उन्हें मिलता है। उनका पैदावार–प्रक्रिया में किसी भी प्रकार का योगदान नहीं रहता। जबकि मजदूर अपना श्रम लगाता है। पूंजीपति अपनी पूंजी लगाता है, उद्यमी–व्यवसायी उद्योग संगठन में सक्रिय हिस्सेदारी करता है, जबकि उसकी भूमिका नगण्य रहती है। परजीवी जैसे केवल भूमि के स्वामित्व के कारण अनर्जित आय का उपभोग करता है। जमींदार का लगान, इस सिद्धांत के आधार पर अधिक उपजाऊ भूमियों की उत्पादकता का अंतर मात्र है। अतः जमींदारों की आमद पर कर लगाने से उत्पादन तथा आर्थिक प्रगति में कोई भी बाधा नहीं आएगी। इस दृष्टि से प्रशासन को भू–राजस्व के रूप में लगान का अधिक से अधिक भाग स्वयं ही प्राप्त कर लेना चाहिए। जमींदारों की बिचौलिएपन वाली भूमिका को समाप्त कर देना चाहिए। अब प्रश्न ऐसे में यह भी उठ खड़ा होता है कि जमींदारी व्यवस्था समाप्त करने की स्थिति में किसान से लगान किस हिसाब से लिया जाये। इसके लिए उपाय निकाला गया तथा अंग्रेज अधिकारियों ने नियम बनाया कि कृषि उत्पाद के कुल मूल्य में से किसान की मजदूरी तथा उत्पादन में होने वाले व्यय को निकालकर जो बचे, उसका एक अंश लगान के तौर पर लिया जा सकता है। इस अंश के नाम पर कितना लगान लिया जाये इस पर भी अधिकारीगण एकमत नहीं हो पाए थे।

रिकार्डो ने रैयतवाड़ी व्यवस्था के संबंध में विशेष योगदान दिया था, उसके विकास और संचालन में खासी भूमिका निभायी थी। वहीं यह भी सच है कि मद्रास प्रांत में रैयतवाड़ी व्यवस्था को जन्म देने में थॉमस मुनरो की भी विशेष भूमिका रही थी। इसके बाद एलफिन्सटन और एलेक्जेन्डर रीड ने बंबई जैसे प्रांत में इस व्यवस्था का संचालन किया था। मद्रास के उत्तरी क्षेत्र में जमींदारी व्यवस्था को ही जारी रखा गया था। दोनों अधिकारियों कैप्टन एलेक्जेन्डर रोड तथा थॉमस मुनरो ने कुछ इलाकों को छोड़कर शेष भाग में रैयतवाड़ी बंदोबस्त लागू करने की कोशिश की थी। प्रयोग करने के रूप में परम्परागत गांव के स्तर के पटेल तथा अमीलदार जैसे नुमाइंदों का वर्चस्व कायम रखते हुए कन्नड़ प्रदेश, कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदी के मध्य के दोआब आदि क्षेत्रों में किसानों से भू–राजस्व को सीधे ही तौर पर वसूलने के प्रयास किए गए थे। कंपनी प्रशासन ने शुरू–शुरू में कर्नाटक के पोलीगरों के अधिकार समाप्त करने के प्रयास किए। इस पर उन्होंने विद्रोह छेड़ दिया। परिणामस्वरूप 1803 ईसवीं में दक्षिणी कर्नाटक में जमींदारी प्रथा ही कायम रही।

बंदोबस्त के स्वरूप को लेकर, वर्ष 1807 से 1820 के बीच रिवेन्यु अधिकारियों ने कई बैठकें की। उसमें मुद्दे रखे गए कि बंगाल के स्थायी बंदोबस्त का यहां विस्तार किया जाए अथवा किसान से ही सीधा संपर्क साधा जाए। इस पर मुनरो का कहना था कि यहां स्थायी रैयतवाड़ी व्यवस्था ही होनी चाहिए। साथ ही मुनरो ने भू–राजस्व के हिस्से को लेकर भी प्रस्ताव रखा और कहा कि मौजूदा कुल फसल के दाम के 45 प्रतिशत भाग की बजाय 33.75 प्रतिशत हिस्सा ही भू–राजस्व निर्धारित किया जाए। साथ ही, वे चाहते थे कि भू–राजस्व की वसूली के लिए गांव की व्यवस्था को

टिप्पणी

जस–का–तस ही रखा जाए, उसके चलते पूर्ववत् ही पटेल, कारकून आदि को भी रखे रहने दिया जाए। इधर ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशकों ने मद्रास में अस्थायी रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू करने के आदेश दे दिए थे। इसके तहत किसान अथवा रैयत को भू–स्वामी मानते हुए 20–30 वर्षों के लिए भू–राजस्व का अस्थायी निर्धारण कर दिया जाए। इस निर्धारित अवधि के बाद नए भू–राजस्व का निर्धारण किया जाए।

परिणामस्वरूप मुनरो ने वर्ष 1820–27 के मध्य मद्रास का गर्वनर रहते हुए इस बंदोबस्त–व्यवस्था को चलाया। जिसके अनुसार भू–राजस्व की देय राशि फसल के कुल मूल्य का मोटे तौर पर 1/3 भाग मुद्रा के रूप में एक मुश्त वसूलने का नियम बनाया गया। इस राशि को सरकार के कलेक्टरों द्वारा संकलित कराने का प्रावधान भी बनाया गया। व्यावहारिक दृष्टि से यह कार्य सुगम नहीं था। इससे प्रशासनिक ढांचे पर दबाव बढ़ा। भू–राजस्व को सीधे ही वसूलने का अर्थ सीधे ही किसान के खेतों की माप–तौल करना था। उसके लगान का वैज्ञानिक निर्धारण करना था। इसके साथ ही भूमि के लगान मूल्य के बाजार–भाव की जानकारी भी इन लोगों को होनी आवश्यक थी। यह जानकारी वहां से भी प्राप्त करनी थी, जहां इस तरह के बाजार स्थापित भी नहीं थे। इस सारी प्रक्रिया को करते हुए रिकार्डो के लगान के सिद्धांत को चलाने में अनेकानेक सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा। इन सब परेशानियों और व्यवधानों को देखते हुए सन् 1840 के बाद बंबई में इस रैयतवाड़ी बंदोबस्त की नीति को सैद्धांतिक आधार पर न चलाकर मौजूदा परिस्थितियों को देखते हुए ही लागू किया गया। हां, इस व्यवस्था को अपने ढंग से वैज्ञानिक आधार देने के उद्देश्य से कुल फसल/पैदावार के हिस्से को भू–राजस्व के रूप में उगाहने की बजाय/कुल उपज का 50 प्रतिशत निर्धारित करने की बात रखी गई। ऐसी व्यवस्था चार्ल्स वुड ने सन् 1850 के बाद की। इसमें व्यावहारिक रूप से व्यवधान सामने आए, क्योंकि इस व्यवस्था को लागू करने के लिए अनेक अलग–अलग गणनाओं तथा आकलनों की आवश्यकता महसूस की जाती थी। उदाहरणार्थ– किसी क्षेत्र में कृषि की उपज कितनी है, अलग–अलग उपजों/उत्पादों का दाम क्या है, बाजार दर के हिसाब से कितना है, किसान की लागत (बीज, बुवाई, जुताई तथा पशु–पालन आदि का खर्चा) मजदूरी के रूप में किसान परिवार के कितने सदस्यों के कितने दिन के उत्पादन को लेकर श्रम माना जाए, किसान के बैल आदि के मूल्य का कितना आकलन किया जाए, ये सब बातें व्यावहारिक रूप से देखनी होती थीं। एक बात और भी इस संदर्भ में निश्चित थी कि भू–राजस्व का निर्धारण विशेष रूप से 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में बहुत ऊंची दरों पर किया गया था। इन सारी समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए बंबई प्रांत में इलफिंस्टन ने रैयतवाड़ी व्यवस्था को लागू करने में अपनी छाप सकारात्मक रूप से छोड़ी। उसने ग्राम समुदाय की पुरानी पद्धति से ही भू–राजस्व वसूलने पर बल दिया। पटेल तथा कुलकर्णियों को मराठा भू–राजस्व से, ब्रिटिश कलेक्टरों की सहायता के लिए जस–की–तस स्थिति में ही बने रहने दिया गया, क्योंकि ये लोग ही मराठा भू–राजस्व

प्रशासन के ग्राम्य आधार थे। इनको किसानों से भू–राजस्व वसूलने की सारी रीति नीतियां आती थी।

टिप्पणी

सन् 1824 से 1828 की अवधि में लागू किए गए प्रिंग्ले के बंदोबस्त में कृषि–उपज और उसके उत्पादन के खर्चों के अनुमान बहुत ही गलत साबित हुए थे। उन्होंने तो भू–राजस्व की दर शुद्ध उपज का 55 प्रतिशत रखी थी। यह दर अत्यधिक ऊंची थी। इसी को दृष्टिगत करते हुए सन् 1835 के पश्चात् जब विंगेट ने फिर से इस क्षेत्र का बंदोबस्त किया तब वह उत्पादन तथा खर्चे के आधार पर न होकर अलग–अलग जमीनों की उत्पादन–क्षमता तथा पुराने बंदोबस्त में राजस्व की दरों को ध्यान में रखते हुए किया गया था। इन भू–राजस्व अधिकारी महोदय विंगेट ने किसानों की जमीनों का उत्पादकता के आधार पर संबंधित मूल्यांकन (Relative Valuation) किया, तब भूमि का 'आनों' के रूप में वर्गीकरण किया, इस व्यवस्था को 'आनेवारी मूल्यांकन' कहा गया। उदाहरण के लिए किसी क्षेत्र की सर्वाधिक उपज वाली जमीन को सोलह आने की भूमि का नाम दिया गया। इसी प्रकार बाकी भूमि के भी निर्धारण कर उसके उपजाऊ होने के आधार पर निर्धारित किए गए। राजस्व वसूली तथा कीमतों के पुराने आंकड़ों के अनुसार पूरे के पूरे क्षेत्र का भू–राजस्व आंका जाता था। तत्पश्चात् भू–राजस्व की कुल मात्रा को अलग–अलग किसानों के बीच उनके पास किस वर्ग की कितनी जमीन उपजाऊ है, के आधार पर बांट दिया जाता था। सन् 1840 के बाद बढ़ी हुई राजस्व–दरों में गिरावट लायी गई थी। लेकिन भू–राजस्व में लायी गई इस उदार नीति के बाद भी कृषि की व्यवस्था के लिए रैयतवाड़ी व्यवस्था भी विनाशकारी ही सिद्ध हुई। ब्रिटिश प्रशासन ने गांव की रैयत की खेती करने वाले किसानों के स्थान पर उन्हें भू–स्वामी मान लिया था। इसी आधार पर उनका बंदोबस्त भी किया था। इनमें बहुत से स्थानीय प्रभावशाली कुलीन भी थे। उनके पास ब्रिटिश के पहले शासकों से भू–राजस्व वसूलने के इकरारनामें (अधिकार पत्र) थे। वस्तुतः स्थानीय प्रशासनिक तंत्र में ये पटेल और कुलकर्णी के रूप में काम करने वाले क्रमशः कानून व्यवस्था की देखरेख करने वाले ग्राम–प्रमुख तथा भूमि–अधिकारों का लेखा–जोखा (रिकार्ड) रखने वाले अधिकारी के रूप में कार्य करते थे। ये प्रशासन का ही हिस्सा माने जाते थे। ये वैतनिक होते थे। वेतन के अतिरिक्त भी इन्हें कर–रहित इनाम बतौर जमीनें भी दी जाती थीं। परंतु ब्रिटिश राज स्थापित होने से इनके अधिकारों में गिरावट आई। सामाजिक और आर्थिक अधिकारों में कमी लाई गई। कंपनी प्रशासन ने भारी–भरकम भू–राजस्व अदायगी का बोझ इन पर डाल दिया। ऐसा सन् 1820 से 1830 के दशकों में ज्यादा किया गया। उस समय कृषि उपज के मूल्य गिरावट के दौर से गुजर रहे थे। उस समय भू–स्वामी रैयत तथा ऊंचे अधिकारों से लैस रैयत का भी बाजार तंत्र और बाजारों पर कोई प्रभावी अंकुश नहीं चल पा रहा था।

1.3.3 महालवाड़ी व्यवस्था

उत्तर प्रदेश के ज्यादातर भागों में पंजाब तथा मध्य प्रदेश के क्षेत्रों में भी भू–राजस्व की नयी पद्धति चलायी जा रही थी। अंग्रेज अधिकारियों का मानना था कि इन क्षेत्रों में

टिप्पणी

ग्राम्य समुदायों की आर्थिक–राजनीतिक जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। यहां कबीलाई आधार पर अथवा भाईचारे के आधार पर गांव की जमीनों का अधिकार व्यक्तिगत नहीं होता था अपितु सामूहिक होता था। कबीले के लोगों को अलग–अलग जमीनें मिली हुई थीं। उनकी उन जमीनों में हिस्से भी होते थे। इसलिए इस महालवाड़ी व्यवस्था में भू–राजस्व के लिए समझौता अथवा इकरारनामा जमींदारों के साथ न करके पूरे गांव के साथ किया जाता था। सारा का सारा 'महाल' (यह भू–राजस्व आंकने की इकाई फारसी भाषा में थी) अथवा गांव मिले जुले तरीके से, गांव का प्रत्येक जमींदार और काश्तकार अलग–अलग ढंग से भी भू–राजस्व के भुगतान के लिए जिम्मेदार माना जाता था। इसे ही 'महालवाड़ी भूमि बंदोबस्त' कहा जाता था। इस बंदोबस्त/व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए ग्राम के प्रभावशाली जमींदार को नम्बरदार का रुतबा प्रदान किया जाता था। ग्राम के लिए निर्धारित पूरी भू–राजस्व की राशि को प्रत्येक किसान में उसकी जुताई के आकार (पैमाइश) के हिसाब से वितरित कर दिया जाता था। किसान और जमींदार अपनी जमीन पर भूमि का मालिकाना अधिकार तब तक बनाए रखता था, जब तक कि वह समय पर अपने निर्धारित भू–राजस्व की राशि का भुगतान सरकारी कोष को करता रहे। इस व्यवस्था के अंतर्गत भी भू–राजस्व का आकलन स्थायी रूप से नहीं किया जाता था। लगभग 30 वर्ष की अवधि के बाद इलाकों के अनुसार भू–राजस्व की दरें नए तरीके से निर्धारित की जाती थीं।

इस महालवाड़ी भूमि बंदोबस्त पद्धति में भी भू–राजस्व की राशि का निर्धारण अंग्रेज सर्वेक्षण तथा बंदोबस्त अधिकतर गांव के नम्बरदार तथा ग्रामीण पंचायत की सहायता लेकर ही करते थे। उस समय भी पंचायतों का अपना महत्व था। इस व्यवस्था में 'बिचौलिया' जैसा कोई रुतबा नहीं था। किन्तु येन–केन–प्रकारेण नम्बरदार तथा मुखिया ही इस बिचौलिए की भूमिका का निर्वाह किसी न किसी रूप में लुके–छिपे करते ही रहते थे। सरकारी अधिकार भी इन्हें प्राप्त थे।

इन अधिकारों का ये गलत उपयोग भी करने लगते थे। गांव की जमीनों पर अधिकार या कब्जा कर लेते थे। होल्ट मैकेन्जी ने सिफारिश की थी कि उत्तर भारत में बन्दोबस्त ग्राम–समुदाय के साथ किया जाए। सन् 1822 के रेजोलूशन के सातवें नियम के आधार पर भू–राजस्व के रूप में वसूल की जाने वाली राशि को भूमि के लगान मूल्य का 80 प्रतिशत से भी अधिक निर्धारित किया गया। बाद में इसे घटाकर 65–66 प्रतिशत कर दिया गया था। जबकि डलहौजी के समय में जमींदारों के लाभ को बढ़ाते हुए सन् 1855 में भू–राजस्व को लगान मूल्य का 50 प्रतिशत निर्धारित करने का प्रस्ताव रखा गया था। इस व्यवस्था को 'सहारनपुर–नियम' नाम दिया गया था। सन् 1833 से 1849 के दौर में बड़े स्तर पर जमीन की माप–तौल की गई, उसके आधार पर फसलों की उत्पादकता, कृषि योग्य भूमि के 'मेप' बनाकर और उनकी पैमाइश करके, रॉबर्ट मर्टीनस बर्ड तथा जेम्स थॉमसन ने महालवाड़ी बंदोबस्त की व्यावहारिक रूपरेखा तैयार की थी। इसे जिलों के अनुसार सर्वेक्षण तथा बंदोबस्त का कार्य रूप माना गया था।

टिप्पणी

अतः विशेष तकनीकी परिवर्तनों के बगैर भी बंदोबस्त व्यवस्था के वित्तीय तथा कानूनी तंत्र ने भारतीय कृषि जगत में एक संरचनात्मक परिवर्तन लाकर प्रशासन तथा ग्राम के सामने स्थापित कर दिया था।

कृषि का वाणिज्यीकरण

देखा जाए तो 19वीं सदी के प्रारम्भ से ही भारतीय कृषि जगत में एक नई प्रवृत्ति उभर कर सामने आ रही थी। 19वीं सदी के मध्य से इस प्रवृत्ति ने अपना आकार लेना शुरू कर दिया था। फिर इस आकार ने तेजी दिखाई। विकास मार्ग पर चली इसी प्रवृत्ति को 'कृषि के वाणिज्यीकरण' के नाम से जाना–पहचाना जाता है।

19वीं सदी के शुरू में भारत नील, अफीम, कपास आदि फसलों का उत्पादन करता था। तत्पश्चात् इन उत्पादों का निर्यात किया जाता था। ये शुरुआती फसलें ऐसी थीं जो कम मात्रा में निर्यात की जाती थीं किन्तु इनसे लाभ काफी होता था। इन कृषि उत्पादों का निर्यात, निर्यात की ओर रुचि रखने वाले यूरोपीय उद्यम तथा राज्य के द्वारा प्राप्त समर्थन से संभव था। परंतु इन फसलों ने किसानों को बहुत ही सीमित लाभ के अवसर दिए। यह बात शत–प्रतिशत नील और अफीम के विषय में सही उतरती है। इन दोनों फसलों के खरीददार किसानों पर दबाव डालकर इन उत्पादों की खेती कराते थे। तत्पश्चात् बलपूर्वक इन फसलों को खरीदकर मंडियों में ले जाकर एक प्रकार से अपना वर्चस्व स्थापित करने में सफल भी हो चुके थे। इसके उलट देखें तो 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में फैलते हुए विदेशी निर्यात बाजार के कारण जिन कृषि उत्पादों को प्रोत्साहित किया गया, उनकी जड़ें किसान–अर्थव्यवस्था में ही थीं। एक समय वह भी आया जब नील और अफीम के निर्यात में कमी आई। इनके स्थान पर जूट, खाद्यान्न फसलों (गेहूँ, चावल), तिलहन, मूंगफली, चाय आदि ने ले ली। चाय का उत्पादन तो यूरोप की पूंजी द्वारा विकसित वर्गों पर निर्भर करता था। शेष नकदी फसलें किसान अपने फसल चक्र के जरिये पैदा करते थे। देखने में आता है कि सन् 1880 तक आते–आते बंगाल का कच्चा जूट, बंबई प्रेजीडेंसी की कपास और मद्रास की मूंगफली, कृषि–उत्पादन मुख्य नकदी फसलों का स्थान ले चुकी थीं।

कृषि के वाणिज्यीकरण का सीधा मतलब उस स्थिति से लिया जाता है जिसमें किसान स्वयं अपने परिवार के उपभोग की बजाय फसलों का उत्पादन बाजार और मंडियों को दृष्टि में रखते हुए करता है। सच भी यही है कि किसान उस फसल का उत्पादन ज्यादा करता था जिसे बेचकर वह नकदी ले सके, क्योंकि उस मुद्रा से वह कोई भी कार्य कर सकता था। कोई भी वस्तु खरीद सकता था। इसके लिए जरूरी था कि किसान को जमीन का गणित और उसकी जानकारी भलीभांति हो। कौन–सी फसल किस समय में कितनी लाभदायक सिद्ध होगी तथा उसके लिए जमीन कैसी होनी चाहिए, इन सब बातों की जानकारी उसे पूरी तरह होनी चाहिए।

अंग्रेजी शासन में भू–राजस्व में भारी बढ़ोतरी के कारण भारत में कृषि का उद्देश्य ही बदल गया था। इस समय किसान बाजार के हिसाब से फसलें तैयार करने लगा

टिप्पणी

था। इसी कारण से अलग–अलग नकदी फसलों का उत्पादन भी बढ़ गया था। निर्यात बाजार में कृषि–उत्पादों का आना इस वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया को प्रदर्शित करता है। निर्वाह के लिए खेती की जगह 'व्यवसायी' फसलों को अपनाने का काम वस्तुतः उन क्षेत्रों में अधिक हुआ, जहां निर्यात के उद्देश्य से फसलें तैयार की जाती थीं। उदाहरण के लिए, बर्मा का चावल का क्षेत्र, पंजाब का गेहूं का क्षेत्र, पूर्वी बंगाल का जूट का क्षेत्र और दक्कन का कपास का इलाका आदि। इस दौर में फसलों के ढांचे में भी परिवर्तन आने लगा था। खाद्यान्नों के बदले नकदी क्षेत्रों के अंतर्गत आने वाले कृषि के क्षेत्रफल में वृद्धि होने लगी थी। सन् 1913–1914 में भारत उत्पादित कपास का 56 प्रतिशत, अलसी का 73 प्रतिशत, कच्चे जूट का 51 प्रतिशत और मूंगफली का 35 प्रतिशत, गेहूं की उपज का 14 प्रतिशत भाग निर्यात करता था। परन्तु कृषि के वाणिज्यीकरण का मतलब केवल कृषि उपज को बाजार में बेचने से नहीं, अपितु कृषि में निवेश के सभी घटक जैसे– भूमि, श्रम, बीज, ऋण तथा उधार लिया जाने वाला पैसा– सभी कुछ बाजार में बिक्री के लिए आने लगे, तब उत्पादन के इन घटकों की गतिशीलता में और भी वृद्धि होती है।

ब्रिटिश काल में, भारत में बर्मा को छोड़कर सन् 1901 से 1937 के बीच खाद्यान्नों का उत्पादन (चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मक्का आदि) करने वाले इलाकों का क्षेत्रफल केवल 16 प्रतिशत ही बढ़ा था जबकि इसकी तुलना में नकदी फसलों की खेती में आने वाले क्षेत्रफल का विकास बहुत तीव्रता से हुआ था। उदाहरण के लिए, ईख की 69 प्रतिशत, रूई की 59 प्रतिशत और सरसों की 36 प्रतिशत वृद्धि दर्ज होती थी। हां पटसन की खेती का क्षेत्रफल नहीं बढ़ पाया था। यह सन् 1900–1937 के बीच केवल 14 प्रतिशत ही बढ़ा था। इसका कारण यह था कि पटसन की खेती के लिए बंगाल के कुछ जिलों की जमीन तथा जलवायु ही ज्यादा उपयुक्त थी।

कृषि का वाणिज्यीकरण ग्रामीण अर्थव्यवस्था के बहुत–से पहलुओं पर अपना प्रभाव डालता है; जैसे– कृषि के संबंधों पर, ग्रामीण वर्ग की संरचना पर और मंडियों की संरचना आदि पर भी। यह भी कटु सत्य है कि भारत की कृषि–व्यवस्था पर वाणिज्यीकरण के प्रभाव अनेक प्रकार से अनेक ढंगों से पड़े। वाणिज्यीकरण ने कृषि क्षेत्र में क्षेत्रीय विशिष्टीकरण को जन्म दिया। पहले किसान अपने जीवन–यापन के लिए खेती करता था किन्तु अब वाणिज्यीकरण की बदौलत बाजार को दृष्टि में रखकर फसलें उगाने लगा था। वह अपने उत्पादों को मंडियों में बेचकर नकदी प्राप्त कर अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगा था। इस प्रकार से किसान कृषि–उत्पादों का खरीददार तथा बेचने वाला दोनों ही बन बैठा था। इस प्रक्रिया से अपेक्षाकृत साहूकार–महाजनों को अधिक लाभ हुआ था। निर्यात व्यापार से व्यापारियों को ही अधिक लाभ पहुंचा। किसान के भू–राजस्व की भारी मांग, साहूकार–महाजन की ब्याज की रकम तथा मंडियों के आढ़तियों–बिचौलियों को फसल का एक हिस्सा देने के पश्चात् उनके पास पर्याप्त साधन नहीं थे, जिससे कि वे कृषि में कोई बड़ा तकनीकी सुधार करके अपनी फसल की उत्पादकता को बढ़ा पाते क्योंकि अधिकांश किसान छोटे

टिप्पणी

थे। वे पूरी तरह असुरक्षित जीवनयापन करते थे। ये छोटे किसान अधिक उत्पाद पैदा करने की स्थिति में स्वयं को नहीं पाते थे। ऐसे ही वातारण में एक तरफ तीव्रता से कृषि के उत्पादों की मांग मंडियों में, बाजारों में बढ़ रही थी। उधर कृषि–उत्पादकता सीमित दौर से गुजर रही थी।

कृषि वाणिज्यीकरण ने खाद्यान्नों की अपेक्षा नकदी फसलों के उत्पादन के चलन को बढ़ावा दिया था। इसीलिए देश में, खाद्यान्नों की आपूर्ति पर विपरीत प्रभाव देखने को मिला। चूंकि खाद्यान्नों का उत्पादन जनसंख्या के अनुपात में नहीं बढ़ पा रहा था। उधर खाद्यान्नों का निर्यात तेजी से किया जा रहा था। इस सबसे प्रति–व्यक्ति खाद्यान्न में कमी आ गई थी जो कि स्वाभाविक भी थी। वाणिज्यीकरण ने खाद्यान्नों के गोदामों की देशी पद्धतियों को भी दरकिनार कर दिया था। इसका परिणाम अकालों की मार के रूप में देखने को मिला। खाद्यान्नों की जगह नकदी फसलों के उत्पादन के कारण भारत का कृषक वर्ग अन्तर्राष्ट्रीय मंडियों से जुड़ चुका था। इस कार्य में यातायात तथा संचार के साधनों के अतिरिक्त, आधुनिक बंदरगाह, शहरों के विकास, विनिमय बैंकों तथा आयात–निर्यात कंपनियों और उनके दलाल, भारत के साहूकार–महाजन फल का कार्य कर रहे थे। इससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में होने वाले परिवर्तनों से भारतीय किसान प्रभावित हुआ। सन् 1929 की विश्व स्तर की महान आर्थिक मंदी ने भारतीय कृषि व्यवस्था को कमजोर बना दिया था। परिणामस्वरूप सन् 1860 से जो निर्यात पर आधारित कृषि–उत्पादों का निर्यात विकसित हो रहा था, उसने पूंजी तथा श्रम बाजारों को भी तहस–नहस कर दिया था। मंदी की मार से बहुत से किसानों के मरने की नौबत तक आ गई थी। ऐसे में बहुत से किसानों ने गुजारा करने के लिए अपने गहने तक बेचने शुरू कर दिए थे। धनी किसानों ने नकदी फसलों का उत्पादन पूरी तरह से बंद नहीं किया था फिर भी वे कम श्रम का उपभोग करने वाली फसलों के उत्पादन पर ध्यान केन्द्रित करने लगे थे। इसके लिए वे बाहर से मजदूरों को लेने के बजाय परिवार के सदस्यों को ही उत्पादन–कार्य में लगाकर अपने पैसे की बचत भी करने लगे थे। इससे मजदूर काश्त–वर्ग और भी गरीबी की कगार पर आकर खड़ा हो गया था।

फिर भी कृषि–जगत में वाणिज्यीकरण के प्रभाव को पूरी तरह नकारात्मक स्थिति प्रदान करने वाला नहीं माना जा सकता। इससे सभी वर्गों के कृषकों को समान रूप से लाभ नहीं मिल पाया था। नई नकदी फसलों को तैयार करने में किसानों को नये बीज, अधिक सिंचाई तथा श्रम और खाद आदि के बंदोबस्त के लिए अधिक पैसा खर्च करना पड़ता था जबकि छोटे किसान साधनहीन ही अधिक थे। ऐसे में ये फसल संबंधी साधन जुटाने के लिए महाजन–साहूकारों की शरण में जाते थे। ऋण लेकर फसल पैदा करने में कामयाब होते थे। फसल बेचकर उस ऋण से निजात पाते थे। उधर साधन सम्पन्न काश्तकारों की भूमि का आकार बड़ा होता था। इसीलिए वे ज्यादा उत्पाद मंडियों में लाकर बेचकर अधिक लाभ उठा लेते थे। ऐसे में बढ़ते हुए कृषि वाणिज्यीकरण का प्रभाव मंडियों तथा बाजारों की संरचनाओं में भी देखने को मिला। यहां बिचौलियों और आढ़तियों को किसानों और मंडी के बीच देखा गया। इनमें बिचौलियों के एजेंट भी बिक्री और खरीददारी के बीच अपना लाभ बनाने से नहीं चूकते थे। ऐसे में किसान को जो

टिप्पणी

लाभ वाणिज्यीकरण से होता था, उसे या तो सरकार बड़े भू–राजस्व के रूप में ले लेती थी अथवा लगान–भोगी वर्ग अथवा साहूकार–महाजन अथवा फिर मंडियों के आढ़ती, बिचौलिए और उनके एजेंट हड़प लेते थे। उसका जो खास कारण था वह किसान का निर्धन, अशिक्षित तथा सीधा–साधा और उठा–पटक की नीति न जानने वाला अधिक रहता था। जबकि सरकार, महाजन–साहूकार, मंडी के आढ़तिए, बिचौलिए, उनके एजेंट नए–नए तरीके, हथकंडे तथा लुका–छिपी नीतियां चलाकर किसानों को हानि ही पहुंचाते रहते थे। इसीलिए भारतीय किसान इनके चंगुल में फंसकर उठ ही नहीं पाता था जबकि उत्पादक तो आम किसान ही होता था। इसे एक विडम्बना ही कहा जाएगा। फिर भी समय के साथ–साथ सब कुछ बदलता रहता था। सन् 1860 से लेकर सन् 1930 के बीच अनेक क्षेत्रों में नकदी फसलों के उत्पादन ने किसानों के लिए लाभ के अवसर भी प्रदान किए। उदाहरण के लिए, दक्कन तथा खानदेश में कपास के उत्पादन, बंगाल में जूट तथा मद्रास में मूंगफली के उत्पादन से किसानों के वर्गों को भी लाभ हुए। लेकिन ये लाभ सीमित क्षेत्रों के सीमित किसानों तक ही सीमित थे। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में बाजार–केन्द्रित लाभ के अवसरों के अतिरिक्त ऐसे संस्थामूलक पहलू भी थे, जिनसे ग्रामीण अर्थव्यवस्था, अल्प–उपभोग और अल्प–निवेश की ओर जाती थी। ऐसे में ब्रिटिश सरकार ने अपनी भू–राजस्व काश्तकारी कानून नीति तथा अन्य आर्थिक नीतियों के माध्यम से एक शक्तिशाली धनी, समृद्ध कुलीन वर्ग को खड़ा कर दिया था, जिसे कृषि–वाणिज्यीकरण के अवसर भी आए दिन मिलते ही रहते थे। वैसे, कृषि–उत्पादन में वाणिज्य का विकसित होना किसानों के लिए भी महत्व रखता था। उधर विद्वान लोग इस तरफ भी अपना ध्यान लगाने में लगे हुए थे कि वाणिज्यीकरण के अतिरिक्त किस सीमा तक भारतीय कृषि में पूंजीवादी तत्त्वों का ध्यान केन्द्रित हो। ऐसे में, ऐसा भी हुआ जब कृषि–वाणिज्य के प्रसार को ही कृषि में पूंजीवादी परिवर्तन का लक्षण स्वीकार कर लिया गया था।

19वीं सदी में छोटे–छोटे किसान वाणिज्यीकरण के कारण ही नकदी फसलें पैदाकर उसका लाभ उठाने लगे थे। वह बात दूसरी है कि इससे बड़े किसान भी लाभान्वित हो रहे थे। वैसे भी सम्पन्न किसानों की आमद में तो मुनाफा, लगान तथा सूद सभी कुछ मिले होते थे। समस्या तो आम किसान को सुखमय जीवन प्रदान करने की ही थी। इन छोटे किसानों को आए दिन की प्राकृतिक आपदाओं का भी सामना करना पड़ता था। वाणिज्यीकरण से आम किसान को जो थोड़ा–बहुत लाभ प्राप्त हुआ था– उससे उसने थोड़ी राहत की सांस लेनी शुरू की ही थी कि तभी 19वीं सदी के मध्य आए भयंकर अकालों के परिणामों ने उसकी खुशी और राहत को लील लिया था। कृषि के वाणिज्यीकरण के प्रभाव भी वर्ग, क्षेत्र, समय आदि पर अधिक निर्भर करते थे।

सन् 1875 से 1900 के मध्य अंग्रेजी अधिकारियों में से कुछ का मानना था कि किसान इतने ऋणग्रस्त हो चुके हैं कि गांवों में बाहरी क्षेत्रों से आए साहूकारों को अपनी जमीनें बेचने पर मजबूर हो रहे हैं। इस प्रकार वे अपनी जमीन पर अपना नियंत्रण तथा मालिकाना अधिकार भी गंवाते जा रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप ये किसान काश्तकार,

टिप्पणी

मजदूर बनने पर मजबूर होते जा रहे हैं, अंग्रेज अधिकारियों की ऐसी सोच के पीछे सन् 1875 के पूना और अहमदाबाद जिलों के किसान–विद्रोहों का प्रभाव अधिक रहा था। इस विद्रोह के चलते कई मौतें हुई थीं। मारवाड़ी तथा गुजराती (मराठी ब्राह्मण तथा साहूकार को छोड़कर) साहूकारों की संपत्तियां तथा बहीखाते आग की भेंट कर दिए गए थे। इससे अंग्रेजी हुकूमत हिल गई थी। इस किसानी विद्रोह का मुख्य कारण साहूकारों की बढ़ती आर्थिक, राजनीतिक सत्ता अधिक थी। उधर किसानों को अपनी जमीनें खो देने का डर भी था। इसी की तर्ज पर ब्रिटिश सरकार को डर था कि कहीं पंजाब में भी ऐसा विद्रोह न हो जाए क्योंकि वहां किसान–विद्रोह होने की संभावना के कारण लगभग पुणे और अहमदाबाद एक जैसे ही थे अर्थात ग्रामों में साहूकारों द्वारा सामान्य किसान वर्ग की जमीनें हड़पने की कुचालें चलना। इसी कारण 19वीं सदी के आखिरी दौर में उत्तरी और पश्चिमी भारत में साहूकारों की दमन नीति को लेकर किसानों में काफी उबाल आया हुआ था। उधर साहूकार–महाजन 'स्वार्थ' में पड़कर आंखों पर पट्टी बांधे हुए थे। परिणाम 'छत्तीस का आंकड़ा' तो बनना ही था।

देखा जाए तो सन् 1860 के पश्चात् कृषि वाणिज्यीकरण का द्वितीय तथा सर्वाधिक सशक्त दौर प्रारम्भ हुआ। इस दौर में सरकार ने भू–राजस्व की दरें घटा दी थीं। नकदी फसलें केवल भू–राजस्व चुकाने के उद्देश्य से ही नहीं उत्पन्न की जा रही थी अपितु, अपनी आवश्यकताएं पूरी करने के उद्देश्य से भी सामान्य कृषक–वर्ग उत्पन्न कर रहा था। यहां यह भी माना जा सकता है कि धनी अथवा सम्पन्न किसानों ने सामान्य किसानों को भी नकदी फसलें उगाने के लिए येन–केन–प्रकारेण तैयार कर लिया था। इस कृत्य से दोनों को ही लाभ मिलने लगा था। सामान्य किसान वर्ग को कम लाभ तथा धनी या सम्पन्न–किसानों को अधिक लाभ जो कि स्वाभाविक भी था।

19वीं सदी में जो ग्रामीण क्षेत्र में परिवर्तन देखने को मिला वह था, साहूकारों–महाजनों में एक अलग ही विचारों के वर्ग का पैदा होना। अलग सोच–विचार रखने वाला वर्ग। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में देश के अलग–अलग क्षेत्रों में मारवाड़ी, बनिये, चोट्टियार तथा खत्री नामक व्यापारी–महाजन ही ऋणदाताओं के रूप में विख्यात थे। ये अपने अन्य व्यापार कर्मों में भी लगे हुए थे। इनके पास जमीनें भी काफी थीं। लेकिन बाद में इन वर्गों का रुझान भूमि की तरफ से हटने लगा। भूमि के प्रति उदासीनता भी इन लोगों के हृदयों में जगह कर गई थी। ऐसे में धनी या सम्पन्न किसानों ने ही अब किसानों को ऋण देने शुरू कर दिए थे। ऐसा कृषि–वाणिज्यीकरण के कारण ही संभव हो पाया था। इससे प्रभावी किसानों की स्थिति सुदृढ़ हो गई थी। इन्हीं किसानों का वर्चस्व ग्रामों में दिखाई देने लगा था। वैसे एक दृष्टि डालें तो पाते हैं कि साहूकारों ने कभी भी भूमि का 10 प्रतिशत से अधिक भाग अपने कब्जे में नहीं लिया था। तो ऐसे में कहा जा सकता है कि ये साहूकार वर्ग कृषि–व्यवस्था की जड़ता के लिए जिम्मेदार नहीं माने जा सकते थे। धनी किसान जो वाणिज्यीकरण की बदौलत ही सुदृढ़ स्थिति में आ गए थे, वे ही अब छोटे किसानों को कर्ज देने लगे थे। इस परिवर्तन से नकदी फसलों के उत्पादन में भी बढ़त हो चली थी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में व्यापारिक फसलों का उत्पादन, साख, असमानता और विकास आदि का आपस में बहुत गहरा जुड़ाव था और

ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि सभी एक–दूसरे पर निर्भर जो थे। इसीलिए एक दूसरे के प्रति प्रेमभाव भी रहता था। इसे समझौता और समझदारी का नाम भी दिया जा सकता है।

टिप्पणी

ब्रिटिश शासन से पहले के आर्थिक संगठन का विघटन

ब्रिटिश शासन के आने पर जो आर्थिक, राजनीतिक बदलाव विभिन्न क्षेत्रों में किए गए थे, उनके परिणामस्वरूप जहां कुछ सकारात्मक परिवर्तन देखने को मिले, वहीं नकारात्मक परिवर्तन भी दिखलाई दिए। इन परिवर्तनों से अनेक क्षेत्रों में विकास भी हुए। मुख्यतया विद्वानों की दृष्टि में ये मिले–जुले परिवर्तन थे। अर्थव्यवस्था के विनाशकारी प्रभाव विकासकारी प्रभावों की तुलना में अधिक क्रियाशील सिद्ध हुए थे। इसके अतिरिक्त जो परिवर्तन हुए थे, उनसे विनाशकारी तथा विकासकारी दोनों ही पक्ष ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों के ही परिणाम रहे थे।

ब्रिटिश के औपनिवेशिक शासन ने मुद्रा के रूप में भूमि–कर अथवा भू–राजस्व की मांग में अत्यधिक बढ़ोतरी कर दी थी। इसका परिणाम यह निकला कि किसान निर्यात के लिए खाद्यान्नों के स्थान पर वाणिज्यिक फसलें पैदा करने के लिए विवश रहने लगे। वैसे, देखा जाए तो किसानों के लिए नगदी फसलों का उत्पादन भी लाभकारी सिद्ध नहीं हुआ था। ऐसे में किसान फिर कर्जों के नीचे दबने लगे थे। बहुत से किसानों की नौबत अपनी जमीनें साहूकारों को बेचने तक की आ गई थी। ऐसा करके वे मात्र श्रमिक ही बनकर रह गए थे। इधर ब्रिटिश राज की नीतियों के कारण साहूकार–महाजन वर्ग और भी शक्तिशाली रूप धारण कर चुका था। देखते ही देखते यह वर्ग कृषि की जड़ता का मूल कारण बनता चला गया। यह तो रहा कृषि का हाल। उधर बड़े स्तर पर ब्रिटिश उद्योगों के सामानों का आयात किए जाने से भारत के परम्परागत शिल्प उद्योग भी बुरी तरह प्रभावित हो गए थे। परिणामतः स्थानीय अच्छे–खासे शिल्पकार, कारीगर भी श्रमिक बनकर रह गए थे। उधर बहुत से किसान घाटे पर खेती–कार्य करने को भी विवश हो गए थे।

यह भी सत्य है कि जहां अंग्रेजी राज से पूर्व भारतवासी परम्परागत घिसा–पिटा जीवन–यापन कर रहे थे, धंधे कर रहे थे, उनसे लाभ तो कम होता था किन्तु उन पर श्रम अधिक करना पड़ता था। ऐसा मशीनों के अभाव में होता था। किन्तु, अंग्रेजी राज के स्थापित होने से भारत में भी आधुनिकता की हवा चली। जिससे निर्माण कार्य में तेजी आई। मशीनी उद्योगों का जन्म हुआ। परिणामतः सार्वजनिक भवन निर्माण के कार्य शुरू हो गए। रेलवे आदि भी अंग्रेजी राज के ही आधुनिक परिणाम सिद्ध हुए। इससे खेती के समाप्त होने से पीड़ित तथा स्थानीय उद्योगों के ठप्प हो जाने से कारीगर शिल्पकार जो बेरोजगारी से जूझ रहे थे, उन्हें भी रोजगार के अवसर मिले। यह आधुनिक उद्योगों के कारण ही संभव हो पाया था। फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो ये नवीन विकास भी भारतीय हितों की तुलना में औपनिवेशिक स्वार्थों को अधिक पूरा करने में जुटे थे। बड़े उद्योगों के क्षेत्रों में भी अंग्रेजी शासन ने भारत के पूंजीपतियों पर गैर–बराबरी वाली प्रतियोगिता ही डाल दी।

टिप्पणी

अंग्रेजी सरकार ने स्वयं भारत से इंग्लैंड को एकतरफा धन तथा संसाधनों की निकासी में सहायता करनी शुरू कर दी थी। विदेशी पूंजी से भारत में आमद के सीमित साधनों का ही विकास हुआ था। इसके द्वारा स्थापित किए गए उद्योगों का देशी अर्थव्यवस्था से कोई संबंध नहीं था।

ब्रिटिश राज से पूर्व की ग्रामीण अर्थव्यवस्था पूर्णतः आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय की अर्थव्यवस्था थी। वस्तुतः यह किसानों तथा कारीगरों के जीवन–निर्वाह के लिए किए जाने वाले उत्पादन की अर्थव्यवस्था थी। इसमें खेतिहर मजदूर–वर्ग नहीं था। प्रारम्भिक वामपक्षी इतिहास लेखकों का मानना था कि अंग्रेजी–राज ने इस ग्रामीण अर्थव्यवस्था को तहस–नहस करके रख दिया था। लेकिन, दूसरे विद्वानों का यह भी मत था कि इस प्रकार की आत्म–निर्भर ग्रामीण समुदाय की व्यवस्था कल्पना भर ही थी। वास्तव में देखा जाए तो उस समय ग्रामीण इलाकों में भी बड़ी मात्रा में व्यापार और आदान–प्रदान का चलन था। हां, उसका रूप स्वरूप दूसरा था। कुछ विद्वान अब ऐसा भी मानने लगे हैं कि ब्रिटिश–राज से पहले के आर्थिक संगठन में व्यापार, उद्योग तथा शहरीकरण के गतिशील और क्रियाशील पहलू खास भूमिका अदा करते थे। उदाहरणार्थ ब्रिटिश–राज से पहले यूरोप में भारतीय सूती कपड़ों का निर्यात तीव्रता से विकसित हुआ था। फलस्वरूप इस व्यापार ने भारत में लम्बी दूरी के खाद्यान्नों के व्यापार और कपास के व्यापार के रास्ते साफ कर दिए थे। इससे यह बात निकलकर आती है कि वास्तव में ब्रिटिश शासन ने भारत के मौजूदा आर्थिक संगठन को नष्ट किया था क्योंकि यह तो सर्वविदित ही है कि भारतीय आर्थिक ढांचे में आर्थिक जड़ता तो थी ही नहीं। अपितु यह तो व्यापारिक तथा औद्योगिक क्रान्ति के अत्यन्त समीप था। यहां यह भी कहना गलत न होगा कि उपनिवेशवाद तथा उसकी आर्थिक नीतियों ने तो भारत के स्वतंत्र तथा स्वावलम्बी मार्ग में अड़चनें ही पैदा की थीं। अवरोधक का ही कार्य किया था।

यह सत्य भी दो राय नहीं रखता कि कुछ क्षेत्रों में 18वीं सदी में आर्थिक जीवन का तेजी से वाणिज्यीकरण तो हुआ था, परंतु ऐसे में यह कहना कठिन है कि यदि उपनिवेशवाद नहीं होता तो आर्थिक विकास किस गति से होता। ऐसे में जहां तक 19वीं सदी के परिप्रेक्ष्य में देखें तो आंकड़ों के आधार पर कह सकते हैं कि विघटन के स्थान पर सकारात्मक आर्थिक विकास अधिक क्षेत्रों में हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास, ताकतवर राज्य तथा आधुनिक यातायात एवं संचार, इनमें से रेलवे का अति तीव्रता से विकास ब्रिटिश शासन की उपलब्धि थी।

एक मत यह भी रहा है कि ब्रिटिश–राज के कारण ही किसान बड़े स्तर पर भूमिहीन होकर खेतिहर मजदूर ही बनकर रह गए थे। यह भी मत अटपटा सा ही लगता है क्योंकि जैसा कि सर्वविदित है कि अंग्रेजी–राज से पूर्व भी ग्राम्य जगत में परम्परागत भूमि और भू–स्वामी वर्गों से जुड़े हुए बहुत बड़ी संख्या में खेतिहर मजदूर होते थे। सच पूछा जाए तो अंग्रेजी–राज की बदौलत तो इस वर्ग को परम्परागत–दासता से कुछ सीमा तक मुक्ति दिलाने में ही सहायता मिली थी। आर्थिक विकास तथा जड़ता का वस्तुतः कोई सर्वव्यापक मापदण्ड नहीं माना जा सकता। भारत जैसे विशाल देश में

टिप्पणी

भिन्न–भिन्न इलाकों के विकास की दृष्टि से भिन्न–भिन्न परिस्थितियां भी रही थीं। ध्यान दिया जाए तो पाते हैं कि ब्रिटिश–राज से पूर्व भी देशी आर्थिक संगठन में ऐसी भी परिस्थितियां बनी हुई थीं जो विकास की राहों में अवरोधक बनी हुई थीं।

अब भारत के ग्रामों की आर्थिक व्यवस्था के विघटन के कारणों पर एक विहंगम दृष्टि डालने की भी आवश्यकता है–

यह सच है कि ब्रिटिश–राज में कृषि व्यवस्था और अर्थव्यवस्था से संबंधित सभी पक्षों में विशेष बदलाव तो देखे ही गए थे। इसका कारण जो एक ही दृष्टि में समझ में आता है, वह है अंग्रेजों का आधुनिक तथा खुला दृष्टिकोण। उनका प्रत्येक वस्तु को देखने का अपना अलग ही नजरिया रहा था। किन्तु वे भारत की व्यवस्था तथा परिस्थितियों के पूर्णरूपेण जानकार नहीं थे। इसलिए उन्होंने पुरानी अथवा पहले से चल रही यहां की परिस्थितियों की सहायता प्रत्येक क्षेत्र में लेनी अनिवार्य समझी थी। अतः वे अपने से पूर्व के और अपने दृष्टिकोण को मिलाकर यहां व्यवस्थाएं कायम करने में अधिक विश्वास रखते थे। इन्हीं विचारों के चलते कृषि में उपयुक्त भूमि, फसलों के ढांचे, जोतों के आकार एवं प्रकार तथा उत्पादकता आदि में विविध प्रकार के नए परिवर्तन लाने के यत्न भी किए थे। इनसे यह तो आवश्यक नहीं था कि कृषि से जुड़े सभी सामाजिक वर्गों पर इनका प्रभाव पड़ता किन्तु, यदि बहुसंख्यक छोटे किसानों को मद्देनजर रखते हुए देखें तो किसी सीमा तक अंग्रेजी–राज के इन परिवर्तनों ने भारत की कृषि के बहुत से क्षेत्रों में तबाही ही मचाई थी। इन परिवर्तनों में सामान्य ग्राम्य जन–जीवन अस्त–व्यस्त भी हो गया था। इस बात को स्पष्टतः जानने समझने के लिए कुछ मुद्दों पर दृष्टि डालनी आवश्यक है, यथा–

(क) भूमि में नीति–सम्पत्ति का प्रारम्भ (ख) भारतीय कृषि जगत का अन्तर्राष्ट्रीय मंडियों से जुड़ाव (ग) कृषि जगत पर जनसंख्या का बढ़ता प्रभाव (घ) सामूहिक संपत्ति के साधन तथा कृषि की व्यवस्था (ङ) भू–राजस्व की प्रणाली में बदलाव (च) जोतों का आकार (छ) कृषि उत्पादकता की जड़ता तथा रूकावट की स्थिति आदि। अब इन मुद्दों को विस्तार से समझें–

अंग्रेजी शासन से पूर्व भारतीय कृषि जगत में निरपेक्ष तथा असीमित अधिकारों की कमी थी। यदि राज्य की भू–राजस्व उगाहने की व्यवस्था से जुड़े भू–उत्पाद में कुछ अधिकार थे तो किसानों तथा काश्तकारों को भी कुछ अधिकार मिले हुए थे। भू–राजस्व वसूली में जुड़े लोगों में अधिकतर जमींदार, जागीरदार तथा उनके नुमाइंदे ही प्रमुख रूप से हुआ करते थे। किसानों के अधिकारों के अंतर्गत तो उनके–परिवारों की औरतों को भी कृषि के उत्पादन में उपभोग में निश्चित अधिकार मिले हुए थे। अंग्रेजी–राज की स्थिति को इस सन्दर्भ में देखें तो कह सकते हैं कि इस समय भू–राजस्व निर्धारित करने की जो विधियां बनाई गई थीं, उन सभी में एक बात समान थी। उसके अनुसार उन्होंने अपनी उदारवादी धारणा के अनुसार भूमि में निजी संपत्ति का निरपेक्ष तथा असीमित आकार मान लिया था। इसका सीधा मतलब था कि भूमि को एक ऐसी वस्तु मान लिया गया जिसको बेचा और खरीदा जा सकता था। उसकी सुरक्षा की गारंटी के आधार पर

टिप्पणी

किसान उसे गिरवी भी रख सकता था। अपनी जमीन को गिरवी रखकर साहूकार से पैसा भी उठा सकता था। अंग्रेजी नियमों के आधार पर एक ऐसा ढांचा तैयार किया गया था जो अनुबंध की पवित्रता को मान्यता देता था। इसके अनुसार ब्रिटिश कोर्टों में किसान तथा भू–स्वामी के संबंध, किसान साहूकार के संबंध तथा और दूसरे भी कृषि से जुड़े मामलों को एक प्रकार के समझौते से जोड़कर ही पैसे वालों के पक्षों में निर्णय करने प्रारम्भ कर दिए गए थे, जो कि एक दम से गलत और पक्षपात पूर्ण थे।

इसी प्रकार भारत के कृषि जगत को अन्तर्राष्ट्रीय मंडियों से जोड़ने की बात को लेकर कहा जा सकता है कि ब्रिटिश समय से भारत का कृषि जगत अनेक कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय मंडियों के साथ जुड़ता चला जा रहा था। वैसे इस शासन से पहले भी हिन्दुस्तानी उत्पादों की मांग बाहर देशों में हो रही थी और तभी से कृषि उत्पादों के लिए मंडियां विकसित भी होने लगी थीं। देखा जाए तो पूर्व औपनिवेशिक समय में मांग प्रमुख रूप से भू–राजस्व में बढ़त होने से तथा शहरों के विकसित होने से भी इनमें विकास प्रक्रिया चल रही थी, अंग्रेजों ने इस विकास में अपना योगदान दिया तथा इन क्षेत्रों में कुछ परिवर्तन भी किए, जैसे– यातायात के नए साधन प्राप्त कराए, सड़कों के निर्माण कराए, इनके अतिरिक्त रेलवे मार्ग के बनने से भी किसानों के खेतों तथा बाजारों व मंडियों की दूरियां भी कम हुईं। इनसे खेती तथा व्यापार भी प्रभावित हुए। इन सड़क मार्गों के अतिरिक्त भी आधुनिक बंदरगाहों एवं शहरी विकास तथा आयात–निर्यात में संलग्न कंपनियों तथा आधुनिक विनिमय बैंक प्रणाली और किसान तथा बाजारों/मंडियों के बीच में खड़ी बिचौलियों की पंक्तियों ने भी व्यापार जगत को नए आयाम दिए। आधुनिकता का एक नया उदाहरण और देखने में आया, स्टीम के जहाजों के आगमन से तथा स्वेज नहर के बनने से भी इस प्रक्रिया को गति मिली। देश में बढ़ते आन्तरिक व्यापार ने विभिन्न क्षेत्रों में सकारात्मक भूमिका निभाई, जैसे– एक विशेष किस्म की फसल उगाने के लिए प्रोत्साहित किया। जिसे अर्थशास्त्रियों ने आंचलिक विशिष्टीकरण का नाम दिया था। इस प्रक्रिया के अंतर्गत पश्चिमी भारत के दक्कन में किसानों ने मिली–जुली खेती करने को छोड़कर बड़े पैमाने पर बस कपास की खेती करना ही शुरू कर दिया था। इस प्रकार मिश्रित फसल पैदा न करने पर किसान अपने परिवार के लिए खाद्यान्न की पूर्ति के लिए दूसरे क्षेत्र से आने वाले अनाज पर ही आश्रित रहने लगे थे। इस प्रक्रिया के अंतर्गत किसान कृषि–उत्पादों का क्रेता और विक्रेता भी बन गया।

19वीं सदी से यूरोपीय देशों में जनसंख्या का विस्थापन कृषि से होता हुआ शहरी–औद्योगीकरण की तरफ बढ़ रहा था। वैसे देखा जाए तो शहरी क्रान्ति के पश्चात् यूरोप में खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ा ही था, किंतु फिर भी बढ़ती जनसंख्या के कारण उसे दूसरे देशों की मदद लेनी पड़ी थी। भारत से गेहूँ व चावल का निर्यात भी अंग्रेज व्यापारियों ने प्रारम्भ किया था। आलम यह था कि भारत में अकालों के पड़ते रहने के बाद भी 19वीं सदी में भारत से खाद्यान्नों का निर्यात यथावत चलता ही रहा था। व्यापार के इस अन्तर्राष्ट्रीय रूख से भारतीय किसानों के जीवन–स्तर में भी परिवर्तन आया था, क्योंकि इस सबसे भारतीय किसान के संबंध अन्तर्राष्ट्रीय मंडियों से बन गए थे। इससे

टिप्पणी

अन्तर्राष्ट्रीय मंडियों का प्रभाव भारतीय कृषि पर भी पड़ने लगा था। इस बात का सबसे अच्छा उदाहरण है, सन् 1860 के बाद गृह–युद्ध के कारण अमेरिका में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कपास के दामों में वृद्धि हो गई थी। इस दामों की तेजी को देखते हुए भारतीय किसानों ने कपास के उत्पादन में और भी बढ़त करनी आरम्भ कर दी थी। इसके लिए उन्होंने साहूकारों से भी रुपए उठाए थे। अमेरिका का गृह–युद्ध सन् 1864–65 में समाप्त हुआ तो मंडियों में अमेरिका के खेतों की कपास का आना शुरू हो गया था। इस कारण मांग कम और उत्पाद ज्यादा होने के कारण कपास में मंदी का दौर शुरू हो गया था। इससे दक्कन के किसानों को भारी हानि सहन करनी पड़ी थी। ठीक इसी प्रकार सन् 1929 के महान विश्व की आर्थिक मंदी के समय में भारतीय किसान को मुंह की खानी पड़ी थी।

जनसंख्या के निरंतर बढ़ते रहने से कृषि पर भी प्रभाव पड़ा था। इस बढ़ते जनसंख्या के दबाव को देशी हस्त और शिल्पकारी के उद्योगों की तबाही का कारण माना जा सकता था। इसी डि–इन्डस्ट्रियलाइजेशन (विऔद्योगीकरण) के चलते ही कृषि पर जनसंख्या का दबाव हद से ज्यादा बढ़ गया था। इसका नतीजा–भूमि विभाजन, विखण्डन, गैर–आर्थिक जोतों के विकास के साथ–साथ अल्प रोजगार जैसी कृषि समस्याओं के रूप में भी सामने आया। खेती (खाद्यान्नों के उत्पादन में) में नवीन पद्धति को कम अपनाए जाने, नए बीजों का कम उपयोग करने के कारण खाद्यान्नों के उत्पादन में कमी आने लगी थी। इसके बाद 20वीं सदी में भी निरंतर जनसंख्या में बढ़ोतरी होते जाने के कारण प्रतिव्यक्ति कृषि भूमि में कमी आने लगी थी। परिणामतः खाद्यान्नों की उपलब्धता पर भी प्रभाव पड़ने लगा था। इससे पूरा देश भी प्रभावित हुआ था। देश को खाद्यान्न का अभाव सहन करना पड़ा था।

ब्रिटिश काल से पूर्व भारत के गांवों की आर्थिक स्थिति केवल चिर स्थायी और टिकाऊ कृषि पर ही आधारित नहीं थी। किसानों के अलावा ग्रामीण जनता में बड़े हिस्से में शिकारी और जंगलात से खाद्य–सामग्री एकत्रित करने वाले, पशुपालक तथा जंगलों में एक जगह छोड़कर दूसरे स्थान पर अदल–बदल कर खेती करने वाले आदिवासी भी सम्मिलित थे। किसान भी अपनी आवश्यकतानुसार जंगलों तथा चरागाहों के रूप में सामूहिक संपदा के संसाधनों पर चारे, लकड़ी आदि के लिए निर्भर रहते थे। ब्रिटिश–राज से पूर्व इन्हें इन सामूहिक संसाधनों का उपभोग करने का अधिकार प्राप्त था। किन्तु 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ये सामूहिक संसाधन गायब होने लगे थे। जंगलों, में भी व्यापारीकरण पैर पसारने लगा था। व्यापारी–वर्ग ने मुनाफे के लिए जंगलों को साफ (नष्ट) करना शुरू कर दिया था। जंगलों से लकड़ी काटने का कार्य इन लोगों ने बड़े स्तर पर प्रारम्भ कर दिया था। उधर बंजर जमीनों पर कृषि का विस्तार होने लगा था। इन सब कारणों से सामूहिक जमीन संकुचित होने लगी थी। उधर ब्रिटिश प्रशासन की दृष्टि भी वन–संपदा पर पड़नी शुरू हो गई थी। अतः वहां उसने अपना नियंत्रण करना प्रारम्भ कर दिया। इसके चलते ही वर्तमान ब्रिटिश–राज ने सन् 1865 में जंगल का कानून जारी कर दिया था। सन् 1878 के कानून के अनुसार तमाम जंगलों को अपने

अधीन कर लिया था। इस प्रकार ग्रामीण जनता के जंगलों से पहले के अधिकारों को समाप्त कर दिया गया था। जंगलों को संरक्षित करने के पीछे सरकार की इच्छा अपनी आय के संसाधनों को बढ़ाने की भी रही थी। इमारती लकड़ी तथा वन से करों आदि के द्वारा आय के स्रोत बढ़ाने के लिए ही यह कदम उठाया गया था। परंतु मंडियों, कानूनों और जनसंख्या वृद्धि ने तथा राज्य के नियंत्रण ने वन–संपदा का मात्रात्मक तथा गुणात्मक विनाश करना प्रारम्भ कर दिया था। इससे कृषि संकट तथा सामाजिक संकट गहराने लगा था, क्योंकि इन सब बदलावों से ग्रामीण–जीवन बुरी तरह प्रभावित हुआ था। जंगल में रहने वाले किसान आदिवासी भुखमरी के कगार पर आ गए थे।

ब्रिटिश शासन ने भू–राजस्व प्रणाली में भी आमूल–चूल परिवर्तन किए थे। इस शासन के अंतर्गत भू–राजस्व की दरों में तेजी से वृद्धि कर दी गई थी। ऐसा 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में किया गया था। जबकि 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में कृषि के उत्पादनों के दामों में भारी गिरावट आ गई थी। इससे किसानों पर भू–राजस्व का बोझ अधिक ही बढ़ गया था। यह भी दृष्टव्य है कि ब्रिटिश–राज से पूर्व भारत की राज्य–व्यवस्थाओं के अंतर्गत भू–राजस्व में फसल का एक निर्धारित हिस्सा तय किया जाता था। वह भी फसल के उत्पादन पर घटाया–बढ़ाया जाता था। परंतु ब्रिटिश–राज में भू–राजस्व के इस लचीलेपन को समाप्त कर दिया गया था। इसे ब्रिटिश–राज की कठोरता का प्रमाण भर कहा जा सकता था। ब्रिटिश–राज में ज्यादा कुशलतापूर्वक तरीके से माप की वैज्ञानिक विधियां अपनाकर भूमि की मापतौल और सर्वेक्षण का कार्य सम्पन्न किया गया था। इसके साथ ही, कर–रहित भूमि के अधिकार भी समाप्त कर दिए गए थे। इससे किसानों ने नगदी फसलों के उत्पाद की ओर अपना ध्यान देना शुरू कर दिया था। भूमि कर समय पर न देने की स्थिति में भूमि की संपत्तियों की बिक्री तथा नीलामी भी बढ़नी शुरू हो गई थी। इससे साहूकारों तथा व्यापारी वर्ग ने हस्तान्तरण के दौर में भू–संपत्तियों के अपने अधिकारों में भी इजाफा करना शुरू कर दिया था। इन सब बदलावों से छोटे किसान तथा आदिवासी अधिक प्रभावित हुए थे।

निरंतर जनसंख्या के बढ़ने से खेती भी प्रभावित हुई, जिससे जोत का औसत आकार घटता चला गया। परिणामस्वरूप कृषि में विभाजन, विखण्डन तथा गैर–आर्थिक जोतों की समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया था। शुरू–शुरू में तो भूमि और जनसंख्या का अनुपात कृषि के पक्ष में ही रहा था। किसान की भू–जोत का आकार उसके पास उपलब्ध परिवार के श्रम तथा दामों (पूंजी) पर निर्भर होता था। उस समय कृषि के क्षेत्र में श्रम ही उत्पादन का दुर्लभ साधन होता था। किन्तु, शनैः शनैः जनसंख्या में वृद्धि, हस्तशिल्पों के पतन तथा भू–राजस्व प्रणाली में लागू किए गए बदलावों के फलस्वरूप परिस्थितियां बदलती चली गईं। कृषि जगत में छाई बेरोजगारी दृष्टिगोचर होने लगी थी। उधर संयुक्त परिवारों के टूटने तथा भारत में चल रहे उत्तराधिकार के नियम ने इस प्रक्रिया में और भी गति ला दी थी। एक अध्ययन के अनुसार बंबई में पाया गया था कि 1771 ईसवीं में वहां औसत जोत की भूमि 40 एकड़ के लगभग थी, जो सन्

टिप्पणी

1818 में घटकर 17 एकड़ रह गई थी। वही भूमि सन् 1840 में 14 एकड़ रह गई थी। सन् 1914–15 के आते–आते इस जोत भूमि का आकार 7 एकड़ ही रह गया था। इसी प्रकार के उदाहरण अन्य जिलों तथा सूबों में भी देखने को मिले थे। इस गिरावट के परिणामस्वरूप जोतों का आकार इतना छोटा रह गया था कि एक सामान्य किसान–परिवार का भी गुजारा इस जमीन जोत–भूमि से होना मुश्किल हो गया था। खेतों के इतने छोटे आकार को ही 'गैर–आर्थिक जोत' कहा जाता है। इस स्थिति में बहुत से किसान भूमि–हीन भी होकर रह गए थे। वे दूसरों के खेतों में काम करके अथवा मजदूरी करके ही अपना और अपने परिवार का भरण–पोषण करने को विवश हो गए थे।

ब्रिटिश काल में कृषि–उत्पादकता का कम होना अपने आप में बड़ी समस्या बन गई थी। देखा जाए तो ग्रामीण कृषि व्यवस्था, पशु पालन, वन संपदा आदि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के मुख्य आधार थे। इसमें 3/4 भाग श्रम–शक्ति का लगा हुआ था। सन् 1860 से सन् 1940 के मध्य देश की आमद में इसका योगदान लगभग 50 प्रतिशत माना जाता था। इसमें भी पिछड़ेपन और ठहराव की स्थिति बनी हुई थी। कारण, कृषि में श्रम की उत्पादकता नितांत अल्प थी। उसके ऊपर पूंजी–अभाव तथा सिंचाई में पूंजी निवेश की कमी आदि भी इसे प्रभावित करते थे। जिस पर उत्पादक–भूमि का अभाव भी प्रभावित करता था। फिर भी देखने में आता है कि इतना होने पर भी कुछ क्षेत्रों में कृषि–उत्पादन में तेजी से बढ़त भी देखने को मिलती थी। 20वीं सदी में जनसंख्या के तीव्रता से बढ़ने के कारण प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता तथा विनिमय के अधिकार का वितरण भी प्रभावित हुए थे। सन् 1901 से 1947 के मध्य प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता में प्रत्येक वर्ष 1 प्रतिशत की कमी आती चली गई थी। वैसे कुछ क्षेत्रों में कुछ नकदी फसलों के उत्पादन में तेजी से बढ़त भी देखी गई थी। विशेषरूप से कपास और गन्ने की फसल में ऐसे स्पष्ट प्रमाण मिले थे। बाकी फसलों के उत्पादनों की स्थिति दयनीय ही बनी हुई थी। पंजाब के दोआब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, नर्मदा घाटी, महाराष्ट्र तथा मद्रास के कुछ विशेष इलाकों में काफी बढ़त तथा गतिशीलता देखने को मिली थी। लेकिन इससे कृषि–उत्पादकता में दूरगामी परिवर्तन नहीं हुए थे।

देखा जाए तो धनी अर्द्ध सामंती और समृद्ध धनी किसानों के वर्गों द्वारा कमाए लाभों का उपभोग कृषि में निवेश करके, उत्पादन की प्रक्रिया में तकनीकी आधुनिकीकरण करने के उद्देश्य से नहीं किया गया था। अपितु अपनी तिजौरियां भरने के उद्देश्य को लेकर ही किया गया था। इसके पीछे इन पैसे वालों का उद्देश्य अपनी सामाजिक स्थिति को और भी अधिक सुदृढ़ करना अधिक रहा था।

ब्रिटिश काल में विरोधीकरण का सीधा अर्थ औद्योगीकरण की उलट प्रक्रिया से माना जाता है। वस्तुतः जब किसी राष्ट्र का औद्योगीकरण होता है तब उसके संकेत उसकी अर्थव्यवस्था में आने वाले परिवर्तनों से अधिक लिए जाते हैं क्योंकि यह दौर औद्योगीकरण की प्रक्रिया का दौर होता है। किसी देश के आर्थिक विकास की जानकारी उसके व्यावसायिक ढांचे से प्राप्त की जा सकती है। व्यावसायिक ढांचे से तात्पर्य है, देश की अर्थव्यवस्था में कृषि तथा खनन जैसे बेसिक कार्यकलापों में उस राष्ट्र की

टिप्पणी

श्रमशक्ति किस अनुपात में लगाई जा रही है। इसके अतिरिक्त उद्योग व्यापार में कितना तथा अलग–अलग तरह की सेवाओं में कितना श्रमिक लगा है, इन सब बातों का पता लगाना भी आवश्यक हो जाता है। क्योंकि किसी भी देश में जैसे–जैसे औद्योगीकरण में गति आती है, वैसे–वैसे ही श्रम–शक्ति का विस्थापन कृषि तथा प्राथमिक कार्यकलापों से उद्योगों और व्यापारिक दिशा में होना स्वाभाविक हो जाता है। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण की पहचान है कि कृषि तथा प्राथमिक क्रियाओं की अपेक्षा उद्योग में लगी श्रम–शक्ति का अनुपात स्वाभाविक रूप से बढ़ने लगता है। इसके साथ ही कृषि के स्थान पर राष्ट्रीय आय में उद्योगों का सहयोग बढ़ जाता है। परंतु निरोधीकरण की प्रक्रिया में इसका एक दम उलट होता है अर्थात उद्योगों में लगे लोग/श्रमिक तथा रोजगार पाने वाली श्रम–शक्ति का अनुपात घटने लगता है। राष्ट्र की आय में उद्योगों का योगदान कम हो जाना ही निरोधीकरण कहलाता है। अतः जहां औद्योगीकरण से राष्ट्र तथा राष्ट्र के लोगों को लाभ होता है वहीं निरोधीकरण से राष्ट्र की आय घटने लगती है। बेरोजगारी सिर उठाने लगती है।

ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात् भारत के हस्तशिल्प उद्योग समाप्ति के कगार पर पहुंच चुके थे। बहुत–से तो समाप्त भी हो चुके थे। इनकी इस अवस्था के लिए जो घटक जिम्मेदार हैं, वे निम्नलिखित हैं–

(क) देशी राजाओं का समाप्त होना (ख) अंग्रेजी राज्य की इंग्लैंड में वाणिज्य तथा सीमा शुल्क की नीति (ग) राजनीतिक सत्ता का दुरुपयोग होना (घ) इंग्लैंड के मशीनी उद्योगों से प्रतियोगिता, आदि। अब इन बिन्दुओं को विस्तार से इस प्रकार देखें–

भारत में उच्च कलात्मक वस्तुओं के शहरी शिल्प उद्योगों से निर्मित वस्तुएं देशी राजाओं, नवाबों तथा शासक–वर्ग के शान–औ–शौकत की कहानी कहने/सुनाने में सक्षम थीं। वे इनकी खरीद फरोख्त काफी करते थे। ऑर्डर देकर कलात्मक वस्तुओं का निर्माण भी कराते थे। इसी से इन उद्योगों को संरक्षण तथा प्रोत्साहन भी नसीब होता था। शाही कारखाने भी श्रेष्ठ शिल्पकारों तथा कारीगरों को रोजगार एवं संरक्षण प्रदान करते थे। परंतु जैसे–जैसे ब्रिटिश–शासन की स्थापना होती गई, वैसे–वैसे ही देशी राजाओं, नवाबों का पतन होता गया। ऐसी स्थिति में इन शिल्प–उद्योगों का संरक्षण भी समाप्त होता चला गया। इस प्रकार इन शिल्पकारों/कारीगरों/उद्योगों का भी पतन हो गया।

भारतीय उद्योगों की वस्तुएं बड़े स्तर पर इंग्लैंड की मंडियों में पहुंचा करती थीं। यह दौर 17वीं सदी में तथा 18वीं सदी के शुरू में रहा। इंग्लैंड इन वस्तुओं के बदले में भारत को सोना–चांदी दिया करता था। इनके अतिरिक्त बहुमूल्य धातुओं के रूप में इन वस्तुओं का भुगतान इंग्लैंड को करना पड़ता था। पश्चिमी यूरोप की अर्थनीति में उस समय वाणिज्यवादी विचारधारा का काफी प्रभाव रहा क्योंकि वाणिज्यवादी अपने देश में बहुमूल्य धातुओं को अधिक–से–अधिक संचित करने पर ध्यान दे रहे थे। परंतु इस संचय नीति के लिए उनके देश में व्यापार का संतुलन उनके देश के हित में होना आवश्यक था। इंग्लैंड के उद्योगों ने यह मांग करनी शुरू की कि भारत से आयात किए

टिप्पणी

जा रहे माल/वस्तुओं पर रोक लगे अथवा उस पर अत्यधिक ऊंचा सीमा–शुल्क लगाया जाये जिससे वे यहां के बाजारों में घरेलू वस्तुओं के साथ प्रतियोगी न बन सकें।

18वीं सदी में ब्रिटिश सरकार ने अनेकों पाबंदियां अधिनियम के तहत भारत के वस्त्र उद्योग के विरुद्ध इंग्लैंड में लगाईं। सन् 1757 के बाद कंपनी की सत्ता भारत के पूर्वी क्षेत्र पर लागू हो गई। अंग्रेजी सरकार ने इतना ही पक्षपात नहीं किया अपितु भेदभावपूर्ण सीमा–शुल्क नीति को भी अपनाया। इसके अनुसार इंग्लैंड में भारत के उद्योगों पर जहां भारी आयात शुल्क लगाया गया, वहीं इंग्लैंड के उद्योगों का माल कर मुक्त करके उपनिवेश की मंडियों में भेजा जाता रहा। इस प्रकार भारत के उद्योगों के माल पर प्रतिबंध लगाकर उनको खत्म करने में इस पक्षपातपूर्ण वाणिज्य नीति ने विशेष भूमिका निभाई। इसका परिणाम यह निकला कि भारत के उद्योगों से निर्यात किए जाने वाले माल की मात्रा और मूल्य में कमी आ गई। उधर इंग्लैंड से आने वाले माल के दाम तथा मात्रा भी भारत में बढ़ी। इस कुनीति से भारत का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रभावित हुआ।

यह भी सर्वविदित ही है कि ईस्ट इंडिया कंपनी एकाधिकार व्यापार की कंपनी थी। उसका उद्देश्य अपने माल को महंगे से महंगे दामों में बेचना तथा दूसरे देश के माल को कम से कम दामों में खरीदना ही था। इस प्रकार अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना इस कंपनी का प्रथम उद्देश्य था। पूर्वी भारत में प्लासी का युद्ध समाप्त हुआ। तत्पश्चात् बंगाल की राज्य–व्यवस्था पर इस कंपनी का अधिकार छा गया। अधिकार जमाते ही कंपनी के एजेंटों ने शिल्पकारों से कम कीमतों पर माल खरीदना शुरू कर दिया। उनके गुमाश्तों ने लागत से भी कम मूल्यों पर विशेष रूप से सूती कपड़ा खरीदना शुरू कर दिया। उधर उस सस्ते में खरीदे गए माल को यूरोप की मंडियों में महंगे से महंगे दामों पर बेचना शुरू कर दिया। इससे कंपनी को लाभ अधिक होने लगा। कारीगरों के साथ वे बल का प्रयोग कर निर्दयी भी बन बैठे। देखते ही देखते बुनकर/कारीगरों से स्वतंत्र रूप से अपना माल खुले बाजार में बेचने का अधिकार भी छिन गया। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन में हस्तशिल्प उद्योग को हानि होने का यह एक विशेष कारण बना था।

18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैंड के उत्पादन के लिए ऊर्जा के नए स्रोत के रूप में भाप के इंजन को उपयोग में लाया जाने लगा था। इसके साथ ही कताई तथा बुनाई के क्षेत्र में कपड़ा उद्योग में स्पीनिंग जैनी, म्यूल तथा पॉवर लूम जैसे आविष्कारों से श्रम की उत्पादकता ने गति पकड़ी। परिणामस्वरूप उत्पादन की लागत में भी भारी कमी आई। मशीनों से बनाया गया यह माल भारत के बुनकरों/कारीगरों द्वारा बनाए गए माल की तुलना में मूल्य की दृष्टि से बहुत सस्ता साबित हुआ। विविधा तथा क्वालिटी का लाभ मिलने से शुरू में तो भारतीय उद्योग प्रतियोगिता में विदेशी/मशीनी माल के सामने डटा रहा, किंतु मूल्य की दृष्टि से अधिक देरी तक विदेशी माल के मूल्यों का सामना न कर सका।

19वीं सदी में अंग्रेजी–राज द्वारा भारत में लाए गए आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव घरेलू उद्योगों पर दिखाई दिया था। ब्रिटिश–राज ने कृषि के

टिप्पणी

वाणिज्यीकरण को बढ़ावा देकर इंग्लैंड के उद्योगों के माल को भारत में बड़े पैमाने पर आयात करके तथा भारत के सूती कपड़ों के निर्यात को रोककर, 19वीं सदी में भारत के शिल्प हस्त उद्योगों को बरबाद कर डाला था। इससे कारीगर बेरोजगार हो गए थे। सन् 1750 में संसार के औद्योगिक उत्पाद के लगभग 1/4 भाग की आपूर्ति भारतीय उद्योगों द्वारा ही की जा रही थी, लेकिन तकनीकी के अभाव में भारतीय उद्योगों के उत्पाद/माल और देशों की तुलना में पिछड़ते ही चले गए थे। ऐसा श्रम की उत्पादकता की जड़ता के कारण भी हुआ। उधर इंग्लैंड में इसके विपरीत लंकाशायर और मैनचेस्टर में 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में तीव्रता से मशीनों की तकनीक में उछाल आया। इससे वहां का सूती वस्त्र उद्योग विकसित होने लगा था। सन् 1880 तक इंग्लैंड ने दुनिया के दूसरे भागों में भारत की अपेक्षा सूती वस्त्र उद्योगों में अपनी धाक पूरी तरह जमा ली थी। जबकि भारत में इस तरह का मशीनी उद्योग सन् 1856 के पश्चात् उभरना शुरू हुआ था। इस नए फैक्ट्री–उत्पादन के तेजी से विकास के मार्ग में अनेकानेक संस्था मूलक तथा नीतिगत अड़चनें आईं जिनके फलस्वरूप सन् 1901 में भी भारत में फैक्ट्री उत्पादन में श्रम–शक्ति का केवल 5 प्रतिशत भाग ही शामिल हो पाया।

संक्षेप में कहें तो निरोधीकरण से तात्पर्य था छोटे हस्तशिल्प तथा परम्परागत उद्योगों का विनाश। इसमें तकनीकी पिछड़ेपन का बहुत बड़ा हाथ रहा। अतः जहां इंग्लैंड के औद्योगीकरण में, व्यापार तथा तकनीकी परिवर्तन से उछाल आया, वहीं भारत की अर्थव्यवस्था निरोधीकरण के कारण काफी पिछड़ गई। राष्ट्रवादी अर्थशक्तियों ने अपने विविध अध्ययनों के उपरांत सार रूप में कहा कि 19वीं सदी में तीव्रता से उद्योगों का पतन हुआ। ज्यादातर यह गिरावट की स्थिति सूत कातने के व्यवसाय में देखी गई थी। डैनियल थॉर्नर के मत के अनुसार सन् 1881 से सन् 1931 के मध्य के जनसंख्या आंकड़ों के आधार पर भारत के व्यावसायिक ढांचे को जांचा जा सकता है। उनका अनुमान रहा है कि इस दौरान कृषि व्यवसाय में रोजगार पा रहे लोगों की जनसंख्या तथा अनुपात में बढ़त हो रही थी। जबकि औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार का अनुपात कम होता जा रहा था।

डा. मौरिस के मत के अनुसार निरोधीकरण विवाद के कुछ महत्वपूर्ण आयाम थे। उनका मत था कि निरोधीकरण का कोई भी प्रभाव भारतीय उद्योगों पर नहीं पड़ा था। डा. मौरिस का यह भी मत ध्यान देने योग्य है कि 19वीं सदी में भारत में कपड़े की मंडियों का विस्तार इतनी तीव्र गति से हुआ था कि इसमें घरेलू और आयात किए गए, दोनों प्रकार के कपड़ों की खपत थी।

फिर भी देशी उद्योगों के बचे रहने का कारण बड़े मशीनी उद्योग तथा छोटे घरेलू हस्तशिल्प उद्योगों के मध्य मंडियों की अलग–अलग किस्मों का होना न होकर, उनका महाजनों–साहूकारों पर अधिक निर्भर हो जाना रहा था। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो पाते हैं कि 19वीं सदी में आर्थिक विकास का मार्ग रहा– श्रम–विभाजन। देखा जाए तो दक्षिण में खेती और पशुपालन लाभकारी व्यवसाय थे तो उत्तर में लाभकारी थे

कल–कारखानों के उत्पाद। एक मान्यता यह भी है कि यदि श्रम–विभाजन स्थानीय–स्तर पर लाभकारी है तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रम–विभाजन भी इसके अनुरूप ही लाभकारी सिद्ध होगा।

टिप्पणी

4.2.2 ग्रामीण अर्थतंत्र : पूर्वी भारत, मध्य भारत और उत्तरी भारत

मध्यकालीन अर्थव्यवस्था के पतन के पश्चात अंग्रेजों के शासन काल में अर्थव्यवस्था की गति को परिवर्तित कर दिया गया। इसके पहले की अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भरता पर आधारित थी जिसका मुख्य आधार ग्राम थे और जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि था। इस काल में खेतों का आकार संतोषजनक था।

भारत के विशाल साम्राज्य पर अपना अधिकार स्थापित करने के पश्चात इस पर अपना नियंत्रण बनाये रखने और शासन चलाने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने अनेक तरीके अपनाये। 1757 ई. से 1857 ई. की लंबी अवधि के दौरान कंपनी की प्रशासनिक नीति अधिकतर परिवर्तित रही। उसने अपने लक्ष्यों में कभी बदलाव नहीं किया। उसने कंपनी के मुनाफे में बढ़ोतरी, भारत पर अधिकार को ब्रिटेन के लिए फायदेमंद बनाना तथा भारत पर ब्रिटिश पकड़ को कायम रखकर उसे सुदृढ़ बनाना आदि अपने लक्ष्यों में अपनी दृढ़ता अपनाए रखी। इसी आधार पर अर्थव्यवस्था एवं आर्थिक नीतियों का संचालन किया।

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत नई भू राजस्व व्यवस्था

ब्रिटिश शासन का भारतीय अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा था। ब्रिटिश शासकों ने भारत की प्राचीन एवं मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में आमूल–चूल परिवर्तन कर दिया। उन्होंने लाभ की अर्थव्यवस्था के लिए समस्त आर्थिक नीतियों को अपने अनुसार लागू किया। पं. जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में "भारत विश्व बाजार का एक अंग नहीं बन पाया पर वह अंग्रेजी व्यवस्था का एक औपनिवेशिक एवं सांस्कृतिक अंग बन गया।"

ब्रिटिश शासन की नीतियों का सर्वाधिक प्रभाव भू–राजस्व प्रणाली पर पड़ा जिसके अंतर्गत उन्होंने स्थायी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी तथा महालवाड़ी व्यवस्था को लागू किया एवं कृषि का वाणिज्यीकरण किया। इन नीतियों ने भारतीय ग्रामों की आत्मनिर्भरता को समाप्त कर धन निष्कासन के मार्ग को प्रशस्त किया।

स्थायी बंदोबस्त से पूर्व की स्थिति

आंग्ल फ्रांसीसी संघर्ष में फ्रांसीसियों को परास्त करने के पश्चात अंग्रेजों ने बंगाल की तरफ रुख किया और प्लासी के युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों ने इलाहाबाद की संधि से मुगल सम्राट शाह आलम से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली थी और द्वैध शासन स्थापित कर लगान वसूलने का कार्य भारतीयों के द्वारा कराया गया, इसके लिए रजा खां एवं सिताबराय को नियुक्त किया। परंतु वारेन हेस्टिंग्स ने इस व्यवस्था में बदलाव कर दिया। प्रसिद्ध विद्वान रजनी पामदत्त ने अपनी पुस्तक 'इंडिया टुडे' में भारतीय औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का चित्रण किया है जिसमें उन्होंने ब्रिटिश उपनिवेशवाद को तीन चरणों में विभक्त किया है–

टिप्पणी

(1) वाणिज्यिक चरण– 1757–1813

(2) औद्योगिक मुक्त व्यापार– 1813–1858

(3) वित्तीय पूंजीवाद– 1860 के बाद

उपनिवेशवाद के प्रथम चरण जिसकी शुरुआत प्लासी के युद्ध के बाद होती है, में ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय व्यापार पर पूर्ण रूप से कब्जा कर लिया। उपनिवेशवाद के प्रथम चरण में कंपनी ब्रिटेन तथा यूरोप के अन्य देशों को कम कीमत पर तैयार भारतीय माल का निर्यात कर अच्छी कीमत वसूलती थी। उपनिवेशवाद के इस चरण में बंगाल व अन्य प्रांतों से वसूले गए भू–राजस्व के बचे हुए हिस्से से भारतीय माल को खरीदा जाता था और उसे अन्य देशों को अच्छी कीमत पर निर्यात किया जाता था। 1757 के बाद कंपनी द्वारा भारत से निर्यात किये जाने वाले माल के बदले में कुछ भी नहीं लौटाया गया, इस तरह प्रतिवर्ष भारतीय माला और संपत्ति का दोहन होता रहा। परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड अधिक अमीर और भारत अधिक गरीब होता गया।

औपनिवेशिक काल से पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था कृषिजन्य अर्थव्यवस्था थी लेकिन अंग्रेजों ने यहां के परंपरागत कृषि ढांचे को नष्ट कर दिया और अपने फायदे के लिए भू–राजस्व निर्धारण तथा संग्रहण के नए तरीके लागू किए। प्लासी के युद्ध के पश्चात् बंगाल की दीवानी प्राप्त करने के बाद कंपनी के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने 1772 में बंगाल में द्वैध शासन व्यवस्था को समाप्त कर 'फार्मिंग सिस्टम' (इजारेदारी प्रथा) की शुरुआत भू–राजस्व की वसूली के लिए की। इसके अंतर्गत कंपनी किसी क्षेत्र या जिले के भू–क्षेत्र से राजस्व वसूली की जिम्मेदारी उसे सौंपती थी, जो सबसे अधिक बोली लगाता था। क्लाइव के समय में भू राजस्व का वार्षिक बंदोबस्त होता था जिसे हेस्टिंग्स ने बढ़ाकर पांच वर्ष का कर दिया। फार्मिंग सिस्टम का भूमि को लगान वसूली हेतु ठेके पर दिए जाने की प्रथा का कालांतर में बंगाल पर बुरा प्रभाव पड़ा।

स्थायी बंदोबस्त

वारेन हेस्टिंग्स द्वारा स्थापित उक्त व्यवस्था में केंद्रीकरण अधिक था, इसलिए वह शीघ्र ही लड़खड़ाने लगी। 1786 में कार्नवालिस ने इसको युक्तिसंगत बनाने का प्रयत्न किया। जिलों का पुनर्गठन किया गया और उन्हें नियमित राजस्व इकाइयां बना दिया गया। हर जिले में कलेक्टर को राजस्व निर्धारित तथा वसूल करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। पहले पूरे प्रांत को 35 जिलों में विभक्त किया किंतु 1787 ई. में उनकी संख्या घटाकर 23 कर दी गई। राजस्व समिति का पुनर्गठन किया गया। उसका नाम राजस्व परिषद (बोर्ड ऑफ रेवेन्यू) रखा गया। गवर्नर जनरल की परिषद का एक सदस्य उसका अध्यक्ष था। राजस्व परिषद के कार्य स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिए गए। उसका काम कलेक्टरों पर नियंत्रण रखना, उन्हें सलाह देना तथा उनके द्वारा किए गए निर्णयों को स्वीकृत करना था, मुख्य 'शरिस्तादार' नाम का एक अधिकारी नियुक्त किया गया जिसका काम भूमि तथा लगान संबंधी अभिलेखों की देख–रेख करना था।

वार्षिक बंदोबस्त की व्यवस्था 1790 ई. तक चलती रही। कंपनी के निदेशकों ने कार्नवालिस को दस वर्ष के लिए बंदोबस्त करने की आज्ञा दी और कहा कि यदि वह संतोषजनक हो तो उसे स्थायी कर दिया जाए। उस समय कंपनी के अधिकारियों में लगान वसूल करने वाले जमींदारों के संबंध में दो सिद्धांत प्रचलित थे। 'जॉन शोर' का

टिप्पणी

मत था कि जमींदार भूमि के स्वामी हैं और वे सरकार को परम्परात्मक कर देते हैं। इसके विपरीत जॉर्ज ग्रांट का कहना था कि भूमि की असली स्वामी सरकार है, न कि जमींदार। इसलिए सरकार इच्छानुसार भूमि का बंदोबस्त जमींदार अथवा किसानों, किसी के भी साथ कर सकती है। यह विवाद बहुत दिनों तक चलता रहा। कार्नवालिस ने अंत में जॉन शोर का मत स्वीकार किया। 10 फरवरी, 1790 ई. को 10 वर्षीय बंदोबस्त की घोषणा कर दी और कहा कि यदि निदेशकों ने अनुमति दी तो उसे स्थायी कर दिया जाएगा। निदेशकों ने गवर्नर जनरल की योजना को मान लिया और 22 मार्च 1793 ई. को इसे स्थायी कर दिया गया।

इस व्यवस्था के अनुसार एक निश्चित मालगुजारी पर भूमि सदैव के लिए जमींदारों को दे दी गई। राज्य के सब अधिकार जो नजराने अथवा फीसों की बिक्री के संबंध में थे, वे सब त्याग दिए गए। जमींदारों से न्याय के अधिकार ले लिए गए। जब तक वे सरकार को नियमित रूप से लगान देते रहेंगे तब तक किसानों और जमींदारों के विषय में कंपनी कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी। यदि जमींदार लगान नहीं देते थे तो उनकी भूमि के कुछ भाग को लगान वसूली के लिए कुर्क कर लिया जाता था।

स्थायी बंदोबस्त का महत्व

स्थायी बंदोबस्त का महत्व निम्न प्रकार है–

1. **कंपनी को लाभ** : स्थायी प्रबंध से कंपनी की सरकार को लाभ भी हुआ। वह बार–बार बंदोबस्त करने के झंझट से मुक्त हो गई। बार–बार प्रबंध करने में धन भी बहुत व्यय करना पड़ता था। इस प्रबंध से खर्च में कमी हो गई। अब कंपनी को यह निश्चित रूप से ज्ञात हो गया कि भूमि के लगान से कंपनी को कितनी आमदनी होगी। अतः कंपनी को आर्थिक योजनाएं बनाने में सुविधा हो गई। इस व्यवस्था से कंपनी की लोकप्रियता में वृद्धि हुई। बंगाल में जमींदार वर्ग कंपनी का स्वामीभक्त बन गया।
2. **जमींदारों को लाभ** : स्थायी प्रबंध में जमींदारों को लाभ हुआ। वे भूमि के स्थायी मालिक बन गए। उनका डर दूर हो गया कि नियमित रूप से लगान देते रहने पर भी वे अपनी भूमि से वंचित कर दिए जाएंगे। जमींदार लोग भूमि व्यवस्था में रुचि लेने लगे और उसकी उन्नति के लिए प्रयत्न करने लगे। उनको बहुत कम लगान देना पड़ता था। अतः उनकी आय में वृद्धि हो गई। भूमि का जो मूल्य बढ़ा उससे भी जमींदारों को लाभ हुआ। उससे जमींदार संपन्न हो गए और वे बड़े–बड़े नगरों में रहने लगे।
3. **बंगाल की आर्थिक दशा में सुधार** : स्थायी प्रबंध से बंगाल प्रांत आर्थिक दृष्टि से संपन्न हो गया और इसकी गणना भारत के सबसे अधिक धनी प्रांतों में होने लगी, इस संपन्नता का बंगाल के व्यापार तथा उद्योग–धंधों पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसके व्यापार तथा धंधों में बड़ी वृद्धि हो गई जिससे उसकी धन संपन्नता बढ़ती गई। इस धन संपन्नता का परिणाम यह निकला कि बंगाल के संपन्न लोग साहित्य तथा कला की उन्नति में बड़ी रुचि लेने लगे। इससे बंगाल में शिक्षा का खूब प्रचार हुआ।

लॉर्ड विलियम बैंटिक ने स्थायी बंदोबस्त के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा, "यदि जबरदस्त जन विद्रोहों या क्रांति का मुकाबला करने के लिए सुरक्षा की जरूरत है तो मैं यह कहना चाहूंगा कि कई मामलों में और कई महत्वपूर्ण बातों में असफल होने के बावजूद स्थायी बंदोबस्त का कम से कम एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि धनी भू–स्वामियों का एक ऐसा विशाल संगठन खड़ा किया गया है, जो तहेदिल से यह चाहता है कि अंग्रेजी राज्य बना रहे और इसका जनता पर दबाव कायम रहे।"

इस व्यवस्था ने सरकार को बार–बार मालगुजारी का प्रबंध करने और खर्च व झंझट दोनों से मुक्ति दिला दी। दूसरे जमींदारों का जो धनी वर्ग पैदा हुआ उसने अपनी संचित संपत्ति को व्यापार में लगाकर औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया।

स्थायी बंदोबस्त से हानियां

स्थायी बंदोबस्त से जो हानियां हुई वे निम्न प्रकार हैं–

1. **किसानों को हानि** : उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्थायी व्यवस्था से सरकार को ही लाभ हुआ किंतु किसानों को इससे कोई लाभ नहीं हुआ। किसान लोग अपने श्रम और साधनों से भूमि को उर्वरा बनाते और अधिक अन्न उत्पन्न करने थे, किंतु इसका उन्हें कोई लाभ नहीं होता था, क्योंकि अधिक उत्पत्ति होने पर जमींदार उनसे मनमाना लगान वसूल करते थे। कभी–कभी तो किसानों पर इतना अधिक लगान थोप दिया जाता था कि वे अपनी सारी कृषि उपज को बेचकर भी नहीं चुका पाते थे। अतः जमींदार लोग उनकी भूमि छीन लेते थे। जमींदारों के अन्याय अत्याचार अथवा कठोरता से बचने का उनके पास कोई उपाय नहीं था। अदालतें अवश्य थी।
2. **सरकार को हानि** : वित्तीय दृष्टिकोण से शासन को तात्कालिक लाभ तो हुआ, किंतु दीर्घकाल में उसे घाटा रहा। स्थायी भूमि कर को निश्चित करते समय भूमि तथा उत्पादन के भावी मूल्य बढ़ने की ओर ध्यान नहीं दिया गया और जब कृषि योग्य भूमि तथा उत्पादन के मूल्य कई गुना बढ़ गए तो इस स्थिति में सरकार को कोई अतिरिक्त धन नहीं मिला।
3. **सामाजिक दृष्टिकोण से निंदनीय** : सामाजिक दृष्टिकोण से भी यह व्यवस्था निंदनीय है। जमींदारों का भूमि पर पूर्ण अधिकार मानकर कंपनी ने भूमिपति अथवा किसान दोनों के हितों की अवहेलना की। भूमिपति जो कल तक स्वामी था आज एक किराएदार हो गया तथा किराएदार अब जमींदार की दया पर निर्भर था और उसे अधिक से अधिक किराया देना पड़ता था। ऐसा अन्याय भारत के इतिहास में इससे पूर्व कभी नहीं हुआ था।
4. **जमींदारों को हानि** : प्रारंभ में अनेक जमींदारों को भी इस बंदोबस्त से अत्यधिक हानि उठानी पड़ी। बंगाल के जमींदार राजाओं की भांति रहते थे। समय पर लगान वसूल करके सरकारी खजाने में जमा करना उनके लिए सरल कार्य न था। इसलिए अनेक जमींदार परिवार नष्ट हो गए और उन्हें अपनी भूमि बेचनी पड़ी।

स्थायी बंदोबस्त के बारे में आरंभ से विवाद रहा है। यह उल्लेखनीय है कि जब यह लागू किया गया था, उस समय अधिकारी वर्ग ने इसकी निंदा की थी क्योंकि इससे

टिप्पणी

सरकार को हानि उठानी पड़ी थी। इससे जमींदारों को लाभ हुआ था इसलिए राष्ट्रीय नेताओं ने इसकी प्रशंसा की थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में आर.सी. दत्ता ने इसकी प्रशंसा में लिखा था कि स्थाई बंदोबस्त अंग्रेजी सरकार का सबसे अधिक सफल बुद्धिमत्ता का कार्य था। उनका कहना था कि इससे कृषि की उन्नति हुई, कृषक खुशहाल हुए और बंगाल दुर्भिक्षों से बचा रहा।

स्थायी बंदोबस्त के बारे में 'रणजीत गुहा' ने कहा है कि इस व्यवस्था का आधार इंग्लैण्ड में प्रचलित वाणिज्यवादी विचारधारा तथा फ्रांस में प्रचलित 'फीजियोक्रेटिव' विचारधारा के संगम में देखा जा सकता है जो निजी संपत्ति के सिद्धांतों पर जोर देते थे। इंग्लैण्ड में अनेक विचारक थे जो मानते थे कि समाज में स्थिरता लाने के लिए भू–स्वामियों को सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए। ब्रिटेन की शासक विग पार्टी भी भू–संपत्ति के अधिकारों में सुरक्षा चाहती थी। कार्नवालिस स्वयं भू–स्वामी वर्ग का व्यक्ति था। अतः स्थायी बंदोबस्त के द्वारा भू–संपत्ति के अधिकारों को सुरक्षित करना था।

अंत में एन.के. सिन्हा के अनुसार स्थायी बंदोबस्त केवल अधिकतम राजस्व प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रेरित था।

महालवाड़ी भूमि व्यवस्था

महालवाड़ी प्रणाली में कृषक या जमींदार पर लगान देने का उत्तरदायित्व नहीं होता बल्कि यह उत्तरदायित्व महाल या गांव का होता था। महाल का अर्थ क्षेत्र होता है। महाल में एक गांव या कई गांव हो सकते थे। इस प्रणाली के अंतर्गत समस्त भू–स्वामी कृषक सामूहिक रूप से सरकार को लगान देते थे। यह लगान गांव का मुखिया या कोई व्यक्ति जिसे गांव के कृषक स्वीकार करे, के द्वारा सरकार को दिया जाता था। यह प्रणाली मुख्य रूप से पश्चिमोत्तर प्रांत उत्तर प्रदेश, मध्य भारत और पंजाब में लागू की गई थी। इस प्रणाली में गांव की समस्त भूमि सम्मिलित मानी जाती थी जिसे सह–भागीदारों का समूह कहते थे। लगान देने का उत्तरदायित्व इस समूह पर था।

उत्तर पश्चिमी प्रांत में अवध के नवाब से दोआब में क्षेत्र प्राप्त किए गए थे। इसमें सात जिले थे– इटावा, मुरादाबाद, फर्रुखाबाद, इलाहाबाद, कानपुर, गोरखपुर और बरेली। इसके बाद 1804 में सिंधिया से दोआब में क्षेत्र प्राप्त किए गए। इसमें पानीपत, सहारनपुर, अलीगढ़ और आगरा जिले शामिल थे। इन्हीं क्षेत्रों में जो बंदोबस्त किया गया था, उसे महालबाड़ी बंदोबस्त कहा गया। इस बंदोबस्त में ग्राम या महाल को भूमिकर की इकाई माना जाता था।

महालवाड़ी प्रणाली को आरंभ करने वाला 'होल्ट मेकेन्जी' था। 1819 ई. में एक 'मिनिट' में उसने ग्राम समुदायों से बंदोबस्त करने की सिफारिश की थी। यह महालवाड़ी प्रणाली थी। इसे 1822 में अपनाया गया था। इसके अनुसार उन गांवों में जहां भूमि पर परिवार का मिला–जुला स्वामित्व था संपूर्ण भूमि पर लगान निश्चित किया गया।

महालवाड़ी व्यवस्था में मार्टिन बर्ड, थॉमसन एवं राबर्टसन ने भी अपने सुझाव प्रस्तुत किए।

टिप्पणी

महालवाड़ी व्यवस्था की प्रमुख शर्तें

महालवाड़ी व्यवस्था की प्रमुख शर्तें निम्न हैं–

1. इसमें उत्तर भारत को निश्चित सीमा के साथ कई इलाकों या प्रदेशों या महालों में बांट दिया, प्रत्येक महाल का 20–30 वर्षों के लिए लगान निश्चित कर दिया ताकि भूमि की शुद्ध उपज पर अतिरिक्त लाभ कृषकों को मिल सके।
2. अतिरिक्त लाभ लेने वाले व्यक्ति भूमि के स्वामी माने गए। वे अपने स्वामित्व को स्थानान्तरित या क्रय–विक्रय कर सकते थे। सरकारी अधिकारियों का कृषकों के साथ सीधा संपर्क न होने से वे उनके शोषण से मुक्त हो गए।
3. एक महाल के कृषक सामूहिक रूप से सरकार द्वारा आंके गए लगान को देने के लिए जिम्मेदार थे। लाभ एवं हानि को वे आपस में बांट सकते थे। जहां भू–स्वामित्व कई परिवारों या समुदाय का था, वहां कृषक परिवारों ने कुछ प्रतिनिधि बना लिए। ये जो महाल की व्यवस्था एवं लगान के निश्चित समय पर भुगतान के लिए उत्तरदायी थे ये प्रतिनिधि लम्बरदार कहलाते थे जो सीधे राज्य को कर अदायगी करते थे।
4. लगान प्रत्येक महाल की शुद्ध उपज का दो तिहाई भाग ग्राम परिवारों के मुखिया के माध्यम से लिया जाना निश्चित किया गया।

महालवाड़ी व्यवस्था की हानि

महालवाड़ी व्यवस्था की हानियां निम्न प्रकार हैं–

1. लगान दर का अधिक होना।
2. किसान नियमित लगान देने में असमर्थ थे।
3. कृषकों को भूमि के क्रय–विक्रय का अधिकार देने से वे जरूरत पड़ने पर भूमि बेच देते थे।
4. ग्राम के मुखिया द्वारा मनमाना लगान वसूल करना।
5. लगान दर की अधिकता से किसान का शोषण होने लगा उनके लिए जीवन यापन करना कठिन हो गया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बहुत से कृषक मजदूर की श्रेणी में आ गए और छोटे–छोटे किसानों तथा खेतिहर काश्तकारों की संख्या में वृद्धि हो गई। भारत की ग्रामीण व्यवस्था में जो भाई–चारे तथा सद्भावना के संबंध थे उनमें प्रतिद्वन्द्विता तथा कटुता पैदा हो गई। बहुत से धनी लोग जो पहले उद्योगों में अपना पैसा लगाते थे, उन्होंने कृषि में अपना पैसा लगाया और किसानों से अधिक लगान वसूल करने का प्रयत्न किया। इससे स्पष्ट है कि पुरानी जमींदारी व्यवस्था मजबूत हो गई, कृषि पैदावर में गिरावट आई, कृषकों का शोषण बढ़ा तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था छिन्न–भिन्न हो गई।

कृषि का वाणिज्यीकरण

अठारहवीं शताब्दी में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के पूर्व भारत एक कृषि प्रधान देश था और इसकी अधिकांश जनता कृषि से अपना जीवनयापन करती थी। इस कृषि का

टिप्पणी

स्वरूप गांवों की आत्मनिर्भरता था। इस काल में खेतों का आकार भी संतोषजनक था। परंतु अंग्रेज शासकों के कारण कृषि के स्वरूप में एक और परिवर्तन हुआ। अंग्रेज सरकार ने अधिक से अधिक कृषि के उन उत्पादों को बढ़ाने को प्रोत्साहन दिया जिनकी ब्रिटिश निर्माताओं को आवश्यकता थी, जैसे– कपास, जूट, नील आदि। अन्य व्यावसायिक फसलें थी, जैसे– मूंगफली, तिलहन, गन्ना, तम्बाखू, चाय, रबड़। इनके साथ ही फलों तथा सब्जियों का उत्पादन बढ़ाया गया। इन व्यावसायिक फसलों से अधिक लाभ होता था। सबसे अधिक विस्तृत बाजार चाय एवं रबड़ का था। इस नीति का पालन करने में भारत की जनता की खानपान की आवश्यकता की उपेक्षा की गई।

व्यवसायीकरण के कारण

व्यवसायीकरण के कारण निम्न प्रकार हैं–

1. **अमेरिका का गृहयुद्ध** : तात्कालिक कारण अमेरिका का गृहयुद्ध था। अमेरिका के गृहयुद्ध के कारण इंग्लैण्ड को अमेरिका के दक्षिणी राज्यों से आयात होने वाली कपास की आपूर्ति बंद हो गई और लंकाशायर तथा मेनचेस्टर के सूती मिलों के सामने कपास का संकट उत्पन्न हो गया। इससे भारतीय कपास की मांग इंग्लैण्ड में बढ़ गई।
2. **स्वेज नहर का खुलना** : 1869 में स्वेज नहर आवागमन के लिए खोल दी गई। इससे भारत तथा इंग्लैण्ड की दूरी कम होने के कारण जहाजों से व्यापार करना आसान हो गया।
3. **औद्योगिक क्रांति** : इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से तेज हो रही थी। 19वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड औद्योगिक उत्पादन का प्रमुख देश था। इस उत्पादन के लिए उसे भारत से कच्चा माल प्राप्त करना आवश्यक था।
4. **भारत में रेलवे निर्माण** : 1850 के बाद भारत में रेलवे निर्माण का कार्य शुरू हुआ और शीघ्र ही सभी प्रमुख नगर रेल यातायात से जोड़ दिए गए। इससे कच्चे माल को बंदरगाहों तक ले जाना आसान हो गया और बाहर से निर्मित माल को भी देश के आंतरिक भागों में लाना आसान हो गया।
5. **विभिन्न ब्रिटिश कंपनियां** : भारत में विभिन्न ब्रिटिश कंपनियां थी जो व्यावसायिक फसलों, जैसे– कपास, जूट, नील, अफीम आदि की खेती कराकर इनका निर्यात करके लाभ कमा रही थी।

वाणिज्यिक प्रमुख फसलें

वाणिज्यिक प्रमुख फसलें निम्न हैं–

1. **चाय** : यह उद्योग सबसे जल्दी भारत में विकसित हुआ। इसने चीन के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को चुनौती दी। इसकी खेती पूंजीवादी उद्यम के आधार पर की गई। आरंभ में इस उद्योग को पूंजी, श्रमिक एवं भूमि के संबंध में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परंतु बाद में यह भारत में बहुत तेजी से फैला।

टिप्पणी

2. **अफीम** : अफीम का व्यवसाय नशे पर आधारित व्यवसाय था इसलिए इस पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण था। जब भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना हुई तब इसके व्यापार का क्षेत्र अत्यधिक सीमित था। बंगाल पर अंग्रेजों के शासन की स्थापना के साथ ही वे अफीम उत्पादन की वृद्धि का प्रयास करने लगे। 1798–99 ई. से 1816–17 ई. में चीन में एक पेटी अफीम के दाम में 333.5% वृद्धि हो गई। इस समय मालवा, मध्य भारत एवं राजपूताना की देशी रियासतों में उत्पादित अफीम बंगाल की अफीम की प्रतिद्वंद्वी बन चुकी थी। इस प्रकार बंगाल के अफीम के व्यापार को बढ़ाने के प्रयास किए गए और भारत में अफीम के व्यापार में वृद्धि की गई।

3. **नील** : नील बागानों का कार्य निर्धन श्रमिकों से करवाया जाता था। उन्हें नील के बागानों में काम करने के लिए बलपूर्वक अग्रिम राशि दी जाती थी और फिर बंधुआ श्रमिक बनाकर बागानों में काम कराया जाता था। 1860 ई. में नील आयोग की रिपोर्ट आई जिसमें कहा गया कि रैयत ने पेशगी राशि चाहे अपनी इच्छा के विरुद्ध ली या खुशी से वह कभी भी इसके बाद स्वतंत्र व्यक्ति नहीं रहा।

4. **रेशम** : अंग्रेजों की बंगाल विजय ने रेशम के उत्पादन में बहुत अधिक बदलाव की शुरुआत की। जिसमें कच्चे रेशम को ज्यादा महत्व दिया गया एवं रेशम के निर्मित उत्पादों को कम। कच्चे रेशम की सप्लाई बढ़ाने एवं उत्तम गुणवत्ता वाले धागे प्राप्त करने के लिए अलबरी वृक्षों की खेती बढ़ाई गई। इसके लिए अंग्रेजों ने उत्पादन बढ़ाने के बहुत से प्रयास किए। जिसमें खाद्यान्न फसलें उगाने वाले विमान भी रेशम की खेती की तरफ आकर्षित हुए और 1786 ई. में पुनः इसके उत्पादन में वृद्धि होने लगी।

5. **जूट** : यूरोप के कारखानों को जूट की बहुत बड़ी मात्रा में आवश्यकता थी। इसलिए यूरोपीय और ब्रिटिश व्यापारियों ने जूट उद्योग में पूंजी का अत्यधिक निवेश किया। अतः यूरोपियनों की व्यापारिक एवं औद्योगिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए पटसन की खेती पर ध्यान दिया गया ताकि यूरोपीय मिलों को सस्ता रेशा उपलब्ध हो सके। यूरोपीय व्यापारी एवं उद्योगपति पटसन और जूट से भारी लाभ अर्जित करते थे किंतु कच्चा माल देने वाले किसानों को उनके उत्पादन की बहुत ही कम कीमत देते थे।

कृषि के व्यवसायीकरण का प्रभाव

1. **किसान तथा श्रमिकों का शोषण** : नील तथा चाय की खेती पर अंग्रेजों का वर्चस्व था। वे कृषकों तथा मजदूरों पर अनेक प्रकार से अत्याचार करते थे। अंग्रेज व्यापारी नील के रंग का उत्पादन करते थे। इससे उनको लाभ होता था और भारतीय किसानों को नुकसान होता था। इसका कारण था सरकार के द्वारा किसानों से नील उत्पादन के लिए संविदा करना जिसके कारण वे खाद्यान्न फसलों का उत्पादन नहीं कर पाते थे और उनका शोषण होता था।

2. **जमींदार तथा ऋणदाता व्यापारियों को लाभ** : कृषि के व्यवसायीकरण के परिणामस्वरूप जमींदार तथा ऋणदाता व्यापारी सशक्त हो गए, उनके द्वारा

टिप्पणी

कृषकों का शोषण पहले से बढ़ गया। इस प्रणाली का मुख्य आधार अग्रिम ऋण प्रदान करना था। इसके कारण छोटे किसानों को फसल आते ही उसे बेचना पड़ता था। फसल पर उसे कम कीमत मिलती थी, उसमें वह ऋण मुक्त भी नहीं हो पाता था। उसके पास आजीविका का और कोई साधन नहीं होता था।

3. **आर्थिक असंतुलन** : संयुक्त प्रांत में व्यावसायिक खेती ने कुछ असंतुलनों को जन्म दिया। किसानों पर लगान की दर बहुत बढ़ा दी और उसको कठोरता से वसूल किया गया। इससे ऋणग्रस्तता बढ़ी और आर्थिक असंतुलन की शुरुआत हुई।

4. **गांवों में पूंजी की आवश्यकता** : कृषि के वाणिज्यीकरण के कारण भारतीय गांवों की वस्तु विनिमय क्षमता और आत्मनिर्भरता समाप्त हो गई तथा गांवों में भी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूंजी की अनिवार्यता हो गई। पूंजी आधारित अर्थव्यवस्था का निर्माण होने से गांवों में उत्पादित प्रत्येक वस्तु शहरों की ओर जाने लगी।

5. **कृषकों की निर्धनता में वृद्धि** : कृषि के वाणिज्यीकरण से व्यापारी वर्ग तथा ईस्ट इंडिया कंपनी को बहुत लाभ होने लगा परंतु किसानों की निर्धनता में वृद्धि हुई। इसका प्रमुख कारण व्यापारियों की छल–कपटपूर्ण नीति थी।

6. **अकालों की भयावहता** : कृषि के वाणिज्यीकरण के कारण फसलें औद्योगिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उगाई जाती थी। इससे खाद्यान्नों में कमी होने लगी। ब्रिटिश नीतियों ने भारतीय किसानों को अत्यधिक निर्धन बना दिया। अकाल के समय लोगों को खाद्यान्न उपलब्ध नहीं हो पाता था। 1770 में बंगाल के अकाल में एक तिहाई जनसंख्या मर गई थी। 1860–61 में पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भीषण अकाल पड़ा जिसमें 2 लाख लोग मारे गए। 1865–66 में उड़ीसा, बंगाल, बिहार, मद्रास में पड़े अकाल में बीस लाख लोग मारे गए। इस प्रकार भारत में अकालों ने जनता को भयावह स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया।

7. **भूमिहीन एवं श्रमिक वर्ग का उदय** : ब्रिटिश कृषि नीति, आर्थिक नीति व लगान प्रणाली के परिणामस्वरूप छोटे किसानों की जमीन उनके अधिकार से निकलकर साहूकारों के पास पहुंचने लगी। जिससे भारतीय किसान भूमिहीन होकर खेतिहर श्रमिक में बदल गए। खेतिहर श्रमिकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ने से समस्त खेतिहर जनसंख्या के लगभग आधे लोग इसी वर्ग में आ गए।

8. **यातायात एवं संचार साधनों में सुधार** : कृषि के वाणिज्यीकरण के कारण माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक तेज गति से पहुंचाने के लिए रेल एवं जहाज परिवहन साधनों का विकास हुआ। कंपनी ने भारत के व्यापारिक मार्गों पर अच्छी सड़कों का निर्माण किया ताकि कच्चा माल पहुंचाने में सुविधा हो सके।

इस प्रकार कृषि के वाणिज्यीकरण ने भारतीय अर्थव्यवस्था के संतुलन को बिगाड़ दिया एवं कृषि की स्थिति को जर्जर कर दिया।

टिप्पणी

ग्रामीण ऋणग्रस्तता

भारतीय ग्रामीण व्यवस्था परंपरा से आत्मनिर्भरता पर आधारित रही थी। प्रायः वस्तु विनिमय की व्यवस्था थी। मध्य काल में भी ऋण प्रणाली थी। किंतु इसका स्वरूप अत्यंत सीमित था, लेकिन अंग्रेजी राज्य स्थापित होने से इस प्रकार की ग्रामीण व्यवस्था में परिवर्तन आने लगा। कृषि का व्यवसायीकरण होने से अब कृषि उत्पादन का मुख्य उद्देश्य आत्मनिर्भरता के स्थान पर व्यापार हो गया। ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था में मुद्रा का प्रचलन बढ़ गया जो व्यवसायीकरण का प्रत्यक्ष परिणाम था। इन दो तथ्यों ने भारतीय ग्रामों की परंपरागत व्यवस्था को नष्ट कर दिया। ग्रामीण व्यवस्था का आधार व्यापार तथा वित्त पर टिक गया।

ऋणग्रस्तता के कारण

ब्रिटिश काल में ऋणग्रस्तता के लिए उत्तरदायी विभिन्न कारणों की व्याख्या निम्न प्रकार है–

1. **कृषकों की निर्धनता** : निर्धनता के कारण कृषक खेती करने में असमर्थ थे। उनके खेत छोटे और बिखरे हुए होते थे; प्राकृतिक प्रकोप, भूमि उर्वरता में कमी, सिंचाई के साधन न होना आदि समस्याओं का सामना करने में वे समर्थ नहीं थे। इसे बीज और बैल आदि के लिए साहूकार से ऋण लेने में फसल और भूमि गिरवी रखनी पड़ती थी। इस प्रकार वह साहूकार के कर्ज में डूबा रहता था।
2. **रूढ़िवादिता** : यह भी कहा गया है कि कृषकों की ऋणग्रस्तता का कारण उनकी रूढ़िवादिता तथा अंधविश्वास था। विवाह, मृत्यु, अन्य सामाजिक अवसरों के समय सामूहिक भोज देना तथा अपव्यय करने के कारण वह ऋणग्रस्त हो जाता था।
3. **ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रणाली** : ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रणाली भी ग्रामीण ऋणग्रस्तता का कारण थी। साहूकारों का नया वर्ग इस शासन के कारण निर्मित हुआ और इसमें ऋण देने तथा उसके वसूलने के लिए नए तरीके अपनाए गए जिससे कृषक निर्धन होता चला गया।
4. **ग्रामीण कुटीर धंधों का विनाश** : अंग्रेजों के आने से पहले ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर धंधों का प्रचलन था। इसके द्वारा कृषक अपनी कृषि आय के अलावा अतिरिक्त आय प्राप्त करते थे। लेकिन कुटीर धंधों के नष्ट हो जाने से उनकी अतिरिक्त आय समाप्त हो गई और अब वे पूर्ण रूप से ही जीविकोपार्जन करने लगे। उनकी निर्धनता बढ़ गई।
5. **लगान संग्रह की कठोर नीति** : सरकार द्वारा लगान की ऊँची दर निर्धारित की जाती थी जिसे किसान देने में असमर्थ थे। इसके साथ ही लगान को नियमित रूप से तथा कठोरता से वसूला जाता था। कभी–कभी वो फसल पक नहीं पाती थी और लगान की मांग की जाती थी।
6. **अंग्रेजी विधि प्रक्रिया** : अंग्रेजी से पहले किसी भी शासन के अंतर्गत सरकार ने साहूकारों को ऋणों की गारंटी नहीं दी थी। ऋणदाता तथा ऋण लेने वाला प्रायः समझौता कर लेते थे लेकिन अंग्रेजों ने न्यायिक प्रणाली स्थापित की थी। उसमें कृषक को ऋण के लिए साहूकार से औपचारिक संविदा पर हस्ताक्षर

करने पड़ते थे और ऋणदाता न्यायालयों की सहायता से अपना ऋण वसूल कर लेता था या कृषक की भूमि आदि का स्वामित्व प्राप्त करने में सफल होता था।

टिप्पणी

परिणाम : ऋणग्रस्तता के कारण कृषकों की दशा अत्यंत शोचनीय हो गयी। ब्याज चुकाने हेतु वे कम मूल्यों पर अपनी फसल बेचने को बाध्य हो जाते थे और यहां तक कि उन्हें अपने खेत भी बेचने पड़ते थे या साहूकार को ही खेत देने पड़ते थे। वास्तव में, खेत गिरवी रखते समय ही साहूकार खेत और फसल का मालिक बन जाता था और कृषक की स्थिति एक श्रमिक के समान हो जाती थी। इससे कृषि उत्पादन पर दुष्प्रभाव पड़ता था। साहूकार कृषक नहीं होते थे, अतः वे कृषि कार्य उसी कृषक के हाथों में छोड़ देते थे। बढ़ाईदार या श्रमिक रूप में इस स्थिति में कृषि उत्पादन में कमी होती गई।

सरकार द्वारा ऋणग्रस्तता रोकने के उपाय

सरकार द्वारा ऋणग्रस्तता रोकने के उपाय निम्न प्रकार हैं–

1. साहूकारों के शोषण व ऋण से राहत के लिए सरकार ने कानून का सहारा लिया।
2. 1901 ई. में पंजाब, 1904 ई. में उत्तर–पश्चिम सीमाप्रांत तथा 1916 ई. में मध्य प्रदेश में भू हस्तान्तरण कानून पारित हुआ। जिसमें साहूकारों की इजारा करने के लिए जमीन बेचना, कब्जा हस्तान्तरित करना, निषेध, बेदखल, सम्पत्ति की कुर्की, कर्ज के लिए वारिसों की जिम्मेदारी आदि से किसानों की स्थिति को सुदृढ़ किया गया।
3. बंगाल में 1759 ई. में टेनेन्सी एक्ट, 1885 ई. में लगान वृद्धि रोकने का कानून तथा 1907 ई. में किसान सुरक्षा कानून बनाया पर इसका कोई परिणाम नहीं निकला।
4. 1904 ई. में सहकारी समितियों के गठन का कानून बनाने का उद्देश्य कृषि की उन्नति के लिए पूंजी जुटाना था।
5. कृषि की उन्नति के लिए कृषि शोध संस्थान और कृषि कॉलेज खोले गए। 1929 ई. में इम्पीरियल कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च की स्थापना की गयी। 1880 के दुर्भिक्ष आयोग की सिफारिश पर लॉर्ड रिपन ने 1881 में पृथक कृषि विभाग खोला। सिंचाई साधनों के विकास के लिए पंजाब, उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत उड़ीसा आदि प्रांतों में स्वात राबी, चिनाब नदियों पर नहरें बनाई गई।

वित्त संस्थाएं : प्राचीन काल से ही किसानों द्वारा ऋण प्राप्ति के उल्लेख मिलते हैं। मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में भी यह क्रम जारी रहा। ऋण संबंधी आदान–प्रदान का कार्य मुख्यतः महाजनों एवं साहूकारों के द्वारा होता था। प्रमुख व्यापारिक नगरों और मंडियों में इनकी आढ़त होती थी, जिनके द्वारा वे अपना वाणिज्य व्यवसाय करते थे। देश के विभिन्न भागों में हुंडियों द्वारा रुपए का भुगतान करते थे तथा समय–समय पर चालान भी जारी करते थे।

कई बड़े साहूकार भी थे जो वित्त के माध्यम से राज्यों की अर्थव्यवस्था को संभालते थे, जैसे– बंगाल के जगत सेठ, गुजरात के बाथ जी, इनके पास में करोड़ों की संपत्ति थी। 18वीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कंपनी भी अपने ऋण का भुगतान करने हेतु साहूकारों का आश्रय लेती थी।

टिप्पणी

आधुनिक वित्त संस्थाओं का विकास 18वीं सदी में बंबई और कलकत्ता में विद्यमान अंग्रेजी एजेंसियों के बैंकों के रूप में हुआ। सर्वप्रथम कलकत्ता में 1808 ई. में बैंक ऑफ बंगाल, 1840 ई. में बैंक ऑफ बंबई और 1843 ई. में बैंक ऑफ मद्रास स्थापित हुए। 1862 ई. तक बैंक ईस्ट इंडिया कंपनी को ऋण, मुख्यतः अंग्रेज व्यापारियों को आर्थिक सहायता देने के साथ नोट भी चलाते थे। 1921 ई. में इन तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गई।

4.2.3 ग्रामीण अर्थतंत्र : पश्चिमी एवं दक्षिण भारत और देशी रियासतें

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ–साथ स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई। ईस्ट इंडिया कंपनी ने आकर भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। अठारहवीं शताब्दी में भारत में मुगल दरबार में दलीय राजनीति को बढ़ावा मिला और भारत में यूरोपियनों के आगमन के फलस्वरूप उपनिवेशवाद की स्थापना हुई।

प्राक् ब्रिटिशकालीन शासन प्रणाली में मुगलों की व्यवस्था ही प्रचलित रही जिसमें जागीरें दी जाती थी। जिन्हें पोलिगर कहा जाता था। इसके अतिरिक्त इनाम, मिरासदार भी जागीरदारी का रूप था जो लगान वसूली में सहयोग के साथ अर्थव्यवस्था के प्रमुख स्तंभ होते थे।

दक्षिण भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व अनेक भू–राजस्व प्रणाली प्रचलित थी। 18वीं शताब्दी में जब दक्षिण भारत में अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया तब 1783 में कंपनी ने लगान बढ़ाए जाने के उद्देश्य से एक समिति गठित की जिसने अपनी रिपोर्ट में वहां पर दो प्रकार की जमीनों का उल्लेख किया– (1) हैबली– यह भूमि का एक प्रकार था जो राज्य के संरक्षण के अंतर्गत थी (2) जमींदारों के स्वामित्व वाली पद्धति में एक समान कर प्रणाली के पक्ष में थी।

पश्चिमी भारत में लंबे समय से मराठों का वर्चस्व था परंतु 1818 में चतुर्थ आंग्ल मराठा युद्ध में उन्हें शिकस्त मिली तो यह क्षेत्र बंबई प्रेसीडेंसी के अंतर्गत आने लगा। इसके पूर्व में मराठा संघ द्वारा लगान की नीलामी एवं ठेकेदारी प्रथा का प्रचलन था जिन्हें वसूल करने का अधिकार देसाई एवं पटेलों को था। राजस्व प्रणाली में निश्चितता का अभाव था।

पश्चिम एवं दक्षिण भारत में भू–राजस्व व्यवस्था

बंगाल में स्थायी बंदोबस्त लागू करने के बाद वह व्यवस्था मद्रास में भी लागू की गई। मद्रास में भी जमींदारों के समान एक वर्ग पोलीगारों का था। वे सामंतों के समान थे। उनके पास सैनिक होते थे और वे न्यायिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था अपने क्षेत्रों में रखते थे। कार्नवालिस ने जमींदारों के साथ जैसी व्यवस्था बंगाल में की थी, वैसी ही व्यवस्था मद्रास में पोलीगारों के साथ की गई। उनसे राजस्व का इकरार किया गया लेकिन उन्हें न्यायिक और प्रशासनिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया।

मद्रास में ऐसे क्षेत्र भी थे जहां पोलीगर नहीं थे। सरकार ने यह प्रयास किया कि ऐसे क्षेत्रों में एक जमींदार वर्ग बनाया जाए। कुछ गांवों को मिलाकर एक समूह बनाया गया और नीलामी करके उसका राजस्व संग्रह का कार्य ऊंची बोली वाले को दे दिया गया लेकिन यह व्यवस्था असफल हो गयी और इसमें किसानों में असंतोष

उत्पन्न हो गया। अतः यह प्रणाली छोड़ दी गई। इसके बाद रैयतवाड़ी प्रणाली को अपनाया गया। रैयतवाड़ी प्रणाली की स्थापना का कार्य मुख्य रूप से रीड और मुनरो ने किया।

टिप्पणी

मद्रास में रीड का कार्य– मद्रास प्रांत में स्थायी बंदोबस्त लोकप्रिय नहीं था। यहां रैयतवाड़ी बंदोबस्त करने का श्रेय करताल 'अलेक्जेंडर रीड' को था। उसको 1792 में 'डिंडीगल' तथा 'बड़ा महल' का शासन सौंपा गया था। जिन जिलों में जमींदार नहीं थे वह भूमि कृषकों के अधिकार में थी। यहां के गांवों में कृषक प्रायः एक वंश के थे और परंपरा से वे सामूहिक रूप से लगान देते थे। गांव का मुखिया गांव का लगान वसूल करके सरकार को देता था। रीड ने जमीनों की पैमाइश कराई और किसान का लगान निश्चित कर दिया लेकिन यह बंदोबस्त असफल हो गया क्योंकि लगान को बहुत अधिक रखा गया था और फसल को नुकसान होने की दशा में इसमें कमी करने की कोई व्यवस्था नहीं थी।

थॉमस मुनरो तथा मद्रास भूव्यवस्था : थॉमस मुनरो जो मद्रास के 1820 से 1827 तक गवर्नर रहे, उन्होंने पुरानी कर व्यवस्था को अनुचित माना। उन्होंने कुल उपज का तीसरा भाग कर का आधार मानकर रैयतवाड़ी पद्धति को स्थायी भूमि व्यवस्था के प्रदेशों को छोड़कर शेष समस्त प्रांत में लागू कर दिया। दुर्भाग्यवश यह भी लगभग समस्त आर्थिक नीतिविदों की तरह या दूसरे भूमि कर के धन के रूप में देना पड़ता था तथा इसका वास्तविक उपज अथवा मंडी में प्रचलित भावों से कोई संबंध नहीं था, इसलिए कृषक पर अत्यधिक बोझ पड़ा।

मुनरो की भूमि कर व्यवस्था 30 वर्ष तक चलती रही और इसी से विस्तृत उत्पीड़न तथा कृषकों की कठिनाइयां उत्पन्न हुई। कृषक लोग भूमि कर देने के लिए चेट्टियों (साहूकारों) के पंजों में फंस गए। भूमि कर संग्रहण करने के प्रबंध बहुत कड़े थे और इसके लिए प्रायः यातनाएं दी जाती थी। 1855 में कुल उपज के 30% के आधार पर विस्तृत सर्वेक्षण तथा भू–व्यवस्था की योजना लागू की गई। वास्तविक कार्य 1861 में आरंभ हुआ। 1864 के नियमों के अनुसार राज्य सरकार का भाग भू–भाग का 50% निश्चित किया गया परंतु यह नियम केवल कागजी कार्यवाही ही रहा तथा प्रशासन का अंग नहीं बना। 1877–78 के भीषण अकाल में ही मद्रासी कृषकों की वास्तविक स्थिति सामने आई।

बंबई में भूमि कर व्यवस्था : 'एल्फि–मटन' तथा चैप्लिन 1819–27 तक बंबई के गवर्नर थे। उन्होंने 1819 में पेशवा से जीते हुए प्रदेशों पर विस्तार से एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। उन्होंने मराठा प्रशासन की दो मुख्य बातों की ओर ध्यान दिलाया– (1) ग्राम सभाओं का स्थानीय प्रशासन की इकाई के रूप में अस्तित्व (2) 'मिराम–भूमि' पद्धति का अस्तित्व। मिरामदार वंशानुगत भूमिदार कृषक होते थे जो स्वयं अपनी भूमि जोतते थे तथा राज्य सरकार को निश्चित भूमि कर देते थे।

चैप्लिन जो उस समय आयुक्त था, ने 1821 तथा 1822 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें उसने भूमि कर की पुरानी पद्धति का वर्णन किया तथा कुछ मूल्यवान सुझाव दिए।

प्रिंगल ने 1824–28 तक भूमि का भली–भांति सर्वेक्षण किया तथा राज्य का भाग शुद्ध उपज का 55% निश्चित किया। दुर्भाग्यवश अधिकतर सर्वेक्षण दोषपूर्ण थे तथा

उपज के अनुमान ठीक नहीं थे। फलस्वरूप भूमि कर अधिक निश्चित किया गया जिससे कृषकों को बहुत दुःख हुआ। बहुत से कृषकों ने भूमि जोतनी बंद कर दी तथा बहुत–सा क्षेत्र बंजर हो गया।

टिप्पणी

विनगेट का सर्वेक्षण तथा बंबई में रैयतवाड़ी भूव्यवस्था

1835 में लैफ्टिनेंट विनगेट जो इंजीनियरिंग कोर के पदाधिकारी थे, उन्हें भूमि सर्वेक्षण का अधीक्षक नियुक्त किया गया। उन्होंने 1847 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिस पर ई. गोल्डस्मिथ, कैप्टेन डेविडसन तथा कैप्टेन विनगेट के हस्ताक्षर थे।

मुख्य रूप से जिले के भूमि कर की मांग उस जिले के इतिहास तथा उस जिले के लोगों की अव्यवस्था अर्थात जनता को देने की शक्ति पर निर्भर थी। तत्पश्चात् समस्त जिले की मांग को व्यक्तिगत खेतों पर बांटा गया। प्राचीन समानता पर आधारित पद्धति के स्थान पर मांग भूगर्त अवस्था पर निर्धारित की गई। इसके अतिरिक्त कर भूखंडों पर निश्चित किया न कि उस कृषक की समस्त भूमि पर जिसमें कोई भी कृषक जिस खेत को चाहे छोड़ सकता था और जिस खेत को चाहे जोत सकता था। यह व्यवस्था 30 वर्ष के लिए की गई थी परंतु यह अनुमानों पर आधारित थी और यह कठोरता की ओर ही झुकी थी।

पुनः भू–व्यवस्था का कार्य 30 वर्ष के पश्चात 1868 में किया गया। अमेरिका के गृहयुद्ध के कारण कपास का मूल्य बढ़ गया। इस कारण से सर्वेक्षण अधिकारियों को भूमि कर 66% से 100% तक बढ़ाने का अवसर मिल गया। कृषकों को न्यायालय में अपील करने का अधिकार नहीं था। इस कठोरता के कारण दक्कन में 1875 में कृषि उपद्रव हुए जिससे प्रेरित होकर सरकार ने 1879 में 'दक्कन राहत अधिनियम' पारित किया जिसमें कृषकों को साहूकारों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया गया, परंतु सब कष्टों के मूल अर्थात सरकार की अधिक भूमि कर की मांग के विषय में कुछ नहीं किया गया।

रैयतवाड़ी भू–राजस्व व्यवस्था

रैयतवाड़ी व्यवस्था के संचालन के लिए 'थॉमस मुनरो' को नियुक्त किया गया और उसे स्पेशल कमिश्नर नियुक्त किया गया। 1820 में उसे मद्रास का गवर्नर नियुक्त किया गया। उसने उन सब गांवों में रैयतवाड़ी बंदोबस्त किया जिनमें जमींदारी बंदोबस्त नहीं किया गया था। रैयतवाड़ी बंदोबस्त के अंतर्गत सरकार प्रत्येक किसान से समझौता करती थी कि वह मांगा गया लगान देने को वचनबद्ध हो या भूमि छोड़ दे। इससे सरकार तथा प्रत्येक किसान के मध्य सीधा संबंध स्थापित होता था। इसमें किसी मध्यस्थ की भूमिका नहीं होती थी। रैयतवाड़ी के अंतर्गत कृषकों तथा सरकार के मध्य सीधा संबंध स्थापित हुआ।

विशेषताएं

रैयतवाड़ी भू–राजस्व व्यवस्था की विशेषताएं निम्न प्रकार हैं–

1. सरकार और रैयत के बीच सीधा बंदोबस्त।
2. एक अस्थायी काल के लिए लगान लगाना बिचौलिया–जमींदार का हस्तक्षेप नहीं था।
3. रैयत भूमि का स्वामी नहीं था।

टिप्पणी

गुण

रैयतवाड़ी व्यवस्था के गुण निम्न हैं–

1. किसान भूमि का स्वामी था।
2. भूमि की पैमाइश के पश्चात लगान का निर्धारण।
3. किसान स्वयं लगान जमा कर सकता था।
4. बंदोबस्त का समय समाप्त होने पर लगान में कमी या वृद्धि की जा सकती थी।
5. सरकार एवं किसान दोनों लाभान्वित थे।
6. जमींदारों के अत्याचारों से किसानों को मुक्ति।
4. मध्यस्थता न होने पर सरकार को लाभ।

दोष

रैयतवाड़ी व्यवस्था के दोष निम्न प्रकार हैं–

1. किसान पर छोटे–छोटे अधिकारी अत्याचार करते थे।
2. उस पर लगान अधिक लगाया जाता था जिसको अदा करने के बाद उसके पास इतनी बचत नहीं होती थी कि वह कृषि के विकास के लिए कार्य कर सके।
3. फसल खराब होने पर उसे प्रायः छूट नहीं मिलती थी क्योंकि कर्मचारी अपनी कुशलता दिखाने के लिए पूरा लगान वसूल करते थे।
4. लगान चुकाने के लिए कृषक साहूकारों से ऋण लेता था जिसमें वह साहूकार के चंगुल में फंस जाता था और अंततः भूमि पर साहूकार का स्वामित्व हो जाता था।
5. इसमें कृषकों का सामूहिक जीवन भी समाप्त हो गया क्योंकि अब वे मुखिया के माध्यम से लगान नहीं जमा कर सकते थे।

समीक्षा : ब्रिटिश अधिकारियों का प्रयास रहता था कि अधिक से अधिक मालगुजारी निश्चित की जाए। इस नीति ने कृषकों को आर्थिक दृष्टि से बर्बाद कर दिया। इस संबंध में आर.सी. दत्ता का कथन है– "प्रकृति ने एक सीमा निश्चित कर दी थी लेकिन कृषकों को अपने शासकों से उदारता नहीं प्राप्त हुई।" गांव उजड़ गए और जमीन बंजर छोड़ दी गई।

मुनरो का भूमि बंदोबस्त लगभग तीस साल चला। यह व्यापक अत्याचार तथा कृषि की दुर्दशा का कारण बन गया। किसान और गरीब हो गया। लगान अदा करने के लिए उसे महाजनों और साहूकारों से ऋण लेना पड़ा। इस प्रकार वह इनके पंजे में फंस गया। राजस्व संग्रह तंत्र अत्याचारी था। बकाया वसूल करने के लिए किसानों को यातना दी जाती थी। डॉ. एम.एस. जैन लिखते हैं, "रैयतवाड़ी प्रणाली कृषकों के लिए हानिकर सिद्ध हुई क्योंकि भू–राजस्व की मात्रा अधिक थी। किसी वर्ष की फसल खराब होने से लगान में छूट की सम्भावना बहुत–सी अनिश्चितता से घिरी रहती थी। लगान वसूल करने वाले अधिकारी बड़ी निर्दयता से लगान वसूलते थे।"

टिप्पणी

देशी रियासतें और ग्रामीण अर्थतंत्र

रियासतों का महत्व हमेशा से ही भारतीय संदर्भ में रहा है। भले ही हर काल में इसका स्वरूप अलग–अलग रहा हो। ये प्रशासनिक व्यवस्था की महत्वपूर्ण इकाई होती थी। केंद्रीय सत्ता के कमजोर होते ही ये अपने को स्वतंत्र सत्ता के रूप में परिवर्तित कर लेती थी।

मध्य काल में देशी रियासतों के रूप में राजपूतों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। सदैव से ही राजस्थान को बाहरी आक्रमणों का भय रहा है। इस कारण उन्होंने मुगलों से समझौतावादी नीति अपनाकर अपने को सुरक्षित करने की कोशिश की। इसके पश्चात् ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल में उन्होंने अंग्रेजों से संधियां की। परिणामस्वरूप सदियों से चली आ रही पारंपरिक अर्थव्यवस्था में बदलाव आने लगा और वे अंग्रेजों के अधीनस्थ बन कर रह गए। ब्रिटिश राज से पूर्व भारत में भूमि के अनेक प्रकार थे जो निम्न प्रकार हैं–

1. **खालसा** : यह वह भूमि होती थी जिसका प्रबंध केंद्रीय सरकार की ओर से होता था जिसकी आय राज्य के लिए सुरक्षित होती थी। खालसा भूमि साम्राज्य की कुल भूमि का 20% हिस्सा थी किंतु इसका क्षेत्रफल शासक के अनुसार बढ़ता एवं घटता रहता था। इस भूमि को जागीर में और जागीर को खालसा भूमि में परिवर्तित किया जा सकता था।
2. **जागीर** : यह राजा द्वारा अपने अधीनस्थ कार्य करने वाले कर्मचारियों को दी जाती थी। यह वेतन के बदले दी जाती थी। इसके बदले में राजा को वे सैनिक, असैनिक और अन्य राज्य सेवाएं देते थे। वे अपने क्षेत्र में लगान वसूलने का कार्य भी करते थे। जिसे 'रेरत' चाकरी कहा जाता था।
3. **भूमि** : भूमि के बदले सरकारी सेवाओं में चौकीदारी सीमा राहगीर और खजाने की रक्षा आदि करते थे।
4. **शासन** : इसे सघूरगल और मिल्क 'अमलाक' भूमि के रूप में जाना जाता था। राजस्थान में इसे 'शासन' कहा जाता था। यह भूमिदान स्थायी एवं वंशानुगत होता था। यह भूमिदान उस सद्र द्वारा धार्मिक व्यक्तियों विद्वानों, गरीबों, अपाहिजों एवं विधवाओं को जीविकोपार्जन के लिए दिया जाता था।
5. **चरनोता भूमि** : यह भूमि मवेशियों के लिए चारा उगाने को छोड़ी जाती थी और जो कि पूरे गांव की संपत्ति हुआ करती थी। यह भूमि पंचायत के नियंत्रण में होती थी।

इस प्रकार मध्यकालीन अर्थव्यवस्था का आधार भूमि विभाजन था। कृषकों का वर्ग भी तीन भागों में विभाजित था। 'खुदकाश्त' किसान वे खेतिहर होते थे जो उसी गांव की भूमि पर खेती करते थे, जिसके वे निवासी होते थे। उन्हें अपनी भूमि पर स्थायी एवं वंशानुगत स्वामित्व प्राप्त होता था। 'खुदकाश्त' को अपनी भूमि को बंटाई पर देने का तथा बेचने का अधिकार होता था। यदि किसान खुदकाश्त की जमीन पर बीज आदि का प्रबंध स्वयं करता था तो उसे खुदकाश्त को उपज का 1/3 भाग लगान के रूप में देना पड़ता था। यदि खुदकाश्त स्वयं इन सारी चीजों की व्यवस्था करता था तो किसान को उसे उपज का 2/3 भाग देना पड़ता था।

पाहीकाश्त वे किसान होते थे जो दूसरे गांवों में अस्थायी रूप से जाकर बंटाईदार के रूप में खेती करते थे। पाहीकाश्त के अधिकार में केवल उतनी ही भूमि होती थी, जितने पर वह अपने परिवार के श्रम का उपयोग कर खेती कर सकता था।

टिप्पणी

मराठा साम्राज्य में 'शिवाजी' ने रैयतवाड़ी व्यवस्था को लागू किया और उन्होंने भूमि की पैमाइश के आधार पर उत्पादन का अनुमान लगाया तथा लगान का निर्धारण किया। वहीं पेशवाओं के समय में इस व्यवस्था में बदलाव आ गया। 'मीरासदार' वे काश्तकार थे जिनकी अपनी भूमि होती थी तथा उत्पादन के साधनों, जैसे– हल, बैल आदि पर अधिकार होता था। मीरासदारों को संभवतः कर विमुख भूमि प्राप्त थी। शिवाजी के काल में मीराजदारों की स्थिति सामान्य किसानों के समकक्ष हो गई। मराठा अधिकारियों को मोकामा 'सरन्जाम' भूमि अनुदान के रूप में दी जाती थी जो बाद में वंशानुगत होती गई।

कालान्तर में यही काश्तकार जागीरदार के रूप में परिवर्तित हो गए और ये अपने पास घोड़े, पैदल सेना एवं अन्य चीजें राजा के सहयोग के लिए रखने लगे। 'मुआमला' जागीरदार शासक वर्ग को नजराना भेंट करते थे। 'इस्तेमरारदार' ऐसे जागीरदार थे जो राज्य को राजस्व प्रदान करते थे। 'इनामदार' ऐसे जागीरदार थे जिन्हें राजस्व मुक्त भूमि उनकी विशेष सेवाओं के लिए पुरस्कार स्वरूप प्रदान की जाती थी। इसके पश्चात राज्य की विशिष्ट सेवाओं के बदले कुछ वंशानुगत जागीरें प्रदान की जाती थी।

उदक, वक्फ, मिल्क आदि भी जागीरों का स्वरूप था जो समय–समय पर शासक वर्ग के द्वारा प्रदान की जाती थी।

भूमि व्यवस्था : मुगल शासक और इसके बाद में उभरी क्षेत्रीय राज्य व्यवस्थाओं में भी शासक वर्ग मुख्य रूप से भू–राजस्व के रूप में कृषि अधिशेष वसूल करता था। यह राशि कृषि उत्पाद की मात्रा थी जो किसान के जीवन निर्वाह की लागत को निकालकर शेष बचती थी। खालसा जमीने सीधे बादशाह के दरबार और खर्चों को पूरा करने वाली जमीनें थी। जबकि ज्यादातर जमीनों को जागीरों के रूप में शासक वर्ग के नुमाइन्दों के बीच वितरित किया जाता था। हालांकि भू–राजस्व जमीन पर वसूल किया गया लगान या किराया न होकर फसलों पर लगाया गया एक प्रकार का कर ही था, जिसे राज्य द्वारा फसल के हिस्से के रूप में वसूल किया जाता था। इसकी वसूली का सबसे सीधा और सरल तरीका 'बटाई' के नाम से जाना जाता था। सामान्य व्यवहार में एक क्षेत्र की फसलों का सर्वेक्षण करके कृषि उत्पाद का अनुमान लगाकर भू राजस्व निश्चित किया जाता था। इस निर्धारित भू–राजस्व को बाजार के भावों के हिसाब से या पहले से तय दरों के हिसाब से मुद्रा में दर्शाया जा सकता था। इस प्रणाली को 'कानकूत' के नाम से जाना जाता था। भू–राजस्व एकत्र करने की सबसे विकसित विधि 'जब्त' के नाम से जानी जाती थी और इसमें भूमि–कर को प्रति बीघा के रूप में दर्शाया जाता था और यह दर मुद्रा के रूप में अंकित की जाती थी। इस व्यवस्था में किसान और राज्य के बीच में ताकतवर बिचौलियों का आगमन हो चुका था। 'मौरलैण्ड' ने इन मध्यस्थों को पांच वर्गों में बांटा है– सरदार, नुमाइन्दे, सुपुर्ददार, माफीदार और राजस्व कृषक। सरदार ज्यादातर पराजित हिंदू देशी राजा थे जिन पर भू–राजस्व इकट्ठा करने की जिम्मेदारी रखी जाती थी और जो एक निश्चित राशि राज्य को देते थे। नुमाइन्दे गांव के चौधरी और मुखिया आदि थे जो गांव के किसानों की ओर से सरकार

टिप्पणी

को भू–राजस्व की निश्चित राशि का भुगतान करने की जिम्मेदारी ले लेते थे। सुपुर्ददार राज्य के वे सैनिक और गैर सैनिक अधिकारी होते थे जिन्हें नगद वेतन देने की बजाय कुछ क्षेत्रों से भू–राजस्व इकट्ठा करने का अधिकार दिया जाता था। इन मध्यस्थों को कुछ गैर आर्थिक दबाव और बल प्रयोग तथा किसानों को दंड देने का अधिकार दिया जाता था ताकि वे भू–राजस्व वसूली का कार्य अच्छी तरह कर सकें। माफीदार वे मध्यस्थ थे जिन्हें किसी खास राज्य की सेवा या योग्यता के बदले किसी विशेष क्षेत्र से लगान वसूल करने का अधिकार होता था। इस प्रकार के बिचौलियों और मध्यस्थों के होने का अर्थ था कि भू–राजस्व का बोझ सब किसानों पर एक जैसा नहीं था, भू–राजस्व का आकलन भले ही व्यक्तिगत किसान के लिए किया जाता रहा हो।

भू–राजस्व व्यवस्था, परंपरागत, वंशानुगत और पैतृक होने के कारण किसी प्रकार के भूमि संबंधी अधिकारों का कोई लेखा जोखा प्राप्त नहीं हुआ। भूमि पर्याप्त थी, अतएव भूमि संबंधी झगड़े बहुत कम होते थे। गांव का पटेल या मुखिया गांव के अधिकारों की रक्षा करता था। इस प्रकार राज्य सरकार या राजा कर वसूली के लिए और कृषक अपने हितों की रक्षा के लिए पटेल पर निर्भर करते थे। भूमि के स्वामित्व और उपज न होने की स्थिति में लगान से मुक्ति होने के कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर एवं स्वशासी थी।

1818 ई. में देशी रियासतों में ब्रिटिश संप्रभुता स्थापित हो जाने से उन्हें यहां 'लाटा बाटा' पद्धति पर आधारित लगान व्यवस्था दोषपूर्ण लगने लगी। उनका सोचना था कि ये बिचौलिए किसानों को डरा–धमकाकर अत्यधिक लगान की वसूली करते थे और उनका आर्थिक शोषण करते थे। राज्य के कर्मचारियों का बोझ का खर्चा भी उन्हें वहन करना होता था। इस सब व्यवस्था में अंग्रेज बदलाव चाहते थे।

प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी ने अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं किया क्योंकि वे अपने साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति को पूरा करना चाहते थे, परंतु रियासतों की आपसी प्रतिस्पर्धा और युद्धों ने उनकी वित्त व्यवस्था को खोखला कर दिया। ब्रिटिश का वार्षिक खिराज चुकाने, रियासतों पर यूरोपियन सैनिकों का खर्च, देशी शासन प्रणाली को साम्राज्य हितों के अनुसार बदलना जिससे पारगमन शुल्क, सीमा शुल्क आदि में होने वाली आय में कमी, नमक उत्पादन पर अंग्रेजी नियंत्रण की स्थापना, व्यापारिक वर्गों का राजपूताने से निर्गमन आदि के कारण राज्य की आय में कमी हो गई। जिससे नई व्यवस्था की आवश्यकता महसूस होने लगी। अंग्रेज अपने व्यापार की वृद्धि के लिए सारी अर्थव्यवस्था का संचालन अपने हाथों में केंद्रित करना चाहते थे। उनका मानना था कि अर्थतंत्र का आधार नगद होना चाहिए और मुद्रा प्रणाली का विस्तार होना चाहिए जिससे उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं को जनसाधारण वर्ग भी खरीद सके। इसके लिए उन्होंने कुछ तर्क भी प्रस्तुत किए जो निम्न हैं–

1. कृषि का व्यवसायीकरण करना तथा खाद्यान्न फसलों की जगह व्यापारिक फसलों के उत्पादन पर जोर देना।
2. शासक वर्ग राजस्व वृद्धि के लिए प्रति बीघे के हिसाब से लगान निर्धारित करने के लिए तैयार थे इसमें लाखों बीघे भूमि जो पड़त रह जाती थी कृषि उत्पादन के काम आ जाती और राज्य की आय में वृद्धि हो जाती।

रियायतों के सर्वेक्षण के आधार पर अलग–अलग रियासतों के साथ समझौता किया गया। इसके पश्चात् 1855 में भरतपुर, 1859–60 में अलवर, 1863 में जयपुर, 1893–94 में जोधपुर, 1871–72 में उदयपुर, इस भू–राजस्व के अनुसार–

टिप्पणी

1. कृषकों के लगान को निर्धारित कर दिया गया।
2. महाजन को क्षेत्र विशेष के लगान अदायगी की जिम्मेदारी सौंपी गई।
3. भू–स्वामित्व को हस्तांतरित किया जा सकता था।
4. लगान की अतिरिक्त वसूली के लिए न्यायालय के आदेश को मान्यता दी गई।
5. वाणिज्य फसलों के स्थान पर खाद्यान्न फसलों पर लगान अधिक निर्धारित किया गया।

इस व्यवस्था से अंग्रेज अपने हितों की पूर्ति करने में सफल हुए परंतु कृषकों की स्थिति शोचनीय हो गई। लागत बंदोबस्त की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि राजकीय लगान की मांग को वास्तविक खेती और खेतों की उपज से पृथक कर दिया था।

अतः इस प्रकार ब्रिटिश राज के दौरान देशी रियासतें नाममात्र की स्वायत्त संस्थाएं बनकर रह गई थी जो अंग्रेज और जनता के बीच एजेंट की भूमिका का कार्य करती थी। इसके पास स्वयं के भू–राजस्व संबंधी किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं थे। ये अंग्रेजों की दया पर निर्भर थे। उत्तरोत्तर में इनकी स्थिति असंतोषजनक तथा डांवाडोल होती गई। इनकी सीमाएं घटती गई और स्वतंत्रता कम होती गई। लॉर्ड वेलेजली की सहायक संधि की नीति देशी रियासतों के लिए आत्मविश्वास तथा ब्रिटिश साम्राज्य के लिए विकास शृंखला की महत्वपूर्ण कड़ियों के समान थी। नतीजा यह हुआ कि ब्रिटिश सार्वभौम सत्ता सारे हिंदुस्तान में फैल गई।

अपनी प्रगति जांचिए

1. कंपनी को बंगाल में भू–राजस्व संग्रह का अधिकार कब मिला?
   (क) 1765 ई. में (ख) 1766 में
   (ग) 1767 ई. में (घ) 1768 में
2. कृषि के व्यवसायीकरण का तात्कालिक कारण क्या था?
   (क) औद्योगिक क्रांति (ख) स्वेज नहर का खुलना
   (ग) अमेरिका का गृहयुद्ध (घ) भारत में रेलवे का निर्माण
3. स्थायी बंदोबस्त का क्या परिणाम हुआ?
   (क) किसानों को हानि हुई
   (ख) ईस्ट इंडिया कंपनी का दिवाला निकल गया
   (ग) बंगाल में अकाल फैल गया
   (घ) अंग्रेजों की विदेश नीति सफल हुई

4. बैंक आफ मद्रास की स्थापना कब हुई?

(क) 1844 (ख) 1843

(ग) 1845 (घ) 1850

5. स्वेज नहर को आवागमन के लिए कब खोला गया–

(क) 1870 (ख) 1871

(ग) 1869 (घ) 1877

6. मद्रास प्रांत में बोर्ड ऑफ रेवेन्यु की स्थापना कब हुई?

(क) 1792 (ख) 1790

(ग) 1786 (घ) 1788

7. 'शासन' क्या है?

(क) जागीर (ख) पद

(ग) अधिकारी (घ) प्रांत

8. रैयतवाड़ी व्यवस्था को किसने लागू किया?

(क) थॉमस मुनरो (ख) कार्नवालिस

(ग) बैंटिक (घ) वैलेजली

4.3 शहरी अर्थव्यवस्था

आधुनिक भारत की शहरी अर्थव्यवस्था में निश्चित रूप से परिवर्तन आए और उन परिवर्तनों में सततता के भी दर्शन हुए। इनके चलते ही भारत में उद्योगों का विकास भी हुआ। धीरे–धीरे उन्होंने गति पकड़ी। आधुनिक भारत में औद्योगिक क्रान्ति के जैसा वातावरण सकारात्मक दृष्टि से देखने में आया। परिणामस्वरूप उद्योगों ने विकास की राह पकड़ी। इन सबके लिए परिवहन के विकास की आवश्यकता हुई तथा आधुनिक काल में ही ब्रिटिश–राज की देन रेलवे की देश में शुरुआत हुई। रेल के आगमन से माल के ढोने में औद्योगिक क्षेत्रों को भी काफी सहायता मिली। परिणामस्वरूप उद्योगों को लाभ हुआ। देश में उद्योगों को देखते हुए संचार व्यवस्था ने भी स्वयं को विकसित किया। संचार के साधनों में डाक तथा टेलीग्राम व्यवस्था चलाई गई। इससे भी शहरी अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आया। उसकी सततता में बढ़ोतरी हुई। विचारों के आदान–प्रदान में समय की बचत भी होने लगी। इन सब प्रकार के विकास के कारण ही आधुनिक भारत में औद्योगिक नीति का निर्माण हुआ। यह नीति उद्योगों को सुचारू रूप से कार्य करने के ध्येय को रखकर बनाई गई थी। इस नीति का परिणाम भारत में और अधिक आधुनिक उद्योगों को जन्म देने के रूप में दिखायी दिया। इनसे भी शहरी अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक स्तर में सुधार हुआ। नए–नए उद्योगों के खुलने से देश ने श्रम तथा ट्रेड यूनियन आंदोलनों को भी जन्म दिया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि कहीं भी किसी क्षेत्र में जब परिवर्तन आते हैं तो नव–निर्माण गति पकड़ता है तब ऐसे परिवर्तन होने स्वाभाविक होते हैं। उथल–पुथल होती है। कुछ समस्याएं भी जन्म लेती हैं। जिनसे कुछ बदलाव आते हैं और नवीनतम व्यवस्थाओं की शुरुआत भी होती है। ऐसा

ही कुछ औद्योगिक श्रम तथा ट्रेड–यूनियन के आंदोलनों के फलस्वरूप उद्योग जगत में भी संभव हुआ। कुछ सुधार आए तो कुछ समस्याओं ने भी मुंह खोले। इन सबने भी आधुनिक काल की शहरी अर्थव्यवस्था में परिवर्तन किए तथा सततता दी।

टिप्पणी

अंग्रेजी राज से पूर्व भारत में अनेकानेक व्यापारिक शहरी केन्द्र तथा उत्पादन केन्द्रों का भी तेजी से विकास एवं विस्तार हो रहा था। एक तरफ दिल्ली, कन्नौज, पटना, लखनऊ, लाहौर, आगरा, बीजापुर, पुणे तथा गोलकुण्डा जैसे शहर राजसत्ता से जुड़ने वाले मुख्य शहर थे, तो दूसरी तरफ मिर्जापुर, मुर्शिदाबाद, अहमदाबाद, कानपुर तथा सूरत आदि व्यापार तथा व्यावसायिक गतिविधियों पर टिके हुए मुख्य शहर भी प्रसिद्ध थे।

यदि ध्यानपूर्वक विचार करें तो पाएंगे कि अंग्रेजी–राज से पहले के देशी शहरों की तुलना जनसंख्या तथा उत्पादन की व्यवस्था के आधार पर बड़ी आसानी से यूरोप के उस समय के शहरों से की जा सकती थी। वे यूरोप के शहरों से किसी भी दृष्टि से कम नहीं थे। इन देशी शहरों की एक विशेष बात यह थी कि ये औद्योगिक स्वरूप वाले शहर थे अर्थात यहां उत्पादन कारीगरों अथवा शिल्पकारों द्वारा किया या कराया जाता था। उदाहरण के लिए कपड़े तथा शोरे जैसे औद्योगिक उत्पादनों का होना, लम्बी दूरी का व्यापार–विकास, बैंक तथा बीमा प्रणाली का चलन और व्यापारियों द्वारा अग्रिम पैसा अथवा कच्चा माल आदि उपलब्ध कराकर दादनी व्यवस्था या प्रथा के अंतर्गत कारीगरों से माल तैयार करने के प्रयास आदि इस प्रकार की शहरी अर्थव्यवस्था के आधार थे। ऐसा विकास बंगाल, गुजरात और कोरोमण्डल तटों पर खूब फलफूल रहा था। इस प्रकार कह सकते हैं कि वहां पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का बीजारोपण हो रहा था।

4.3.1 कारीगर और औद्योगिक उत्पादन

हस्तशिल्प आज भी भारतीय संस्कृति और समाज का महत्वपूर्ण हिस्सा है। हस्तकला भारतीय संदर्भ में मानव के प्रारंभिक इतिहास से जुड़ी हुई है। हस्तशिल्प के अनेक कौशल सदैव से उपलब्ध रहे हैं। जो सदियों से भारतीय उद्योग और व्यापार में महत्वपूर्ण आधार बनकर यहां के लोगों के लिए जीवीकोपार्जन का महत्वपूर्ण साधन रहे हैं।

मध्यकाल में हस्तशिल्प : हस्तशिल्प के अंतर्गत वे उद्योग आते हैं जिनका उत्पादन मशीनों की सहायता से न करके हाथ द्वारा किया जाता था। इसके अंतर्गत पत्थर की मूर्तियां, बढ़ईगिरी, लोहारगिरी, हाथीदांत की वस्तुएं बनाने, तेल एवं इत्र का निर्माण, मृदभांड बनाने आदि चीजें शामिल हैं।

दिल्ली तथा मुल्तान हाथीदांत के हस्तशिल्प हेतु प्रसिद्ध था। काष्ठ उद्योग के लिए कश्मीर विख्यात था। दिल्ली, काशी व चुनार मिट्टी के बर्तन के लिए प्रसिद्ध थे। जौनपुर व गुजरात इत्र, सुगंधित तेल व गुलाब जल के लिए प्रसिद्ध थे। पंजाब, गुजरात व बंगाल नमक उत्पादन के प्रमुख केंद्र थे।

18वीं शताब्दी में हस्तशिल्प : इस काल में दो प्रकार के उद्योग ग्रामीण हस्तशिल्प उद्योग और नगरीय हस्तशिल्प उद्योग विकसित थे। भारत में ग्रामीण हस्तशिल्प उद्योग

यजमानी व्यवस्था के अंतर्गत संगठित था। नगरीय हस्तशिल्प उद्योग अपेक्षाकृत अत्यधिक विकसित थे। इतना ही नहीं, पश्चिमी देशों में इन उत्पादों की अच्छी–खासी मांग थी। ब्रिटिश आर्थिक नीति ने दोनों प्रकार के उद्योगों को प्रभावित किया। नगरीय हस्तशिल्प उद्योगों में सूती वस्त्र उद्योग अत्यधिक विकसित था। कृषि के बाद इसी क्षेत्र का स्थान था, किंतु ब्रिटिश काल की प्रतिस्पर्धा तथा भेदभावपूर्ण ब्रिटिश नीति के कारण सूती वस्त्र उद्योग का पतन हो गया।

अंग्रेजों के आने से पूर्व बंगाल में जूट उद्योग विकसित था लेकिन 1835 ई. के बाद बंगाल में जूट उद्योग में कमी आई। पूर्वी भारत में कागज उद्योग का प्रचलन था परंतु चार्ल्स वुड की इस घोषणा ने कि भारत में समस्त सरकारी कार्यों के उपयोग के लिए कागज ब्रिटेन से आएगा, कागज निर्माणकर्ताओं को निराश कर दिया।

डा. राधा कमल मुखर्जी के अनुसार भारत में कुटीर धंधों को निम्न चार भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. **कृषकों की शिल्प कला व धंधे** : इस प्रकार के धंधे ग्रामीण क्षेत्रों में कृषक वर्ग उस समय करता था जब खेती का कार्य नहीं होता था। जैसे– सूत बनाना, कपड़ा बुनना, गुड़ बनाना आदि।
2. **ग्रामीण क्षेत्रों के शिल्पकार** : लोहार, बढ़ई, कुम्हार, जुलाहे आदि।
3. **ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च शिल्पकार** : कालीन, उद्योग, रेशमी वस्त्रों को बुनना, धातु की वस्तुएं बनाना।
4. **नगरों के कुटीर उद्योग** : यह शिल्पकारों का उच्चतम वर्ग था और उनकी निर्मित वस्तुओं की देश के विभिन्न भागों तथा निर्यात व्यापारियों द्वारा मांग की जाती थी। इसमें हाथीदांत के कलात्मक कार्य, बहुमूल्य मणियां तथा आभूषण, उच्चकोटि के वस्त्र जैसे ढाका की मलमल, कश्मीर के ऊनी शाल आदि थे। शिल्पकार प्रायः वंशानुगत थे और जाति व्यवस्था के आधार पर कार्य करते थे।

हस्तशिल्प उद्योगों का पतन : अंग्रेजों के आने के बाद 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में इन कुटीर धंधों का विनाश आरंभ हुआ। प्रायः 1800–1850 का काल इस विनाश का काल माना जाता है। कुछ विदेशी विद्वानों का मत है कि औद्योगिक क्रांति होने की दशा में हस्तशिल्प का ह्रास होना अवश्यम्भावी है। यह सही है, परंतु भारत के संदर्भ में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यह विनाश इसलिए हुआ क्योंकि अंग्रेजी सरकार ने ब्रिटिश उद्योगपतियों का समर्थन करते हुए भारतीय कुटीर उद्योगों का विनाश कराया जिससे ब्रिटिश उद्योगपतियों द्वारा निर्मित माल भारत में बिक सके। इसका परिणाम यह हुआ कि हस्तकला का विकास कमजोर पड़ता गया।

बैंटिक ने कहा "इस दुर्दशा का व्यापार के इतिहास में जोड़ नहीं, भारतीय बुनकरों की हड्डियां भारत के मैदानों में बिखरी पड़ी हैं।"

पतन के कारण

हस्तशिल्प उद्योगों के पतन के निम्नलिखित कारण हैं–

1. **राजकीय संरक्षण का अभाव** : भारतीय राजा उच्चकोटि के शिल्पकारों को राजाश्रय प्रदान करते थे और कलात्मक उत्पादनों को प्रोत्साहन देते थे। इस

टिप्पणी

प्रकार के राज–दरबार अब नहीं रहे। मुगल सम्राट तथा साम्राज्य के उच्च अधिकारियों की नीति शिल्पों को प्रोत्साहन देने की थी।

2. **विदेशी शासन का दुष्प्रभाव** : अंग्रेजी सत्ता की स्थापना से स्थिति में परिवर्तन आया। यूरोपीय अधिकारी वर्ग भारतीय वस्तुओं का तिरस्कार करता था। वे विदेशी वस्तुओं, विशेष रूप से ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं को अपनाते थे तथा उन्हें संरक्षण देते थे।

3. **ईस्ट इंडिया कंपनी की नीति** : कंपनी ने भी सुनियोजित नीति के द्वारा भारतीय कुटीर धंधों को नष्ट कर दिया। प्रारंभ में कंपनी भारत में निर्मित वस्तुओं को इंग्लैण्ड तथा यूरोपीय देशों में बेचती थी लेकिन बाद में उसने इस नीति को बदल दिया और अब वह केवल कच्चा माल इंग्लैण्ड को भेजती थी और वहां की निर्मित वस्तुओं को भारत बेचती थी। 1700 ई. तथा 1721 ई. के काल में विभिन्न आदेशों के अंतर्गत भारत में रंगे तथा छपे हुए भारतीय सूती वस्त्रों का इंग्लैण्ड में लाना रोका गया।

4. **मशीन द्वारा निर्मित वस्तुओं से स्पर्द्धा** : इंग्लैण्ड में इस समय औद्योगिक क्रांति हो रही थी और मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर तथा कम लागत पर वस्तुओं का उत्पादन हो रहा था। भारत के कुटीर धंधे मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते थे।

5. **राजनीतिक शक्ति का प्रयोग** : बी.डी. वसु ने यह तर्क भी प्रस्तुत किया है कि भारत के कुटीर धंधों को नष्ट करने में इंग्लैण्ड ने राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया था, यह राजनीतिक शक्ति का प्रयोग विभिन्न प्रकार से किया गया था, जैसे– भारत में स्वतंत्र व्यापार को थोंपना, भारतीय माल के आयात पर भारी कर लगाना, ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना जिनसे भारत से केवल कच्चा माल निर्यात किया जा सके, भारतीय माल के आवागमन में बाधाएं डालना आदि नीतियां थी।

6. भारतीय कुटीर धंधों को नष्ट करके अंग्रेजों की नीति यह थी कि भारत का औद्योगिक स्वरूप नष्ट कर दिया जाए और भारत कृषि उत्पादन करने वाला केवल कृषि प्रधान देश बनकर जाए। 1769 ई. के बाद से ही कंपनी ने भारत में अपने अधिकारियों को निर्देश देना आरंभ कर दिया था कि भारत में वस्तुओं का निर्माण न किया जाए, बल्कि कच्चा माल इंग्लैण्ड भेज दिया जाए। 1833 ई. तक भारत के उद्योगों का लगभग सफाया हो गया था। यह ब्रिटिश उत्पादकों के लाभ के लिए किया गया था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप इंग्लैण्ड को कच्चा माल प्राप्त करने तथा निर्मित वस्तु बेचने के लिए बाजारों की आवश्यकता थी। इसी प्रकार की औपनिवेशिक नीति भारत के बारे में अपनायी गयी जिसके कारण भारतीय अर्थव्यवस्था का ग्रामीकरण तथा कृषि का व्यवसायीकरण किया गया।

4.3.2 विऔद्योगिकीकरण पर बहस

उद्योग की स्थिति भारत के पिछड़ेपन का मूल कारण थी। 19वीं शताब्दी के दौरान भारत पर उन्मुक्त व्यापार की नीति लादना और ब्रिटेन के सस्ते तैयार माल का आयात करना,

टिप्पणी

यहां के हस्तशिल्प एवं शिल्पगत उद्योग के पतन का मूल कारण था। इन उद्योगों के पतन के कारण कृषि क्षेत्र पर दबाव बढ़ा क्योंकि इन शिल्पकारों के पास कोई और वैकल्पिक रोजगार नहीं था और न ही ये उसे ढूंढ पाये। जिसके कारण ये कृषि क्षेत्र में ही काश्तकारों, बटाइदारों और कृषि मजदूर के रूप में काम करने लगे। 19वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास हुआ किंतु उत्पादन एवं रोजगार दोनों के संदर्भ में औद्योगिक विकास का स्तर नीचा रहा। विकसित देशों के साथ इसकी तुलना करना व्यर्थ था। इसने हस्तशिल्प उद्योग के विस्थापन की क्षतिपूर्ति नहीं की। भारतीय उद्योग का विकास मुख्यतया कपास, कागज, पटसन, चाय, ईंट, सीमेंट और कागज तक सीमित रहा। 1907 के बाद लोहे तथा इस्पात उद्योगों में भी कुछ विकास हुआ। ब्रिटिश शासन के अंत में राष्ट्रीय आय में आधुनिक उद्योगों का भाग केवल 7. 5 प्रतिशत था। बैंक और बीमा उद्योग भी काफी पिछड़े हुए थे।

1930 के दशक के अंत तक औद्योगिक एवं वित्तीय क्षेत्रों में विदेशी पूंजी का वर्चस्व रहा और विदेशी व्यापार श्रृंखला के साथ–साथ निर्यात पर आधारित आंतरिक व्यापार पर नियंत्रण रहा। कोयला खदान, पटसन उद्योग और जहाज परिवहन का वर्चस्व रहा। किंतु विदेशी पूंजी का नकारात्मक प्रभाव रहा क्योंकि राज्य शक्ति विदेशी नियंत्रण में थी। भारतीय औद्योगिक विकास का एक और नकारात्मक पहलू इसका निर्यात असंतुलित क्षेत्रीय चरित्र था। उद्योग देश के कुछ क्षेत्रों और शहरों तक केंद्रित थे। यद्यपि 1930 और 40 के दशक में भारत में 65000 मील पक्की सड़कें और लगभग 42000 मील लंबी रेल पटरी थी। रेलों और सड़कों ने देश को आपस में जोड़ा तथा माल और सवारियों के आगे जाने में तेजी आई किंतु औद्योगिक विकास के अभाव में इसका लाभ केवल व्यापार को मिला। जिसने भारतीय अर्थव्यवस्था को और भी औपनिवेशिक बना दिया। रेल पटरियां केवल व्यापारिक लाभ के लिये बनाई गई थी ताकि देश के आंतरिक भागों से बंदरगाह तक तथा इंग्लैंड से आयात किया गया तैयार माल बंदरगाहों से देश के आंतरिक भागों तक पहुंचाया जा सके। भारतीय उद्योगों के लिये सस्ते और कच्चे माल के स्रोतों की आवश्कताओं को नजरअंदाज कर दिया गया। सकारात्मक पहलू यही था कि उपभोक्ता उद्योगों वाले कई छोटे–छोटे किंतु भारतीय स्वामित्व वाले उद्योगों जैसे– कपास, पटसन, कपड़ा, चीनी, साबुन, कागज और माचिस का विकास हुआ। लोहा इस्पात, सीमेंट, धातुविज्ञान और इंजीनियरी जैसे माध्यमिक पूंजीगत माल के उद्योगों का विकास भी 1947 से पहले आरंभ हो चुका था यद्यपि बहुत निम्न स्तर पर था।

1914 के पश्चात स्वतंत्र आर्थिक एवं वित्तीय आधार सहित शक्तिशाली देशी पूंजीवादी वर्ग का अभ्युदय भी हुआ। विदेशी पूंजी से मुक्त भारतीय पूंजीपति प्रमुख थे। दूसरे विश्व युद्ध के अंत तक बड़ी औद्योगिक इकाइयों का 60 प्रतिशत भारतीय पूंजी के नियंत्रण में था। छोटे स्तर के औद्योगिक क्षेत्रों ने बड़े स्तर से अधिक राष्ट्रीय आय उत्पन्न की जो लगभग पूर्णतया भारतीय पूंजी पर आधारित थे। 1947 तक भारतीय बैंकों और जीवन बीमा के क्षेत्रों में उल्लेखनीय उन्नति हुई। समस्त जमा–खातों का 64 प्रतिशत संयुक्त पूंजी वाले बैंकों के पास था और जीवन बीमा में भारतीय स्वामित्व वाली कंपनियों के पास 75 प्रतिशत पूंजी थी तथा आंतरिक व्यापार का बहुत बड़ा भाग और विदेशी व्यापार का कुछ भाग भी भारतीय हाथों में आ गया था।

टिप्पणी

विऔद्योगीकरण–कारण तथा परिणाम

ब्रिटिश नीतियों का एक घातक परिणाम भारत का विऔद्योगीकरण था। यह एक दोहरी प्रक्रिया थी जैसे–

1. भारत के सदियों पुराने हस्त उद्योगों को नष्ट किया गया जो रोजगार का बड़ा साधन था और हमारी सांस्कृतिक विरासत का भाग था।
2. भारत को ओद्यौगिक क्रांति के फल से वंचित रखा गया था तथा आधुनिक उद्योग लगने न देने की प्रक्रिया प्रथम विश्व युद्ध तक चलती रही।

डेनिअल थार्नेर, जिन्होंने इस संकल्पना का आलोचनात्मक विश्लेषण किया है, इसके परिणामों का वर्णन करते हुए कहा है–

1. ब्रिटिश सरकार ने सब कुछ सोची समझी चाल से किया ताकि ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति सफल हो सके। इस हेतु ही भारत को मुक्त व्यापार का सबसे बड़ा क्षेत्र बनाया गया। इस प्रक्रिया ने भारत से धन निकासी को तेज कर दिया।
2. भारत की पारंपरिक आत्मनिर्भरता समाप्त हो गई।
3. कार्यशील श्रम बल खासकर उद्योग में कम हो गया।
4. निर्माण उद्योग में भी रोजगार की कमी आ गई।
5. भारतीय हस्त तथा कुटीर उद्योग नष्ट हो गए। नगर उजड़ गए। पश्चिम में औद्यौगिक क्रांति होने से कारीगर नए काम में लग गए किंतु भारत में उन्हें किसान बनना पड़ा क्योंकि यहां नए उद्योग विकसित ही नहीं हुए थे।
6. भारत का बाजार ब्रिटिश माल से भर गया था। वह सिर्फ़ कच्चे माल का निर्यात करता था।
7. विश्वयुद्ध काल में भारत को दिक्कत का सामना करना पड़ा क्योंकि विदेश से माल की आपूर्ति बंद हो गई थी।

4.3.3 आंतरिक बाजारों एवं शहरी केंद्रों का विकास तथा डाक, टेलीग्राफ व रेल संचार

शहरी मंडियों तथा व्यावसायिक केंद्रों का विकास

19वीं सदी के आरम्भ में, शहरी मंडियां तथा व्यावसायिक केंद्र जो विकसित हुए थे, वे सब ज्यादातर महानगरीय अर्थव्यवस्था की व्यापारिक आवश्यकताओं से संबंधित रहे थे। अतः तत्कालीन अलग–अलग प्रकारों के उत्पादों से वाणिज्यीकरण ने जमीन, श्रम तथा साख को विकसित करने में सहायता की थी। इस प्रकार वाणिज्यीकरण से शहर भी प्रभाव में आए थे। ग्रामीण उद्योगों में भी बढ़त हुई थी। ग्रामीण उद्योगों की इस बढ़त ने शहरी विकास में भी अपना योगदान प्रदान किया था। मंडियों में वस्तुएं ग्रामों से भी आती थीं। इसके साथ ही ऋणदाता (साहूकार महाजन) भी ग्रामों में ही निवास करते थे। इसी प्रकार व्यापारी–वाणिज्य, यातायात के ज्ञाता तथा कृषि के उत्पादनों को अच्छी तरह से तैयार करने वाले जानकार पहले से ही व्यापारिक शहरों (बनारस, आगरा) में व्यापारिक दृष्टि को ध्यान में रखते हुए औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था से लाभकारी स्थिति

टिप्पणी

में पहुंचे। ये नए कस्बों (मिर्जापुर, अनूपशहर आदि) में भी आकर बसने लगे थे। इन शहरों में आकर इन्होंने नये व्यापारिक केंद्रों का निर्माण किया तथा गोदाम बनाने शुरू कर दिए थे। अपनी नई बस्तियां भी बसानी शुरू कर दी थीं। देखा जाये तो उस समय मिर्जापुर का विस्तार सन् 1815 से सन् 1850 के बीच दोगुना हो गया था। इसका कारण यहां कपास के व्यापार का अधिक मात्रा में फलना–फूलना रहा था। इसी प्रकार व्यापारिक दृष्टि से ब्रिटिश क्षेत्रों के और भी अनेक मुख्य स्थानों पर क्षेत्रों का व्यापार काफी विस्तृत हो गया था, यथा– बरेली, आगरा, इलाहाबाद, कानपुर, बनारस, फर्रुखाबाद आदि। और तो और 18वीं सदी में दिल्ली में जो परिवर्तन हुए थे, उसके बाद दिल्ली ने भी स्वयं फिर से आत्मनिर्भर बनना शुरू कर दिया था।

व्यापारिक दृष्टि से उत्तर भारत के अन्य क्षेत्र ज्यादा विकसित नहीं हो पाए थे। लखनऊ उस समय उत्तर भारत का एक विकसित शहर अवश्य माना जाता था। उसके बाद भी उसका विकास बढ़ता ही रहा था। कारण, यह इस प्रांत की राजधानी भी था तथा दिल्ली का पतन होने के पश्चात् इस शहर का महत्व और भी अनेक कारणों से बढ़ गया था।

19वीं सदी में लाहौर भी विकसित होने लगा था। कारण, रणजीत सिंह की शक्ति दिनोदिन बढ़ने लगी थी। एक अनुमान के अनुसार सन् 1847 में लाहौर शहर की जनसंख्या 85,000 के आस–पास थी। फिर भी 17वीं सदी जैसी उन्नति तो लाहौर अब भी नहीं कर पाया था। 17वीं सदी में तो लाहौर की तुलना लंदन से की जाती थी। व्यापारिक दृष्टि से अमृतसर भी उभार पर था। यह शहर उस समय गंगा घाटी तथा कश्मीर और अफगानिस्तान के बीच विलासितापूर्ण वस्तुओं के व्यापार का केंद्र बना हुआ था। जबकि मध्य भारत के शहर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं थे। ऐसे शहरों में नागपुर का नाम लिया जा सकता है। नागपुर में किसी प्रकार की व्यापारिक हलचल नहीं हो पा रही थी। इसका कारण था, प्रथम युद्ध और उसके बाद दरबारों के स्थान परिवर्तन के बाद इन मध्य भारतीय शहरों का पतन। परंतु समय परिवर्तित होता है अतः सन् 1830 तथा 1840 के मध्य भारतीय शहरों के विकास में उभार आना शुरू हो गया था। उस समय राजस्थान के शहर विकसित एवं स्थायी स्थिति में मौजूद थे। लेकिन इस दौर में जो विशेष बात देखने में आ रही थी, वह थी– कोई भी दरबारी प्रशासनिक क्षेत्र या केंद्र उतनी तीव्रता से विस्तार नहीं ले पा रहा था, जितनी तीव्रता से ब्रिटिश–विजित क्षेत्र के व्यापारिक केंद्र ले रहे थे।

आर्थिक कार्य कलापों का विकास

उत्तर भारत में सन् 1757 से 1857 के मध्य महानगरों की अर्थव्यवस्था के फलस्वरूप आर्थिक कार्यकलापों का विकास हुआ माना गया था। इन आर्थिक कार्यकलापों के विकास के दो प्रमुख कारण विशेष थे, जैसे–

1. **निर्यात–फसलों की मांग**– इन फसलों की मांग के कारण ही पूरे उत्तर भारत की अर्थव्यवस्था में सुधार आया था। यह निर्यात का धंधा गंगा नदी के रास्ते होता हुआ कलकत्ता तक किया जाता था। व्यापारिक गतिविधियां गतिमान रहती थीं। इन व्यापार धंधों से यातायात व्यवस्था भी सुधरी थी। गंगा नदी पर ज्यादा नौकाओं ने डेरा डाल दिया था। ये माल को लाने–ले जाने का कार्य करती थीं। सड़क यातायात के लिए पशुओं के स्थान पर बैलगाड़ियों ने स्थान ले लिया था।

टिप्पणी

जिन क्षेत्रों में नदी का बहाव अधिक तीव्र था, वहां कृषि अधिक फली–फूली थी। परिणाम यह निकला कि, ये क्षेत्र कपास, नील, चीनी तथा अफीम का उत्पादन अधिकतम मात्रा में करने लगे थे। गंगा किनारे की बाकी बची भूमि भी फसलें उगलने लगी थी। इसके फलस्वरूप स्थानीय व्यापार भी बढ़ने लगा था। नदी किनारे शहरों ने बसना और विकसित होना शुरू कर दिया था। इसका कारण था, उत्तर तथा पश्चिमी भारत से व्यापारी वर्ग विकसित हो रहे व्यापार का लाभ उठाने के ध्येय से गंगा किनारे इन शहरो ंमें आकर बसने शुरू हो गए थे। कलकत्ता इसी का उदाहरण था। कलकत्ता व्यापार का केंद्र बिंदु बन गया था। इसका कारण यहां बंदरगाह का होना भी रहा था। पूरे उत्तर भारत के व्यापारी इस शहर की गतिविधियों का जायजा लेते रहते थे जबकि यह उत्तर भारत का शहर नहीं था। कारण, यह व्यापार के केंद्र के रूप में ख्याति प्राप्त स्थिति में था।

2. **दैनिक जीवन की उपयोगी वस्तुओं की मांग**– देखा जाये तो आधुनिक भारत के उत्पादन तथा वितरण का पूरा–का–पूरा विस्तार सन् 1757 से पूर्व के व्यापारिक संगठन के आधार पर ही आधारित था। उसका स्वरूप तथा संपूर्ण ढांचा पहले की तरह था। उत्तर भारत में तो मुगलिया दौर से ही आपस में मिले–जुले व्यापारिक केंद्रों का ढांचा कार्यरत था। मंडियां अलग–अलग वस्तुओं के क्रय–विक्रय के लिए जानी जाती थी, यथा– सब्जी मंडी, अनाज मंडी, गुड़ मंडी, सर्राफा मंडी आदि। सन् 1857 तक भी मंडियों का विभाजन यथावत ही रहा था, परंतु यह भी सच है कि समय के अनुसार थोड़ा–बहुत बदलाव तो आ भी रहा था। उदाहरण के लिए आधुनिक काल में ग्रामीण यूनाइटिड प्रॉविंस में मशीन से बने कपड़ों की मांग बढ़ चुकी थी क्योंकि बाजार में मशीन से बना कपड़ा आना शुरू हो गया था। विलासितापूर्ण वस्तुओं के स्थान पर दैनिक जीवन की उपयोगी वस्तुओं की मांग बढ़ गई थी। उदाहरण के लिए शालों का निर्यात बढ़ना शुरू हो गया था। कारीगर तथा किसान वर्ग पहले अपने उत्पादों को स्थानीय (ग्रामीण तथा कस्बाई आंचलों में) बाजारों, हाटों में ही बेचने आते थे। खुदरा व्यापार के लिए तथा क्षेत्रीय व्यापार के लिए अमृतसर, नागपुर तथा जयपुर अत्यधिक प्रसिद्ध थे। ये व्यापारी मंड़ियों पर अपना नियंत्रण पूरी तरह बनाए रखते थे। उत्तर भारत के व्यापारी उत्पादन में सीधा हस्तक्षेप नहीं करते थे। अपितु पर्याप्त मात्रा में उत्पादित माल प्राप्त कर लेते थे। ये तो खेती और खेतों पर नियंत्रण करने के यत्न करने से भी नहीं चूकते थे। ऐसा प्रतिष्ठा बनाए रखने के कारण भी होता था। वे स्वयं भी उत्पादन प्रक्रिया में सम्मिलित होना चाहते थे। उससे जुड़ना चाहते थे। अभी तक तकनीकी तथा कृषि के उत्पादन की प्रक्रिया में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन भी नहीं देखा गया था।

19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में शहरी गिरावट नहीं हुई थी। हां, यह जरूर था कि पुराने शहरों तथा व्यापारिक केंद्रों की जनसंख्या में कमी आने अथवा स्थिर रहने का पता तो चलता है। किंतु नये औपनिवेशिक महानगरों के तीव्रता से आगे बढ़ने का ज्ञान भी प्राप्त होता है। ऐसे नगरों में कलकत्ता का नाम सबसे ऊपर था। इनके साथ–साथ नये प्रशासनिक तथा व्यापारिक केंद्रों का विस्तार भी हो रहा था, यथा– भागलपुर, आरा, छपरा, सेरामपुर, कटक, घिनपुरा आदि। एक अध्ययन से पता चलता है कि सन् 1815 में ढाका की आबादी 1,50,000 थी, लेकिन, वहां के मजिस्ट्रेट के रिकार्ड के आधार पर

टिप्पणी

यह आबादी मात्र 67,000 ही थी। सन् 1830 तथा 1872 के बीच ढाका की जनसंख्या का अनुमान लगभग 68,000 लगाया गया था। इससे प्रमाणित होता है कि शहर का विकास न के बराबर ही हो पा रहा था। जनसंख्या के मामले में मुर्शिदाबाद की हालत काफी कमजोर थी। उधर कलकत्ता उन्नति के मार्ग पर जा रहा था। सन् 1821–22 में कलकत्ता की आबादी 1,80,000 थी। जबकि सन् 1872 में ये संख्या काफी आगे बढ़ी पाई गई थी। बिहार तथा उड़ीसा के अनेक कस्बों ने प्रशासनिक तथा व्यापारिक केंद्रों के रूप में अच्छी उन्नति की थी। यह दौर 19वीं सदी का रहा था। इसी तरह 18वीं तथा 19वीं सदी में पश्चिमी भारत की व्यापार संबंधी परिस्थितियों में, राजनीतिक बदलावों के कारण काफी बदलाव आया था। इसमें बहुत से शहरों में आर्थिक उतार–चढ़ाव आए थे। पूना जो सन् 1750 तक एक छोटा सा कस्बा था, 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पेशवाओं की गद्दी का प्रशासनिक केंद्र बन चुका था। उन्हें मराठा राज्य का संरक्षण प्राप्त था। इस दौर में ब्राह्मण साहूकारों की तूती बोलने लगी थीं। उनकी व्यापारिक तथा महाजनी संबंधी गतिविधियां अत्यंत तीव्र हो गई थी। किंतु सन् 1818 में पेशवाओं की पराजय के पश्चात् पूना की व्यापारिक महत्ता फिर गिरावट पर आ गई थी। परंतु सन् 1850 के बाद फिर यह कस्बा अपने पूर्ववत रूप में आ गया था। 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पूना, नासिक, शोलापुर, धारवाड़ आदि शहरों में व्यापारी–महाजनों के नये मौहल्ले आबाद किए गए थे। इस समय दक्कन प्रदेश के कुछ अन्य शहरों का व्यापारिक महत्व काफी बढ़ चुका था, यथा– शोलापुर तथा हुबली आदि शहर व्यापार के अड्डे बन चुके थे।

18वीं सदी के दूसरे दौर में सिंध में व्यापार के प्राचीन केंद्र थाटा में काफी गिरावट आ गई थी, उधर दूसरे व्यापारिक केंद्र शिकारपुर, करांची आदि विकसित होते चले गए थे। सन् 1768 में गुलाम शाह कल्होरा द्वारा बसाया नया शहर हैदराबाद भी काफी उन्नति कर गया था। इसी दौर में उत्तरार्द्ध में भावनगर के रावलों के यत्नों से काठियावाड़ में भावनगर काफी प्रसिद्धि पा गया था। काठियावाड़ के ही क्षेत्र (व्यापार से जुड़े केंद्र) गोध तथा धोलेरा अवनति की ओर चले गए थे।

17वीं सदी में अंग्रेज तथा डच की व्यापारिक कंपनियों ने व्यापारिक गतिविधियों में हलचल मचा दी थी। इन्हीं गतिविधियों के चलते सूरत पश्चिमी भारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केंद्र स्थापित हो चुका था। जबकि काम्बे नामक अत्यंत महत्वपूर्ण व्यापारिक बंदरगाह का समुद्री व्यापार में महत्व कम होता चला गया था। 18वीं सदी के शुरू में तो यह लुप्त–सा ही हो गया था। यही कुछ दशा भडुच की भी हुई थी। 18वीं सदी के शुरू में तो अहमदाबाद शहर भी व्यापार की दृष्टि से काफी पीछे पिछड़ गया था। अंग्रेजी–शासन के समय में 19वीं सदी के शुरू में यह फिर से अपने पुराने रूप में उभरा था। सूरत बंदरगाह का व्यापार भी कम होने लगा था। दक्षिण के बंदरगाह (कारवाड़, कुमरा, होनावर आदि) भी व्यापारिक दृष्टि से अपना महत्व खोते जा रहे थे। परंतु, 19वीं सदी के प्रारंभ से ही मुंबई का बंदरगाह, ईस्ट इंडिया कंपनी के पश्चिमी भारत में राजनीतिक एवं व्यापारिक राजधानी के रूप में अपने उभार पर आया था। परिणामस्वरूप देखते ही देखते सारा–का–सारा समुद्री–व्यापार यहीं सिमट कर रह गया था। ऐसी स्थिति बनती देख सन् 1795 के पश्चात् सूरत के व्यापारियों ने भी इधर का ही रूख कर लिया था। वे यहीं आकर बसने लगे थे। अपना व्यापार फैलाने लगे थे। उधर ब्रिटिश प्रशासकों ने और व्यापारी वर्ग ने भी यहां की व्यापारिक गतिविधियों

टिप्पणी

में हस्तक्षेप करने शुरू कर दिए थे। इसके लिए उन्होंने भारत के दलालों, बिचौलियों को अपने विश्वास में लिया था। ऐसे ही दौर में बहुत से धनी भारतीय व्यापारी, दलाल, बिचौलिये उनके साथ हो लिए थे। शायद ये 'फूट डालो और राज करो' वाली नीति का ही एक हिस्सा था।

ब्रिटिश–काल में जो बंदरगाहों से जुड़े शहरों का विकास किया गया उनकी एक विशेषता यह भी थी कि शहरों के प्राकृतिक स्थान को निवास के लिए चुना गया था। तत्पश्चात् उन्हें नस्ल तथा रंग के आधार पर विभाजित भी किया गया था। यूरोपीय कंपनियों ने भी इसी नीति–रीति का अनुसरण किया था। शहरों के इन निवासों को ऊंची दीवारों तथा बागों के जरिये बाकी शहरी आबादी से अलग किया गया था। भारतीय वास्तुकला को भी ध्यान में रखा गया था। इन नये व्यापारिक केंद्रों में भारत के व्यापारी वर्ग की आजादी प्रायः 19वीं सदी से पहले ही समाप्त कर दी गई थी। किंतु यूरोपीय नीति के चलते व्यापारियों तथा निर्यात–व्यापार में लगे एजेंसी घरानों ने बिचौलियों के रूप में इनकी सेवाएं लेनी जारी रखी थी। परंतु यह भी सच है कि इन हालातों में भी कुछ बड़ी व्यापारिक जातियां (तमिलनाडु के चेट्टियार, तेलुगु के कोमती तथा कन्नड़ के बालिजा अथवा मुसलमान लब्बाई व्यापारी) सदियों से एकजुट होकर अपने व्यापार कर्म में लगी हुई थी। ऐसे में यूरोप के नये व्यापारिक केंद्रों के विकास ने इनकी सामाजिक सुदृढ़ स्थिति में हस्तक्षेप न करके अनेक बार इन्हें व्यापार–कर्म और साहूकार के व्यवसाय के नये अवसर भी दिये। इन कर्मों के कारण ही यूरोप के व्यापारियों के बिचौलियों के रूप में काम करने से अनेक व्यापारी–वर्ग (कलकत्ता में मारवाड़ी, मुंबई में पारसी) अत्यंत सम्पन्न स्थिति में पहुंच गए थे। अपनी दलाली तथा बिचौलिये की जमा पूंजी को इन लोगों ने नये औद्योगिक क्षेत्रों में भी लगाया तथा लाभ प्राप्त किया। बिड़ला और टाटा घराने इस बात का जीता जागता उदाहरण हैं।

यह बात भी महत्वपूर्ण है कि औपनिवेशिकता के दौर में शहरों का स्वरूप यूरोप से अलग–थलग ही था। जैसा कि सर्वविदित है कि यूरोप में औद्योगीकरण से ही आधुनिक शहर बसे थे। इसी प्रकार भारत के औपनिवेशिक ढंग के शहरीकरण में भी नये शहर और महानगर व्यापार तथा प्रशासनिक केंद्रों के रूप में अपना स्थान बना पाए। वैसे कभी–कभी इन शहरों के आस–पास भी कुछ कल–कारखाने खोले गए थे। ऐसा 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कलकत्ता शहर के बीचोंबीच हुआ था। जहां कलकत्ता में जूट का उद्योग या कलकारखाना खोला गया। वहीं मुंबई में सूती कपड़ों की मिलें खोली गई थीं। इन्हीं की देखा–देखी कह सकते हैं कि कुछ समय बाद अनेक आधुनिक मशीनों से लैस उद्योग भी अहमदाबाद, जमशेदपुर, कानपुर, मद्रास आदि शहरों में खुले थे। ये उद्योग लोहे–इस्पात, चमड़े, कपड़े आदि के थे। सन् 1853–54 से रेलवे मार्गों का विकास हुआ। इन्होंने भी व्यापार–वाणिज्य जगत को पंख लगा दिए थे। वैसे रेलवे के विकास का उद्देश्य मुख्य रूप से तो कुछ समुद्री तटों पर स्थित बंदरगाहों के शहरों को देश के भीतरी भागों से जोड़ना ही अधिक था। इन शहरों में कलकत्ता, मद्रास, मुंबई, करांची आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं, इनसे औपनिवेशिक व्यापार के ढांचे को सुदृढ़ता भी मिली थी। रेलवे के ही प्रयासों से कृषि उत्पादन का निर्यात तथा इंग्लैंड के औद्योगिक माल को देश भर की मंडियों में भेजा गया था। इन व्यापारिक महानगरों में विदेशी व्यापार के चलाने के लिए अनेकानेक आर्थिक संस्थाएं तथा संगठन भी सामने आ गए थे। इन संस्थाओं में प्रमुख नाम थे– बीमा कंपनियां,

टिप्पणी

आयात–निर्यात संबंधी बड़ी कंपनियां, विनिमय बैंक तथा इनकी शाखाएं, जहाजरानी कंपनियों के कार्यालय आदि। वास्तविकता तो यह थी कि शुरू से ही ये बंदरगाहों वाले शहर प्रशासनिक केंद्रों का रूप लेने लगे थे। इनकी सुरक्षा के उद्देश्य से ही इनकी किलेबंदी की योजना शुरू की गई थी।

ब्रिटिश–शासन में तो भारत में अति सीमित स्तर का ही औद्योगीकरण शुरू किया गया था। लेकिन इनके विदेशी व्यापार के उद्देश्य से आधुनिक यातायात की सुविधा (परिवहन), यातायात की व्यवस्था तथा और भी बहुत सी व्यापारिक सुविधाएं प्रदान की गई थी। इन्हीं के रहते इनमें कपास और जूट जैसे कृषि उत्पाद सुगमता से कम दामों पर प्राप्त हो जाते थे। इनसे प्राप्त हुए लाभों से कुछ व्यावसायिक लोगों ने यहां भी अपने कारखाने खोल दिए थे। यहां और भी स्थानीय तथा प्रशासनिक सुख–सुविधाएं आसानी से उपलब्ध हो जाती थी। किंतु छोटे शहरों (कानपुर, शोलापुर, कोयम्बटूर, अहमदाबाद आदि) में भी उद्योग खोले गए थे, जिनके कारण ये शहर भी औद्योगिक नगरों में विख्यात हुए थे। किंतु इस सत्य को भी नहीं झुठलाया जा सकता है कि औपनिवेशिक समय के अधिकांश शहर वास्तव में विशुद्ध उत्पादन के केंद्र नहीं माने जा सकते थे। ये तो विशेष रूप से परिवहन, प्रशासनिक तथा व्यापारिक सेवाओं के ही केंद्र बनकर रह गए थे।

इतिहास साक्षी है कि दो विश्व युद्ध हुए। किंतु उन दोनों युद्धों के बीच अनेकानेक परिवर्तन भी हुए। प्रथम युद्ध के बाद शासन को और समाज को संभालने में बहुत समय लगा था। जो तबाही युद्ध के कारण हुई उसकी भरपाई आसानी से इतनी जल्दी तो हो नहीं सकती थी। अतः उस तबाही की अवधि में औद्योगीकरण ने विविध रूप अपनाए थे। इसी कारण छोटे–मोटे नगरों में अनेकानेक छोटे उद्योगों (लघु उद्योगों) ने जन्म ले लिया था। चावल और तेल की मिलें, चीनी मिलें, कपास से बिनौले को अलग करने वाली मिलें आदि जैसे लघु उद्योगों की भी स्थापना की गई थी। इन उद्योगों में खाद्य सामग्री का उत्पादन, पेय पदार्थ, तंबाकू की फैक्ट्रियां, लकड़ी तथा चीनी–मिट्टी के बर्तन और अन्य वस्तुएं बनाने वाले कारखाने, कांच की फैक्ट्रियां आदि लघु उद्योगों ने भी इस अवधि में जन्म लिया था और ये समाज की आवश्यकताओं तथा मांगों की पूर्ति करने के लिए पनपे भी थे। इन लघु उद्योगों में कुछ मौसम के आधार पर भी कार्य करते थे अथवा खोले जाते थे। इनमें कृषि उत्पाद से संबंधित छोटी इकाइयां अधिक होती थीं। ये उत्पादन तथा परिष्करण का कार्य करने में रत रहती थी। जहां कच्चा माल आसानी से प्राप्त हो जाता था वहां के कस्बों तथा आबादी में ये लघु उद्योग पनपे।

औपनिवेशिक शहरों में एक विशेषता दृष्टिगोचर होती थी। इन शहरों में गोरे और काले लोगों के रहने–बसने के स्थान अलग–अलग थे। ऊंच–नीच का भेद भी देखने को मिलता था। जातिगत भेद भी होते थे। भारतीय उद्योगपति पैसा अर्जित करने पर भी अपने ही समाज के लोगों के मध्य रहते थे। ऐसा मुंबई तथा कलकत्ता में देखा जा सकता था। किंतु गोरे लोग बस्तियों से दूर, और दूरी बनाकर ही रहते थे। उनकी जीवन–शैली भी भारतीयों से अलग–थलग होती थी। ऐसा होना संभव था क्योंकि संस्कृति के भेद के कारण ऐसा सब कुछ होता था। उदाहरण के लिए आज का राष्ट्रपति भवन (उस समय वायसराय का निवास स्थान हुआ करता था) किंग्सवे (वर्तमान में

टिप्पणी

राजपथ), क्वींसवे (अब जनपथ) तथा इनके अतिरिक्त भी रायसीना की पहाड़ियों पर अंग्रेज प्रशासक अधिकारियों के बंगले बनाये गए थे। अंग्रेजों ने तो लोगों में जाति को लेकर भी काफी भेद किए थे। उदाहरण के लिए मद्रास में ऊंची जाति तथा नीची जाति के मध्य काफी भेद रखा था। वैसे इस प्रकार से नये शहरों के विकास से भारतीय समाज में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आ पाया था। अतः शहरीकरण को समाज के आधुनिकीकरण की पहचान नहीं माना जा सकता था। जातिगत बंधन 19वीं सदी के पूर्व के समाज के नहीं रह गए थे परंतु शहरीकरण के कारण प्राचीन जाति व्यवस्था में कोई गुणात्मक परिवर्तन देखने को नहीं मिलता था। उसका सबसे बड़ा कारण समाज में एक दूसरे पर निर्भर रहना भी रहा था। यद्यपि नये बसे शहरों में जाति–गत पेशे में परिवर्तन तो इक्का–दुक्का दिखाई पड़ते थे किंतु, फिर भी बड़े पैमाने पर जातिगत व्यवसाय के पुराने ढ़ांचे में नगरों में कोई विशेष बदलाव दिखाई नहीं पड़ा।

परिवहन का विकास : रेलवे

भारत में रेलों को शुरू करने में ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य था कि जर्मनी और जापान की तरह ही भारत का भी औद्योगिक विकास तीव्रता से हो। परंतु कुछ विद्वान इस बात से सहमत नहीं थे। उनका तो मानना था कि साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार ने भारत के प्रशासन पर अपनी पकड़ मजबूत करने तथा व्यापारिक लाभ लेने के मकसद से ही रेलों को शुरू किया था। इस रेलवे निर्माण के पीछे भी अंग्रेजी शासकों की कुछ इच्छाएं इस प्रकार रही थीं, जैसे– (अ) सेना तथा प्रशासन पर पकड़ मजबूत बनाए रखना (ब) व्यापारिक लाभ में वृद्धि करना, तथा (स) ब्रिटिश पूंजी के लिए लाभ देने वाले निवेश का उद्देश्य।

शुरू–शुरू में जब अंग्रेजों ने शासन की बागडोर संभाली तब वे यहां के सामाजिक परिवेश को देखकर कुछ घबराए भी थे। साथ ही कुछ समय बाद उन्हें लगने लगा था कि भारतीयों ने अभी उनके शासन को मन से स्वीकार नहीं किया है। इसके चलते उन्हें अपने शासन के विरुद्ध विद्रोह की भी आशंका सता रही थी। अतः ऐसी स्थिति में (विद्रोह की स्थिति में) सेना तथा सैन्य सामग्री इधर–से–उधर भेजने के लिए परिवहन की आवश्यकता हो सकती थी। देश लंबा–चौड़ा और विशाल या इसीलिए शीघ्रता से विद्रोह को कुचलने के लिए तीव्र यातायात के साधनों की आवश्यकता महसूस की गई और इस समस्या के समाधान के पीछे उन्हें रेल की शुरुआत करने की बात समझ में आई थी। फिर देश में प्रशासनिक संबंधों को प्रभावी बनाने के उद्देश्य से भी अंग्रेजी–शासन को रेल की आवश्यकता महसूस हुई थी। इन सब परिस्थितियों को देखते हुए तत्कालीन गर्वनर जनरल लॉर्ड हार्डिंग ने सन् 1848 में भारत में रेलों को चलाने की बात का समर्थन किया था। बाद में सन् 1857 के पहले–पहले स्वतंत्रता संग्राम ने अंग्रेजों को रेल के प्रति और भी जागरूक कर दिया था। बस अंत में ऐसी ही मानसिकता के बीच अंग्रेजों ने देश के महत्वपूर्ण प्रशासनिक तथा सैनिक केंद्रों को रेलवे–लाइनों से जोड़ने की योजना बनायी थी।

ब्रिटिश राज द्वारा भारत में दूसरा महत्वपूर्ण कारण रेलों के लाने का था इसके द्वारा वे अपने व्यापारिक लाभों में वृद्धि करना चाहते थे। वस्तुतः भारत में कच्चे माल के निर्यात को बढ़ाने के साथ–साथ अंग्रेजी माल का आयात इंग्लैंड से करके उसे देश के अलग–अलग क्षेत्रों में व्यापारिक दृष्टि से भेजने के लिए भी रेल मार्गों की

टिप्पणी

आवश्यकता महसूस की गई थी। व्यापारिक दृष्टि से लंकाशायर के मिल मालिकों की दृष्टि से भारतीय अंग्रेज सरकार पर यह दबाव बनाया जा रहा था कि वह भारत के कपास के उत्पादक क्षेत्रों को रेलों द्वारा शीघ्र से शीघ्र बंदरगाहों से जोड़ने में सफलता प्राप्त करे। यदि ऐसा संभव हो जाता है तो इंग्लैंड की मिलों को भारतीय कपास का आयात करना आसान हो जाय। रेलों से कपास भेजने के पीछे एक कारण और था और वह था साफ, स्वच्छ कपास की प्राप्ति। क्योंकि सड़क मार्ग से जो कपास बैलगाड़ियों द्वारा भेजी जाती थी उसके मिलने में तो देर होती ही थी, दूसरे वह कपास रास्ते की मिट्टी तथा गर्द से गंदी/मैली भी हो जाती थी।

रेल चलाने के पीछे ब्रिटिश सरकार का एक उद्देश्य और था, और वह था – भारत में ब्रिटिश वस्तुओं के बाजार का विस्तार होना। इस प्रकार ब्रिटिश वस्तुओं का आयात भी बढ़ सकेगा। रेल निकालने से समय की बचत तथा सस्ती दरों पर माल को भेजने में सुविधा रहेगी। इससे ब्रिटेन का माल पूरे भारत में भिजवाया जा सकेगा। परिणामस्वरूप अंग्रेजों का व्यापार दिन–दूनी–रात चौगुनी उन्नति करेगा। फिर यह भी सर्वविदित ही है कि ईस्ट इंडिया कंपनी का उद्देश्य सर्वप्रथम तो भारत में अपने व्यापार को शुरु करना तथा उसे विस्तार देना ही रहा था।

भारत में रेल मार्ग निकालने के पीछे इन कारणों के अतिरिक्त एक प्रमुख कारण था– उन दिनों इंग्लैंड के पूंजीपति अपने पास जमा पूंजी को दुनिया के विभिन्न भागों में निवेश के उद्देश्य से भेज रहे थे।

भारत में रेलवे के आने के ऊपर जो कारण और उद्देश्य बताए गए हैं, उनके अतिरिक्त रेलवे को अकालों के समय सहायता करने, आंतरिक व्यापार को विकसित करने तथा देश की गरीबी को हटाने वाले साधन के रूप में भी अत्यंत महत्वपूर्ण तथा उपयोगी स्वीकार किया गया।

यदि रेलवे के संबंध में विश्व की जानकारी लें तो सन् 1825 में संसार में सबसे पहली सार्वजनिक रेल ब्रिटेन में चलायी गई थी। इसके लगभग 7 वर्ष बाद ही रेलवे का कार्य भारत में भी शुरू करने के सुझाव दिये जाने लगे थे। सन् 1841 में अंग्रेजी सिविल इंजीनियर जोजफ लॉक ने भारत में सबसे पहले कलकत्ता से दिल्ली रेल मार्ग बनाने का प्रस्ताव तत्कालीन बंगाल की सरकार के सामने प्रस्तुत किया था। इसके लिए उन्होंने इंग्लैंड में भी एक कंपनी स्थापित की थी। लगभग उसी समय जे. चैपमेन ने भी मुंबई से लेकर कपास पैदा करने वाले क्षेत्रों तक चलाई जाने वाली रेल लाइन बनाने के बारे में मंसूबे बांधने शुरू कर दिए थे। ईस्ट इंडिया रेलवे कंपनी तथा ग्रेट इंडियन पेनिन्स्युलर रेलवे कंपनी की तरफ से सन् 1845 में ईस्ट इंडिया कंपनी के पास भारत में रेल सेवा शुरू करने के प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए थे।

इंग्लैंड में रेलवे का कार्य तथा निर्माण तीव्र गति से चला तो भारत में कई प्राइवेट कंपनियों ने भी रेल शुरू करने का मन बना लिया था। रेल के प्रति वहां के लोगों में विशेष उत्साह था। सन् 1845 के बाद तीन वर्षों के भीतर ही वहां कई रेलवे कंपनी खड़ी हो गई थीं। ईस्ट इंडिया कंपनी भी भारत में रेलवे का कार्य शुरू करना तो चाहती थी। परंतु, शायद उसका मन गैर सरकारी रेलवे कंपनी को यह कार्य देने का नहीं था। अतः अनेक वर्षों तक यह योजना खटाई में ही पड़ी रही थी। प्राईवेट रेलवे कंपनियों के साथ रेलवे–निर्माण कार्य में कुछ अड़चनें आ रही थीं। उनमें प्रमुख थीं – प्राइवेट रेलवे

टिप्पणी

कंपनियों द्वारा इस कार्य में लगाये जाने वाली पूंजी की गारंटी की मांग। यह गारंटी वे ईस्ट इंडिया कंपनी से चाहती थी। जिसे स्वीकार करने में ईस्ट इंडिया कंपनी राजी नहीं हो रही थीं। सन् 1848 में लॉर्ड डलहौजी गर्वनर बने थे। उन्होंने इन कंपनियों के साथ बैठकें की। तत्पश्चात् औपचारिक समझौता हुआ। तब भारत में रेवले–निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ था। भारत में रेलवे–निर्माण कार्य का पहला समझौता ईस्ट इंडिया कंपनी तथा ईस्ट इंडिया रेलवे कंपनी और ग्रेट इंडियन पेनिन्स्युलर रेलवे कंपनी के मध्य अगस्त सन् 1849 में हुआ था। उसके तहत भारत में रेलवे–निर्माण का कार्य सन् 1850 में प्रारंभ कर दिया गया था। रेलवे मार्ग पूरा होने पर भारत में पहली यात्री रेलगाड़ी मुंबई से थाणे के मध्य 18 नवंबर, सन् 1852 को चली। इसने 21 मील की दूरी तय की। उसके बाद यह रेल मार्ग औपचारिक रूप से 16 अप्रैल, 1853 को सभी के लिये उपलब्ध करा दिया गया था। एशिया में चलने वाली यह सबसे पहली रेलवे लाइन मानी जाती थी।

भारत में रेलवे–निर्माण कार्य का दूसरा समझौता भी सन् 1849 में ही हुआ था। इसके अंतर्गत ईस्ट इंडिया रेलवे कंपनी के संग कलकत्ता से राजमहल तक और उसकी शाखा के रूप में रानीगंज के कोयला क्षेत्र तक रेलवे–निर्माण को लेकर हुआ था। वह समय भी आया जब हावड़ा से रानीगंज तक की रेल सेवा 3 फरवरी, सन् 1855 को जनता के लिए शुरू कर दी गई थी। इसके बाद तो रेल मार्ग का समझौता होता रहा और रेलवे–निर्माण की नयी–नयी योजनाएँ शुरू की जाती रहीं।

रेलवे की पुरानी गारंटी प्रणाली

भारत में रेलवे–निर्माण का कार्य तत्कालीन गर्वनर लॉर्ड डलहौजी ने ही शुरू कराया था। भारत में रेलवे की पुरानी रेलवे गारंटी इस प्रकार थी– पुरानी रेलवे गारंटी की सीमा सन् 1869 तक ही रखी गई थी। इस पुरानी प्रणाली के अनुसार किए गए समझौते निम्न शर्तों के आधार पर स्वीकार किए गए थे–

1. भारत सरकार निजी रेलवे कंपनियों को रेलवे के निर्माण के लिए आवश्यक भूमि 99 वर्ष के पट्टे पर बिना किसी मूल्य के देगी।
2. निजी कंपनियों द्वारा रेलवे के निर्माण कार्य के लिए एकत्रित की गई पूंजी पर भारत सरकार ने साढ़े चार से पांच प्रतिशत तक की दर से ब्याज देने की गारंटी दी। रुपये तथा पौण्ड के बीच विनिमय की दरें भी निश्चित कर दी गईं।
3. इस समझौते में यह भी निश्चित किया गया था कि न्यूनतम ब्याज की गारंटी को पूरा करने के उद्देश्य से सरकार ने जितनी राशि का भुगतान किया है, उसकी वसूली के लिए 5 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की राशि से अधिक होने वाले लाभ को ईस्ट इंडिया कंपनी तथा रेलवे कंपनी आपस में समान रूप से विभाजित कर लेंगी। ब्याज की राशि के चुकता हो जाने पर रेलवे कंपनी को जो भी लाभ होगा, वह फिर सारा उसी के पास रहेगा।
4. रेलों को डाक सेवा निःशुल्क प्रदान करनी होगी। साथ ही सैनिक तथा सैनिक भंडारों को भी किराये की घटी दरों पर ले जाना होगा।

टिप्पणी

5. 99 वर्षों की अवधि के समाप्त हो जाने पर रेलवे कंपनियों को अपनी रेलें सरकार को बगैर किसी मूल्य के सौंप देनी होंगी। उस समय सरकार केवल मशीनों, संयंत्रों और रेलगाड़ी के डिब्बों का ही दाम देगी।
6. 25 वर्ष अथवा 50 वर्षों की अवधि पूर्ण होने पर सरकार यदि चाहे तो रेलवे कंपनियों से उस समय के बाजार भाव पर उन रेलवे लाइनों को खरीद सकेगी। किंतु रेलवे कंपनियां जब चाहें तब छह माह का नोटिस देकर अपनी रेलवे संपत्ति सरकार को देकर अपनी निवेश की गई पूंजी को वापिस ले सकती हैं।
7. सरकार को रेलों पर नियंत्रण तथा निरीक्षण के कुछ सामान्य अधिकार तो प्राप्त होंगे परंतु कर्मचारियों की नियुक्ति आदि का अधिकार रेलवे कंपनियों का ही होगा।

सन् 1856 में जब तत्कालीन गर्वनर लॉर्ड डलहौजी ने भारत से प्रस्थान किया था तब तक भारत में 150 मील लंबी रेल लाइन सार्वजनिक यातायात के लिए खोल दी गई थी। सन् 1869 तक देश भर में कुल 4255 मील लंबी रेलवे लाइनें बिछायी जा चुकी थी। इस कार्य पर 89 करोड़ रुपये की पूंजी लग चुकी थी। एक अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि सन् 1869 तक रेलवे में यात्रा करने वाले यात्रियों की संख्या 16 मिलियन तक जा पहुंची थी।

रेलवे की नई गारंटी प्रणाली

सरकारी दृष्टि से देखा जाये तो सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से स्वयं रेलवे के निर्माण करने के कार्य को सन् 1880 के पश्चात् छोड़ दिया था। फिर से यह कार्य निजी कंपनियों को ही दिया गया था। इस कार्य को छोड़ने का कारण था– वित्तीय कोष का अभाव। उस समय सरकारी धन अकाल तथा विदेशी युद्धों पर अधिक खर्च हो रहा था। साथ ही, रुपये का विनिमय मूल्य उस समय काफी गिर गया था। यह भी एक विशेष कारण रेलवे के निर्माण को छोड़ने का रहा था।

सरकार ने इस बार निजी कंपनियों के साथ जो शर्तें रखीं वे पुरानी शर्तों से काफी कुछ भिन्न थी। समझौते की इन्हीं नई शर्तों को 'नई गारंटी प्रणाली' का नाम दिया जाता था। इस नई प्रणाली की मुख्य शर्तें थीं–

1. रेलवे कंपनियों द्वारा बनायी जाने वाली रेलवे लाइनों का प्रबंध तो कंपनियों के ही हाथों में रहेगा किंतु ये प्रारंभ से ही भारत सचिव की संपत्ति मानी जाएगी। भारत सचिव 25 वर्ष के उपरांत तथा इसके उपरांत के दस वर्ष के अंतर के बाद कंपनियों की पूंजी लौटाकर अनुबंध समाप्त कर सकेगा।
2. कंपनियों को उनके द्वारा निवेशित पूंजी पर साढ़े तीन प्रतिशत की ब्याज की गारंटी दी जाएगी।
3. रेलवे से प्राप्त शुद्ध लाभ में से कंपनियों को 40 प्रतिशत तथा सरकार को 60 प्रतिशत हिस्सा मिलेगा।

इस प्रकार तुलनात्मक ढंग से देखा जाये तो पुरानी गारंटी की तुलना में नई गारंटी प्रणाली अधिक सहज, सरल तथा अच्छी थी। इस नई गारंटी में ब्याज की दर भी कम रखी गई थी। उधर सरकार के अधिकारों में इजाफा भी कर दिया गया था।

टिप्पणी

इस नई प्रणाली के लागू हो जाने पर रेलवे–निर्माण के कार्य ने गति पकड़ी थी। यह सन् 1880 की बात है।

सन् 1878–79 से 1889–90 की अवधि में रेलवे लाइन 8212 मील से बढ़कर 16,404 मील लंबी हो गई थी। सन् 1899 से 1900 तक यह लंबाई बढ़कर 23,763 मील हो गई थी। इतना ही नहीं सन् 1905–06 तक 28,604 मील तक चली गई थी। सन् 1906 में 271 मिलियन यात्री रेल यात्रा करने लगे थे। परिणामस्वरूप सन् 1906 तक रेलों से मिलने वाली आमदनी बढ़कर 247.5 मिलियन पौंड पहुंच गई थी। इससे रेलवे को 6 प्रतिशत की दर से शुद्ध लाभ प्राप्त होना प्रारंभ हो गया था।

इसके पश्चात् भी रेलवे–लाइनों का कार्य चलता ही रहा था। सन् 1914 तक भारत में रेलवे लाइनों की कुल लंबाई 34,656 मील तक जा पहुंची थी। लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध से भारत में रेलवे बुरी तरह प्रभावित हुई थी। ऐसे ही समय में रेलवे कंपनियों ने गुप्त समझौता करके राष्ट्रहितों के विरुद्ध कार्य किया था। इन सब कमजोरियों तथा कमियों को दृष्टि में रखते हुए सरकार ने सन् 1920 में सर विलियन एक्वर्थ की अध्यक्षता में एक कमेटी का गठन किया था। इस कमेटी ने जो सिफारिशें प्रस्तुत की थी, वे थीं–

(अ) रेलवे का राष्ट्रीयकरण करना और निजी कंपनियों के प्रबंध तथा स्वामित्व को समाप्त करना।

(ब) रेलवे बोर्ड का विस्तार करना तथा इनके अधिकार क्षेत्र में भी वृद्धि करना।

(स) सामान्य सार्वजनिक बजट से रेलवे के बजट को अलग करना।

सरकार ने इस कमेटी के प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया था। इसके अनुसार समझौतों की समाप्ति के पश्चात् अनेक रेलवे लाइनों को सरकार के नियंत्रण में लाया गया था। रेलवे बोर्ड को फिर गठित किया गया था। एक सलाहकार समिति भी बनायी गई थी। इसके अतिरिक्त कमेटी की तीसरी सिफारिश को ध्यान में रखते हुए सरकार ने रेलवे बजट को अलग करने के विषय में विस्तृत कार्य योजना तैयार करने की दृष्टि से एक समिति भी गठित की थी।

इस समिति ने काफी काम किया था तथा परिणामतः सन् 1924 में रेलवे बजट अलग कर दिया गया था। इन सब उपायों को करने से रेलवे का विस्तार हुआ। सन् 1929–30 तक रेलवे लाइनों की लम्बाई 41,724 मील तक हो गई थी। इस कार्य के विस्तार से अब रेलवे 634 मिलियन यात्रियों को यात्रा का लाभ देने लगी थी। साथ ही 91 मिलियन टन माल इधर–से–उधर, उधर–से–इधर लाने ले जाने लगी थी। इतना ही नहीं ईस्टर्न इंडियन रेलवे और ग्रेट इंडियन पेनिन्स्युलियन रेलवे जैसी कंपनियां भी अब सरकारी नियंत्रण में आ गई थी।

इस प्रगति के पश्चात् विश्वव्यापी महामंदी ने भारतीय रेलों को भी बुरी तरह से प्रभावित किया था। इस महामंदी की मार भारत की कृषि अर्थव्यवस्था पर भी पड़ी थी। इसके परिणामस्वरूप रेलवे ने अब तक जो लाभ कमाया था, वह सब गंवा दिया था। इस स्थिति को देखते हुए सन् 1936 में सरकार ने रेलवे की आर्थिक हालत को सुधारने के ध्येय से वेजवुड कमेटी गठित की थी। इस कमेटी ने बैठवेंफ आयोजित कीं।

टिप्पणी

तत्पश्चात् अनेक सुझाव भी दिए, यथा– सेंट्रल इकानॉमी रिसर्च कमेटी की स्थापना करना तथा रेलवे को अनुचित सड़क प्रतियोगिता से बचाने के ध्येय से रूट–लाइसेंस जारी करना, साथ ही, किराये की दरें निश्चित करना आदि। इन सब सुझावों को व्यवहार में लाने पर रेलवे में कुछ वित्तीय सुधार होते दिखाई दिए थे। परंतु, तभी दूसरे विश्वयुद्ध ने अपने कुप्रभाव दिखाने शुरू कर दिए थे। रेलवे फिर से प्रभावित होने लगी थी परंतु इतना कुछ होने पर भी रेलवे की वित्तीय स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ था।

रेलवे के प्रभाव

भारत की आजादी के समय सन् 1947 में भारतीय रेलमार्गों की कुल लंबाई 41,033 मील थी। भारत पाकिस्तान बंटवारे के समय 19 प्रतिशत लम्बाई अर्थात 6950 मील लंबी रेलवे लाइनें पाकिस्तान की सीमा में चली गईं थीं। भारत में अब कुल 34,083 मील लंबी रेलवे लाइन ही रह गई थी। इन रेलवे की लाइनों में बहुत–सी पुरानी भी पड़ चुकी थीं। अब इनकी मरम्मत आवश्यक थी।

अगर देखा जाये तो रेलवे ने अंग्रेजी शासन की काफी सहायता की थी। भारत में ब्रिटिश शासन के विरोध में उठने वाले विद्रोह को दबाने के लिए सेना भेजने तथा देश के अलग–अलग स्थानों के साथ प्रशासनिक संबंध बनाए रखने में रेलवे विभाग ने अंग्रेजों की पर्याप्त सहायता की थी। रेलवे ने अंग्रेजों को भारत का व्यापारिक दृष्टि से शोषण करने में भी काफी सहायता की थी और भी अन्य अनेक कारणों से रेलवे ने भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया था।

कुछ भी हो लेकिन यह भी सत्य था कि रेलवे के कारण ही भारत अब पहले की तुलना में आर्थिक सुसंगठित राजनीतिक इकाई के रूप में उभर कर सामने आ गया था। प्रशासनिक दृष्टि से सेना तथा सामान्य प्रशासन की कुशलता में भी प्रवीणता दिखाई देने लगी थी।

सामाजिक दृष्टि से भी रेलवे ने छुआछूत को समाप्त–सा ही कर दिया था। एक ही डिब्बे में हर वर्ग, हर सम्प्रदाय तथा प्रत्येक जाति के लोग मिल–जुलकर यात्रा करने लगे थे। खान–पान के मामले में भी छुआछूत में कमी आई थी। एक–दूसरे प्रांत की भाषा संस्कृति को भी लोग आपस में जानने समझने लगे थे। इस सबसे राष्ट्रीय एकता तथा भावनात्मक एकता को भी बल मिला था।

रेल सेवा से दूरियां नजदीकियों में बदल गई थीं। आर्थिक दृष्टि से उत्पादन तथा वितरण के क्षेत्र में अब पुरानी तथा परंपरागत स्वावलंबी अर्थव्यवस्था के स्थान पर परस्पर निर्भर विस्तृत बाजार अर्थव्यवस्था सामने आने लगी थी। रेलों के द्वारा अब एक स्थान से उत्पादन को दूसरे स्थान पर कम समय में आसानी से ले जाया जाने लगा था। इस प्रक्रिया से बाजारों का विस्तार भी हो गया था। इस प्रकार कीमतों के क्षेत्रीय अंतर भी समाप्त हो गए थे। लेकिन रेलों से छोटे स्थानीय कुटीर उद्योगों पर अच्छा असर नहीं पड़ा था। उनके स्थान पर कुछ सीमा तक रेलवे ने बड़े उद्योगों तथा व्यापार को सहायता प्रदान की थी। रेलों से अकाल ग्रस्त क्षेत्रों में कम समय में जल्दी से माल भेजने में सहायता भी मिली थी।

टिप्पणी

यह सच है कि रेलों को अंग्रेज लोग अपने व्यापार कार्य में वृद्धि करने के ध्येय से भारत में लाए थे। किंतु फिर भी भारत तथा भारतवासियों को भी येन–केन–प्रकारेण रेलों से अनेक लाभ हुए थे। इन लाभों में कुछ प्रमुख रहे थे जैसे– सस्ती तथा द्रुत परिवहन की व्यवस्था, राष्ट्रीय सद्भाव तथा संगठन में प्रगति, नई मंडी का उद्घाटन, आजीविका के साधनों की उपलब्धि, देशी–विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन, दुर्भिक्षों के प्रभाव पर नियंत्रण, कृषि फसलों के उत्पादन में गतिशीलता, औद्योगीकरण की प्रक्रिया पर सीधा–सीधा प्रभाव, इंजीनियरिंग उद्योगों तथा कार्यशालाओं के प्रोत्साहन के साथ–साथ देश भर में उद्योगों को बढ़ावा देना आदि।

एक बार दादा भाई नौरोजी ने अपने वक्तव्य में कहा था कि यह एक अत्यंत दुःखद तथ्य है कि रेलों के निर्माण से विश्व के देशों को जो लाभ मिले, उनको देखते हुए भारत को उतने लाभ नहीं मिल पाए थे। इंग्लैंड के अतिरिक्त जर्मनी तथा जापान में रेलों ने औद्योगिक विकास के युग को लाने में सहायता प्रदान की थी किंतु यह काम रेलें भारत में उस गति से नहीं कर पाईं। इसका कारण, इंग्लैंड के सामान का भारत में आना तथा मंडियों में पहुंचना अधिक रहा। भारत को इंग्लैंड के बाद अपने सामान को मंडियों तक पहुंचाने का अवसर तो मिलता था किंतु इससे व्यापार तथा वाणिज्य दोनों ही भारत में प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके थे। इसी कारण जितनी इंग्लैंड के कारखानों की प्रगति हुई थी, उसकी अपेक्षा भारतीय कारखानों की प्रगति दोयम ही रही थी। रेलों ने भारत में कच्चे माल के निर्यात में जो वृद्धि की थी उससे भी देश की अर्थव्यवस्था पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा था।

एक मुद्दा रेलों के प्रभाव का भारत में यह भी रहा था कि रेलों द्वारा अंग्रेजों ने किस प्रकार भारत की आर्थिक स्थिति को शोषित किया था। यह बात रेलवे की माल–भाड़े की दरों को देखने से समझी जा सकती है। ब्रिटिश शासन ने रेलवे की माल–भाड़े तथा किराये की दरें काफी ऊंची निर्धारित कर रखी थीं। इनसे भारतीय माल प्रभावित होता था। अतः कहा जा सकता है कि ब्रिटिश शासन द्वारा भारत को रेलवे की देन, एक अद्भुत उपहार ही मानना अधिक सही रहेगा। हर सिक्के के दो पहलू तो होते ही हैं।

संचार का विकास : डाक एवं टेलीग्राफ व्यवस्था

अंग्रेजी राज से पहले भी डाक की संचार प्रणाली भारत में चलायमान रही थी। मुगल शासकों ने अपनी चिट्ठियां, फरमान और संदेश आदि इधर–उधर भेजने के ध्येय से डाक चौकियां बना रखी थीं। इस सेवा के लिए घोड़ों का प्रयोग किया जाता था। घुड़सवार हरकारे घोड़ों पर बैठकर आनन–फानन में लिखित संदेश, फरमान आदि पहुंचा आते थे। कहीं–कहीं सूचनाएं भेजने के लिए कबूतरों का सहारा लिया जाता था। ये कबूतर प्रशिक्षण प्राप्त हुआ करते थे।

औपनिवेशिक काल में सूचनाएं भेजने की व्यक्तिगत व्यवस्थाएं भी कायम की जा चुकी थीं। ये व्यवसायी सूचना पैदल वाहकों द्वारा भेजी जाती थी। किंतु ये लोग व्यापारी तथा दूसरे कुलीन सेवारत वर्ग को ही सेवाएं प्रदान करते थे। ऐसे लोगों को पश्चिमी भारत में पट्ठामारी अथवा 'पट्ठामार' का नाम दिया जाता था। सार्वजनिक व्यवस्था कोई नहीं थी। अतः इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि ईस्ट इंडिया कंपनी को इस प्रकार की संचार व्यवस्था विरासत में ही प्राप्त हुई थी। यह भी सच है कि कोई भी

टिप्पणी

साम्राज्य एक सुचारू संचार व्यवस्था के अभाव में प्रशासन ठीक से नहीं चला सकता। प्रत्येक शासन के लिए संचार–व्यवस्था का होना उतना ही जरूरी होता है जितना कि सब्जी में नमक। ईस्ट इंडिया कंपनी को जो संचार व्यवस्था मिली थी, उसको उसने अपने तरीके से अदला–बदला। उसमें संशोधन भी किए। उसे और अधिक उपयोगी बनाया। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए ब्रिटिश कंपनी ने कलकत्ता में एक डाकघर सन् 1688 में शुरू किया था। सन् 1712 में सेन्ट फोर्ट जॉर्ज के मद्रास के किले के गवर्नर ने बंगाल तक डाक भेजने के एक स्थल मार्ग की स्थापना की थी। सन् 1727 में कलकत्ता के अंग्रेज व्यापारियों तथा जमींदारों ने भी एक डाकखाना खोला था। सन् 1750 के दशक में ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना एंग्लो–फ्रांसीसी लड़ाई के दौर में बाहरी खबरें लेने के उद्देश्य से सरकारों की सहायता ले रही थी। सन् 1765 में जब कंपनी को दीवानी का अधिकार बंगाल में मिल गया, तब सैन्य एवं व्यापारिक कारणों के चलते संचार–व्यवस्था का संगठन और भी अधिक आवश्यक माना जाने लगा। इसके लिए शुरू–शुरू में उपलब्ध सरकारों की व्यवस्था को जमींदारों के जरिये उपयोग में लिया गया। सन् 1766 में क्लाइव ने कलकत्ता से दूसरी अंग्रेजों की बस्तियों के मध्य सरकारी पत्र–व्यवहार के उद्देश्य से एक डाकखाने की स्थापना भी की थी। इसमें एक अलग सुविधा के अनुसार कंपनी के अधिकारी सरकारी पत्रों के अलावा अपने व्यक्तिगत सामान्य पत्र भी भेज सकते थे। बाद में, वारेन हेस्टिंग्स ने इस डाक–व्यवस्था को फिर से बनाने का प्रयास भी किया था। इसके चलते उन्होंने सन् 1774 में एक पोस्ट मास्टर जनरल की देखरेख में कलकत्ता में एक प्रधान डाकघर भी खोला था। साथ ही, उन्होंने कंपनी की डाक–व्यवस्था को सार्वजनिक उपयोग के लिए भी खोल दिया था। योजना के अनुसार कलकत्ता को छह डाक मार्गों से संबद्ध किया गया था। इस योजना के अनुसार कलकत्ता को पटना तथा ढाका से जोड़ने वाले मुख्य डाक मार्ग पर डाक के संचालन के लिए एक फारसी अनुवादक को भी नौकरी पर नियुक्त किया गया था। व्यापारिक मार्गों पर डाक की जिम्मेवारी फैक्ट्री की ही मानी जाती थी। इस व्यवस्था में अभी भी हरकारों की मदद ली जाती थी। हरकारे के साथ रात को एक ढोलक वाला भी रहता था। उसका उद्देश्य ढोल की आवाज से जंगली जानवरों को डराना होता था। रात के समय रोशनी दिखाने वालों को भी हरकारे के साथ रखा जाता था।

सन् 1778 में इस डाक–व्यवस्था को चटगांव तथा ढाका के मध्य कलकत्ता के पोस्ट मास्टर जनरल को सौंप दिया गया था। इस समय 2 आने के टिकट पर 100 मील तक डाक को भेजने का प्रबंध किया गया था। मद्रास तथा मुंबई में भी डाक व्यवस्था शुरू करने के प्रयास किए गए थे। उस समय संचार व्यवस्था की गति बहुत ही मंद थी। मद्रास और मुंबई, कलकत्ता और मद्रास के बीच 15 दिन में एक बार डाक भेजी जाती थी। डाक दरें पत्र के वजन तथा दूरी के अनुसार निर्धारित की जाती थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों को अज्ञात क्षेत्रों के पते भी लगाने पड़ते थे। इसके लिए डाक–पालकियों की व्यवस्था ठेकें पर की जाती थी। बाद में सामान्य डाकघरों द्वारा ही चलाई जाती थीं। अधिकारियों के ठहरने के लिए बीच–बीच में विश्राम गृह भी बनाए जाते थे। उनमें अंग्रेज अधिकारियों की सेवा–पानी करने के लिए मददगारों तथा चौकीदारों का प्रबंध भी किया जाता था।

समय के साथ–साथ और आवश्यकता को देखते हुए डाक संचार व्यवस्था में सुधार किए जाते रहे। साथ ही इस सेना को विस्तृत भी किया जाता रहा था।

टिप्पणी

औपनिवेशिक डाक व्यवस्था सेवा, व्यापार तथा प्रशासनिक सेवा को दृष्टि में रखते हुए ही संचालित की जाती थी। सन् 1825 में मुंबई तथा पूना के मध्य पार्सल डाक सेवा का शुभारंभ किया गया था। इस दौर में भी सन् 1830 में पूना तथा पनवेल के मध्य बैलगाड़ी डाक सेवा संचालित की गई थी जबकि सन् 1830 में मुंबई में सार्वजनिक डाकघर खोला गया था। उधर मद्रास में सन् 1808 से ही निजी पत्रों को सार्वजनिक डाक सेवा द्वारा भेजने की व्यवस्था जारी थी। इनके पश्चात् भी देशी डाक एजेंसियां काम कर रही थी। उदाहरण के लिए बंगाल में कलकत्ता और मुर्शिदाबाद के बीच नवाबी दौर से ही निजामत डाक–व्यवस्था जारी थी। यह व्यवस्था तो अंग्रेजी शासन के बाद भी यथावत ही चलती रही। ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल में अनेक स्थानों पर निजी (प्राइवेट) एजेंसियों को भी डाक व्यवस्था चलाने की स्वीकृति दे दी थी। 18वीं सदी के आखिर में कलकत्ता तथा डायमंड हार्बर के बीच घुड़सवारों की मदद से मिस्टर बेकर अच्छी–खासी डाक–व्यवस्था चलाने में सफल थे। इस व्यवस्था में हर 8 मील के बाद दूसरा घुड़सवार पहले वाले घुड़सवार का स्थान ले लेता था। पहले वाले को रिलीव करके स्वयं अगले 8 मील डाक ले जाने के लिए 'ऑन ड्यूटी' हो जाता था। इसी तरह कलकत्ता तथा उसके आस–पास के क्षेत्रों में एक प्राइवेट कंपनी (रोजारियॉन) कार्यरत थी। यह कंपनी एक तोले वजन तक की डाक (पत्र) के लिए एक आना ग्राहकों से लेती थी।

जैसे–जैसे भारत में कंपनी के व्यापार के स्थान पर प्रशासन का विस्तार होता गया। वैसे–वैसे संचार व्यवसाय को भी विकसित किया जाता रहा था। सन् 1837 में ब्रिटिश सरकार ने भारत में 'पोस्ट ऑफिस एक्ट' भी लागू कर दिया था। इसके अनुसार डाक संचार व्यवस्था को सरकार–तंत्र का हिस्सा मान लिया गया था। इस एक्ट के आधार पर कंपनी द्वारा शासित क्षेत्रों में पत्राचार का जिम्मा स्वयं कंपनी ने अपने हाथों में लेने का निर्णय ले लिया था। सभी डाकघरों को दूरी तथा डाकखाने दर्शाने वाली सूचियां सूचनार्थ प्रेषित की गईं। इन सूचियों में मुख्य डाक मार्गों पर निर्धारित की गई डाक की दरों को अंकित किया गया था।

इस समय भारत में दो डाक व्यवस्थाएं सुचारू रूप से कार्य कर रही थी– पहली प्रेज़ीडेंसी डाक व्यवस्था तथा दूसरी थी जिलास्तर की डाक व्यवस्था। जिले के अंदर कार्यरत डाक–व्यवस्था को सन् 1830 में धीरे–धीरे सार्वजनिक उपयोग के लिए भी चला दिया गया था।

प्रेजीडेंसी डाक–व्यवस्था के पोस्ट मास्टर ही कुशल तथा तीव्रता से डाक प्रेषण का प्रबंध करते थे। इसी समय में एक मील के लिए एक आना दर से पार्सल पोस्ट की भी शुरुआत कर दी गई थी। इस डाक–व्यवस्था का उपभोग गरीब यूरोपियन तथा भारतीयों द्वारा भी किया जा सकता था। डाक–व्यवस्था में और भी अधिक तीव्रता लाने के लिए बैलगाड़ियों का इस्तेमाल भी किया गया था। यही डाक सेवा, सरकारी कर्मचारियों अथवा अधिकारियों के सरकारी काम पर जाने की स्थिति में घोड़े, पालकी आदि की व्यवस्था भी करती थी। इसके लिए पोस्ट मास्टर तथा डाकघर व्यवस्था करते थे। अब यहां भी देखने वाली बात है कि इस व्यवस्था में नस्लवादी नीति अपनायी जाती थीं। उदाहरण के लिए पत्रों को बांटने में भारतीयों को न लगाकर गोरे लोगों (अंग्रेजों) को ही ज्यादातर लगाया जाता था। अंग्रेजी पोस्टमैनों को अधिक सुविधाएं प्रदान की

टिप्पणी

जाती थी। अंग्रेज लोग डाक छंटनी तथा दर्जगी से पहले ही अपनी डाक छांट लेते थे। यह सुविधा भारतीयों को प्राप्त नहीं थी। देश के आंतरिक अंचलों में अभी भी प्राइवेट डाक–व्यवस्था कार्यरत थी। कंपनी द्वारा चलायी जा रही डाक व्यवस्था का उपयोग ज्यादातर प्रवासी, व्यापारी और सेना के लोग ही करते थे। यहां अशिक्षा तथा डाक महंगी होना भी कारक थे। धीरे–धीरे डाक टिकटों का चलन हुआ। इससे पश्चिमी डाक व्यवस्था अधिक उपयोगी, सरल, सहज तथा व्यावहारिक भी हो गई थी।

भारत में डाक संचार–व्यवस्था को सुसंगठित करने तथा इसे विस्तार देने में भी लॉर्ड डलहौजी ने प्रमुख भूमिका निभाई थी। जैसे ही वे गर्वनर जनरल नियुक्त किए गए, वैसे ही उन्होंने एक पोस्ट ऑफिस कमीशन स्थापित कर दिया था। इसके अंतर्गत प्रत्येक प्रेजीडेंसी से एक कमिश्नर रखा गया था। इस कमिश्नर का दायित्व डाक–व्यवस्था में सुधार लाना तथा इसके केंद्रीयकरण और समरूपता से संबंधित सुझाव देने थे। इस कमीशन की रिपोर्ट आ जाने पर, उसी के आधार पर लॉर्ड डलहौजी ने अपना एक प्रतिवेदन कंपनी के निदेशक के पास भेजा था। इस प्रतिवेदन में डाक–व्यवस्था द्वारा अपनाए जाने वाला एक सिद्धांत यह भी था– 'दूरी पर ध्यान न देकर, एक समान डाक दर की व्यवस्था। गवर्नर महोदय के इस सिद्धांत के पीछे सोच थी कि इससे 'मनुष्य और मनुष्य के मध्य स्वतंत्र संचार' संपर्क में आ जाएगा। बाद में यह तकनीक औपनिवेशिक व्यवस्था के संबंध में विकसित भी की गई थी।

सन् 1854 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने जो 'भारतीय पोस्ट ऑफिस एक्ट' पास किया था उस एक्ट की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार रही थीं–

1. डाक व्यवस्था के सभी कर्मचारी सरकारी होंगे। पूरी की पूरी डाक–व्यवस्था 'डायरेक्टर जनरल ऑफ पोस्ट ऑफिसिस' के नियंत्रण में कार्यरत रहेगी।
2. देशी अखबारों पर बाहर से आयात किए समाचार पत्रों की तुलना में दोगुना डाक शुल्क।
3. डाक–व्यवस्था पर राज्य का एकाधिकार अथवा सरकार का डाक पर विशेषाधिकार।
4. डाक की दरें दूरी पर ध्यान न देकर एक समान रखने की व्यवस्था।
5. अखिल भारतीय स्तर पर 'डाक–टिकटों को स्वीकार किया जाना/अपनाया जाना।
6. अंतर्देशीय पार्सल सेवा, डाक की तौल तथा दूरी के अनुसार पूर्ववत ही जारी।

इस 'भारतीय पोस्ट ऑफिस एक्ट' के लागू करते ही निजी एजेंसियों के लाइसेंस रद्द कर दिए गए थे।

कहीं–कहीं नवीन पश्चिमी डाक–व्यवस्था का देशी डाक एजेंसियों ने तथा जनता ने काफी विरोध किया था। इसी के चलते सूरत के एक हजार से भी अधिक लोगों ने गर्वनर जनरल को एक ज्ञापन प्रेषित किया था। इसमें उन्होंने स्पष्ट लिखा था कि एक पत्र हमारी वास्तविक संपत्ति है। इसमें हमारे दिलों की गोपनीयता का खजाना निहित रहता है, हमें यह आजादी है कि हम अपनी इच्छानुसार जहां चाहें, जैसे भेजें उसे मंगाएं भी। यह कोई सरकारी भूमि नहीं है, जिसे हम बिना भू–राजस्व के आकलन के जोत–बो न सकें।

टिप्पणी

इस प्रकार के विरोधों के फलस्वरूप सन् 1866 में फिर एक नया पोस्ट–एक्ट जारी किया गया। इसके नियमों के अनुसार– भारतीय देशी एवं विदेशी आयातीत समाचार–पत्रों पर दुहरी डाक दरें समाप्त कर दी गई थीं। इस नये एक्ट के अनुसार, समाचार पत्रों द्वारा रियायती डाक दर की सुविधा का लाभ लेने के लिए उनका डाकघरों के साथ पंजीकरण आवश्यक कर दिया गया था। साथ ही, राष्ट्र विरोधी और अन्य आपत्तिजनक सामग्री डाक द्वारा भेजने पर अनेक पाबंदियां भी लगा दी गई थी।

सन् 1855 के 'भारतीय ग्राम एक्ट' ने सरकार को यह अधिकार अपनी ओर से दिया कि वह विशेष विषम परिस्थितियों में आपत्तिजनक डाक–सामग्री को जब्त कर सकती थी।

फिर भी इन बातों के चलते सन् 1866 के पोस्ट ऑफिस एक्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि इसमें डाकघरों द्वारा डाक–बीमा और मनी–ऑर्डर की व्यवस्था प्रारंभ कर देने के फलस्वरूप आर्थिक तथा वित्तीय लेन–देन के साधन के रूप में भी अब डाकघरों का विकास प्रारंभ कर दिया गया था। सन् 1873 में सरकार द्वारा सेविंग बैंक एक्ट के आधार पर सन् 1882 में डाकघरों ने बचत बैंक योजना भी शुरू कर दी थी।

जब भारत में डाक–व्यवस्था शुरू की गई थी, तब डाकघरों की संख्या बहुत कम थी। आंकड़ों के अनुसार सन् 1855–56 में भारत में डाकघर कुल 645 थे, इनके अतिरिक्त कुल 55 केंद्र ऐसे थे जो डाक प्राप्त करते थे। सन् 1866–67 में डाकघरों की शाखाएं खोलनी शुरू की गई थीं। इनके अनुसार स्कूल टीचर, दुकानदार अथवा सरकारी पेंशन भोगी लोगों को एक मासिक भत्ते पर स्थानीय व्यवस्था की जिम्मेदारी सौंप दी जाती थी। पोस्ट ऑफिसों की संख्या भी बढ़ायी गई थी। यह संख्या बढ़ते–बढ़ते अविभाजित भारत में सन् 1947 में 26,269 तक पहुंच गई थी।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि डाकघर व्यवस्था का विस्तार व्यापार, रेलवे विकास, शिक्षा के प्रचार–प्रसार आदि कारकों से भी संबद्ध था। किंतु, सीमित औद्योगिकीकरण के चलते संचार–व्यवस्था का विस्तार भी शनैः–शनैः ही हुआ था। आंकड़े बताते हैं कि सन् 1918–19 में 1229 मिलियन डाक के मदों का आदान–प्रदान किया जाता था। जबकि सन् 1921–22 में 1453 मिलियन डाक की मदें हो गई थीं। हरकारों द्वारा संचालित सेवा से प्रारंभ होकर डाक–व्यवस्था यातायात द्वारा होने वाले अथवा किए जाने वाले परिवर्तनों से होकर गुजरी थी। आंकड़े ये भी बताते हैं कि सन् 1874–75 में 44,578 लोगों पर एक डाकखाना कार्यरत रहता था। सन् 1944–45 में 14,792 लोगों पर एक डाकखाना कार्य करता था। प्रवासन तथा मनी ऑर्डर एक दूजे के पर्याय बन जाते थे। देखा जाये तो उस समय सुरक्षा, कम लागत और इसकी विस्तृत पहुँच की दृष्टि से पैसे के आदान–प्रदान की तथा बचत–राशि के भुगतान की कोई ऐसी विधि पूर्व–औपनिवेशिक भारत में उपलब्ध नहीं थी।

सन् 1849 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने रेलवे–लाइनों के साथ टेलीग्राफ की व्यवस्था को शुरू करने का निर्णय ले लिया था। अफगान के युद्धों के तथा उत्तर पश्चिमी मोर्चों के और बर्मा के साथ बिगड़ते संबंधों के कारण भी पूर्वी मोर्चे के लिए संचार–व्यवस्था के कारण टेलीग्राफ एक जरूरत बन गया था। इसके चलते ही सन् 1850 में ईस्ट

इंडिया कंपनी ने कलकत्ता तथा डायमंड हार्बर के मध्य टेलीग्राफ लाइन को बनाने की स्वीकृति भी प्रदान कर दी थी। सन् 1851–55 की अवधि में मुख्य टेलीग्राफ लाइनों का कार्य पूरा हो गया था। कलकत्ता को आगरा, मुंबई, पेशावर तथा मद्रास से टेलीग्राफ द्वारा जोड़ दिया गया था। सन् 1855 में टेलीग्राफ की सुविधा सर्वसाधारण के लिए प्रदान कर दी गई थी। 400 मील तक की दूरी के लिए तथा 16 शब्दों के प्रसारण हेतु एक रुपये की दर निर्धारित की गई थी। टेलीग्राफ सेवा का तीव्रता से विकास इसके औपनिवेशिक राज्य के लिए सामरिक महत्व एवं लार्ड डलहौजी के निजी तौर से रुचि लेने के कारण ही संभव हो सका था। इसके निर्माण का सेहरा विलियम ओ शागूत्रेशी के सिर भी बांधा जा सकता है। वे सन् 1851 में भारत में इलेक्ट्रिक टेलीग्राफ के पद पर भी कार्यरत रहे थे। बाद में सन् 1857 में टेलीग्राफ के डायरेक्टर–जनरल भी बनाए गए थे। ध्यान रखने योग्य बात यह भी है कि टेलीग्राफ को इंग्लैंड और अमेरिका में निजी (प्राइवेट) कंपनियों ने ही विकसित किया था। जबकि महाद्वीपीय यूरोप में राज्य के द्वारा इसका निर्माण किया गया था। सन् 1855 में भारत में सरकार ने 'टेलीग्राफ एक्ट' बनाया था।

सन् 1857 के विद्रोह में टेलीग्राफ व्यवस्था को बुराई की जड़ माना गया था और इसकी व्यवस्था जगह–जगह तहस–नहस कर दी गई थी। विद्रोह ठंडा पड़ जाने पर ब्रिटिश सेना ने इसे फिर से सुचारू रूप से चला दिया था। बाद में उन्होंने भी इसे शक्तिशाली संचार के साधन के रूप में उपयोग में लिया था।

वस्तुतः अंग्रेज व्यापारी तथा उद्यमी इस सुविधा का पूरा लाभ उठाते थे। इस व्यवस्था का अधिक लाभ तो साम्राज्य तथा उसके प्राइवेट उद्योगों को ही पहुंचता था। सन् 1858 में भारत और श्रीलंका के बीच टेलीग्राफ लाइन का निर्माण संभव हो पाया था। सन् 1870 में भारत से लंदन और अमेरिका को भी सफलतापूर्वक जोड़ दिया गया था। सन् 1880 में मद्रास को पूर्व पेनांग से भी टेलीग्राफ से जोड़ दिया गया था। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय टेलीग्राफ व्यवस्था भी सुचारू रूप से प्रारंभ कर दी गई थी। सन् 1860 में टेलीग्राफ के संदेशों के भुगतान हेतु टेलीग्राफ की टिकटें सरकार द्वारा चलायी गई थीं। सन् 1865–66 में सरकार ने चिपकाने वाली नई टेलीग्राफ टिकटें चलन में लानी शुरू की थी।

इस प्रकार कह सकते हैं कि ब्रिटिश काल में संचार व्यवस्था का अत्यधिक विकास हुआ था। डाक तथा टेलीग्राफ व्यवस्था ने आशातीत सफलता प्राप्त कर ली थी।

औद्योगिक नीति

सन् 1872 से 1947 के दौरान राज्य का राष्ट्र के आमद के निर्माण में औसतन हिस्सा 10 प्रतिशत से अधिक नहीं था। किंतु आधुनिक भारत के आर्थिक इतिहास को जानने समझने के लिए ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य को समझना अति आवश्यक है। वैसे ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि औपनिवेशिक भारत की आर्थिक स्थिति मुख्य रूप से एक प्राइवेट पूंजी के प्रतिष्ठानों की ही आर्थिक व्यवस्था थी। अतः इस आर्थिक स्थिति में वित्तीय तथा दूसरे संसाधनों के आबंटन निर्णय प्राइवेट (निजी) क्षेत्रों द्वारा ही किए जाते थे।

संपत्ति के प्रति राज्य का दृष्टिकोण, इसके सार्वजनिक निर्माण के कामों पर व्यय करने की नीति, राज्य की मौद्रिक एवं वित्तीय नीतियां, सीमा शुल्क नीति आदि तथा सभी का प्रभाव भारत के औद्योगिकीकरण पर पड़ा था।

टिप्पणी

राज्य की संस्थाओं, समाज की संरचना, आर्थिक अवसरों के बंटवारे, उद्योग एवं व्यापार तथा औद्योगिक उत्पादनों के लिए मंडियां अथवा बाजार सभी राज्य के संस्था मूलक विकासों से संबद्ध थे। सिद्धांत रूप में इस समय सरकार ने हस्तक्षेप न करने की नीति अपनायी थी। किंतु, फिर भी बहुत से आर्थिक कार्यकलापों पर राज्य का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप स्पष्ट दिखाई पड़ता था।

ब्रिटिश महानगरीय पूंजी अथवा प्रवासी अंग्रेज व्यापारियों और प्रशासकों ने भी राज्य के आर्थिक संस्था मूलक ढ़ांचे में कुछ सीमा तक तो अवश्य ही भागीदारी की थी। इनमें, सार्वजनिक सेवाओं जैसे – सुरक्षा संबंधी वस्तुओं की आपूर्ति, रेलवे के गोदामों को सामान की आपूर्ति करने वाले ठेकेदार आदि भी शामिल थे। ठीक इसी प्रकार, लंदन स्थित विनिमय बैंकों का सन् 1890 से सन् 1925 के बीच ब्रिटिश मुद्रा के विनिमय पर पूरा नियंत्रण था। सार्वजनिक निर्माण के कामों के लिए निजी पूंजी के एकाधिकार कंपनियों को सौंप देने की व्यवस्था तो 19वीं तथा 20वीं सदी के शुरू में औपनिवेशिक पूंजीवाद की एक प्रमुख विशेषता मानी गई थी।

सन् 1860 से सन् 1920 की अवधि तक, विशेषरूप से पूर्वी भारत में, ऊँचे उद्योग, विदेशी व्यापार, वित्तीय संस्थान जैसे बैंक आदि सभी पर ब्रिटिश पूंजी का ही वर्चस्व कायम था। उनका औपनिवेशिक प्रशासन से गाढ़ा सामाजिक संबंध था। उधर प्रशासन का बर्ताव आर्थिक संगठन तथा नीतियों के लिए उस समूह को प्रोत्साहित करने का रहा था, जिससे भारत का संबंध ही नहीं था। भारत के संबंध में तो एक स्पष्ट पारदर्शी, निष्पक्ष और उपेक्षा रहित औद्योगिक नीति की आवश्यकता थी।

भारत में उस समय की सरकार की भेदभाव तथा उपेक्षापूर्ण नीति, औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़ेपन का सबसे अधिक दुखद कारण रही थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के तत्कालीन शासन के शुरुआती दिनों में तो इसने भारत के उद्योगों को सहायता देना अनुचित नहीं माना था। उसके अनुसार यह समय–समय पर उनको आर्थिक एवं संगठनात्मक सहायता भी प्रदान करती रहती थी। इसका भी एक कारण था– ईस्ट इंडिया कंपनी तो थी ही एक व्यापारिक कंपनी। ऐसे में भारत से जिन वस्तुओं का निर्यात होता था, उन वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों, उत्पादनकर्ताओं को सहायता देने में वह अपना लाभ ही पहले देखती थी। किंतु कंपनी की इस एक तरफा नीति का ब्रिटिश व्यापारियों पर उलटा ही प्रभाव पड़ रहा था। अतः ऐसी विषम परिस्थिति में इंग्लैंड की विभिन्न वस्तुओं के उत्पादनकर्ता संगठित हो गए। उन्होंने कंपनी की इस एकतरफा नीति का विरोध करना शुरू कर दिया था। साथ ही, उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन को भारतीय उद्योगों अथवा उत्पादनकर्ताओं को सहायता न देने के लिए कहा। इस बात को लेकर कंपनी पर अपना दबाव बनाया। परिणामस्वरूप अंग्रेजी सरकार की नीति भारतीय उद्योगों अथवा उत्पादनकर्ताओं के प्रति एकदम से बदल गई। इसी बदलाव का परिणाम यह निकला कि सन् 1858 में जब भारत का शासन कंपनी से ब्रिटिश सम्राट के हाथों में आया तब भी सरकार ने भारत के उद्योगों के विकास के प्रति उपेक्षित भाव ही अपनाए रखा।

टिप्पणी

इस समय अंग्रेज सरकार की नीतियों तथा दृष्टिकोण ने अपनी वाणिज्यिक, राजकोषीय तथा मौद्रिक नीतियों को भारत को एक तरफ करके, ब्रिटिश हितों को ही ध्यान में रखा और ब्रिटिश के हितों को ध्यान में रखकर ही अपनी नीतियों का निर्धारण किया तथा उन्हें लागू भी किया था। ऐसे में ध्यान देने योग्य बात यह भी रही कि प्रथम विश्व युद्ध तक भारत की वाणिज्य तथा राजकोषीय नीति अधिकांशतः लंकाशायर मिल के उद्योगों के हितों से प्रभावित होती रही थी। वास्तव में सन् 1914 तक ब्रिटिश साम्राज्य भारत का खुले तौर पर, स्पष्ट रूप से विरोधी ही रहा। किंतु इस दौर में भी जब तब देश के परंपरागत हस्तशिल्प उद्योगों के समाप्त प्रायः हो जाने की वजह से कृषि पर जनसंख्या के निरंतर बढ़ते हुए दबावों को देखकर इन उद्योगों के विकास की बातें होती ही रहती थीं। परंतु इन बातों को भी ब्रिटिश सरकार अनसुनी ही करती रही। इसका ज्वलंत उदाहरण है, सन् 1880 के अकाल आयोग द्वारा भारत में औद्योगिक विकास की संभावनाओं तथा सीमाओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। परंतु सरकार पर इसकी भी कोई जूं तक नहीं रेंगी थी। वह इस प्रकरण में उदासीन भाव ही अपनाए हुए थी। हां, यहां एक आशा आयोग की तब चमकी थी जब अकाल के द्वारा दिए गए सुझावों से प्रेरणा पाकर मद्रास की तत्कालीन सरकार ने कुछ सकारात्मक कार्य करने का बीड़ा उठाया था। इसके अनुसार लॉर्ड कर्जन ने सन् 1905 में पहल की थी। इसके आधार पर वाणिज्य विभाग की स्थापना की गई थी। सन् 1908 में मद्रास सरकार ने उद्योग विभाग के लिए डायरेक्टर नियुक्त किया था। मद्रास के उद्योग विभाग के कार्यों का स्थानीय यूरोपीय व्यापारिक समुदाय ने विरोध करते हुए कहा था कि यह प्राईवेट उद्योगों के लिए खतरनाक खतरे की घंटी है। साथ ही, उनका यह भी कहना था कि यह राज्य सरकार द्वारा सरकार की सीमा से बाहर के क्षेत्र में किया गया अनुचित हस्तक्षेप है।

इसी तरह जब भारत सरकार के तत्कालीन राज्य सचिव ने लॉर्ड मॉरले से भारतीय उद्योगों के लिए स्थायी विभाग बनाने के लिए अनुमति मांगी थी, तब भी उन्हें साफ शब्दों में मना कर दिया गया था। इतना ही नहीं भारत के औद्योगिक विकास को निराशापूर्ण स्थिति में डालने के ध्येय से अंग्रेज सरकार ने अपनी सीमा शुल्क की नीति भी उसी के अनुरूप तैयार की थी। इतना सब होते हुए भी भारतीय उद्योगपति जैसे–तैसे हाथ–पैर मारते ही रहे थे। अंधेरे में भी रोशनी की किरण तलाशते रहे थे। इन्हीं प्रयासों के चलते उन्नीसवीं सदी के सातवें, आठवें दशक में जब भारत के कपड़ा उद्योगों ने अपनी कमजोर स्थिति से कुछ ऊपर उबरना शुरू किया, तो तुरंत ही इंग्लैंड में इस मुद्दे को लेकर आंदोलन शुरू हो गया था। इस पर उनके विचार थे कि इंग्लैंड से आयात किए जाने वाले सूती कपड़े पर लगने वाली चुंगी को समाप्त कर दिया जाय। इसी बात से प्रभावित होकर मैनचेस्टर के 'चैंबर ऑफ कॉमर्स' ने सन् 1874 में एक ज्ञापन दिया जिसके आधार पर सन् 1877 में 'हाउस ऑफ कॉमन्स' ने प्रस्ताव भी पारित कर दिया था। उस प्रस्ताव के अनुसार सन् 1879 में मोटे सूती कपड़ों पर से आयात शुल्क हटा दिया गया था। यहां इस संदर्भ में यह बात भी ध्यातव्य है कि ये आयात शुल्क उस समय समाप्त किए गए थे, जब अकालों के चलते भारत की वित्तीय स्थिति अत्यंत दयनीय दौर से गुजर रही थी। इस एक तरफा अत्यंत पक्षपातपूर्ण नीति या रवैये से यह बात खुलकर सामने आती है कि सरकार के सामने भारत की अपेक्षा ब्रिटेन का हित ज्यादा ही प्राथमिकता रखता था। इससे भी और अधिक आश्चर्य तथा दुःख की

टिप्पणी

बात यह थी कि जब सरकार को सन् 1894 में अपनी वित्तीय जरूरतों के कारण भारत में ब्रिटिश कपड़े के आयात पर 5 प्रतिशत की दर से आयात शुल्क लगाना पड़ा था, तब भारत के कपड़ा उद्योगों को इससे मिलने वाले लाभ को निरस्त करने के लिए उन पर भी 5 प्रतिशत की दर से उत्पादन शुल्क लगा दिया गया था। इस उदाहरण से ज्यादा पक्षपातपूर्ण नीति का उदाहरण शायद ही कहीं मिलता होगा। कपड़ा शुल्क नीति के इस प्रश्न पर ही तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड नॉर्थ ब्रुक ने राज्य सचिव लॉर्ड सॉल्सबरी के साथ वैचारिक मतभेद हो जाने के कारण सन् 1874 में अपना त्यागपत्र दे दिया था। नॉर्थ ब्रुक का इस संदर्भ में कहना था कि भारत की शुल्क नीति का निर्धारण भारतीय सरकार को करना चाहिए। लंदन की सरकार को ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं बनता। इस न्याय संगत बात को मानने से सॉल्सबरी ने सिरे से ही मना कर दिया था। इन्हीं सब बातों को देखते हुए कहा जा सकता है कि अंग्रेज सरकार की नीतियां तथा दृष्टिकोण एकदम से अन्यायपूर्ण तथा दमनपूर्ण ही थे। ये नीतियां और दृष्टिकोण एकतरफा पक्षपातपूर्ण मानसिकता के द्योतक थे। ये नीतियां स्वार्थपूर्ण तथा दोषपूर्ण भी थी।

इन सब नीतियों तथा दृष्टिकोण के चलते सन् 1914 तक भारत का औद्योगिक विकास अत्यंत मंदगति पर रहा। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय अंग्रेज सरकार को विवश होकर अपनी नीति तथा दृष्टिकोण में परिवर्तन करना पड़ा था। इस परिवर्तन से उसमें भारतीय उद्योग को विकास के मार्ग पर ले जाने की इच्छा बलवती हुई। सन् 1916 को एक औद्योगिक आयोग का गठन किया गया था। इस आयोग को निम्नलिखित विषयों के संबंध में सुझाव देने का कार्य दिया गया था–

(अ) क्या भारत की पूंजी को वाणिज्य तथा उद्योगों में लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से कुछ नये कार्य शुरू किए जा सकते हैं?

(ब) यदि ऐसा हो सकता है तब फिर सरकार औद्योगिक विकास को किस तरह अच्छे ढंग से तथा प्रत्यक्ष एवं पारदर्शी रूप से प्रोत्साहित कर सकती है।

इस औद्योगिक आयोग ने सन् 1918 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। उसमें भारत सरकार की उद्योग संबंधी नीति के विषय में बातें रखी गईं थीं। पहली, सरकार को औद्योगिक विकास में पिछले समय की तुलना में भविष्य में अधिक सक्रिय भूमिका निभाने की जरूरत है। दूसरी बात, यदि सरकार देश के आर्थिक विकास में समुचित भूमिका निभाना ही चाहती है तो फिर उसे आगामी वर्षों में एक योग्य प्रशासनिक ढ़ांचा तैयार करना होगा।

औद्योगिक विकास की इस रिपोर्ट के पश्चात् तत्कालीन सरकार ने देश में औद्योगिक कामों में और उनके विकास में भी कुछ सहायता की थी। किंतु फिर भी वह सहायता अपर्याप्त ही अधिक रही। जिसके परिणामस्वरूप भारतीय उद्योग का विकास उतना भी नहीं हो पाया जितना कि होना चाहिए था।

वैसे सफल उद्योग–धंधों के लिए जो कारक होने चाहिए वह सब अधिकतर भारत में मौजूद तो थे ही। भारत में लोहा तथा कोयला और प्रमुख खनिज संपदा की कोई कमी नहीं थी। भारत में जल–शक्ति के पर्याप्त साधन भी उपलब्ध थे। इस पानी से प्रचुर मात्रा में औद्योगिक क्षेत्रों में बिजली की सप्लाई की जा सकती थी। लेकिन ब्रिटिश सरकार की उदासीनता इन सब साधनों के आगे अडिग खड़ी रही। तत्कालीन सरकार

टिप्पणी

का पूरा ध्यान उस समय भारत के प्राकृतिक साधनों का लाभ ब्रिटेन के उद्योगों को देने की तरफ ही लगा हुआ था। इसीलिए सब कुछ होते हुए भी भारतीय उद्योग उस समय पिछड़ी ही अवस्था में अधिक थे।

अंग्रेजी सरकार का व्यवहार तथा दृष्टिकोण भारतीय उद्योगों के प्रति सहयोग, संरक्षण तथा समर्थन का बिल्कुल भी नहीं था। अपितु इन उद्योगों के प्रति उनकी मंशा विद्वेषपूर्ण ही अधिक थी। इसको इस उदाहरण से भी देखा जा सकता है– अंग्रेजी सरकार की 'भंडार क्रय नीति' भी भारतीय उद्योगों के खिलाफ ही अधिक थी। वे ब्रिटिश उत्पादनकर्ता उद्यमियों के लाभ के ही अवसर तलाशते रहते थे। यह सरकार अपने भंडारण तथा रेलों के लिए भी विभिन्न प्रकार की वस्तुएं भारतीय उद्योगों से नहीं खरीदती थीं। वे सारा का सारा सामान ब्रिटेन का बना ही खरीदती थीं। 19वीं सदी के मध्य पश्चिमी यूरोप, जापान तथा अमेरिका आदि सभी देशों ने अपने–अपने घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से देश में बनी वस्तुओं को सरकारी खरीद में प्राथमिकता देने की ही नीति अपनायी थी। लेकिन भारतीय सरकार ने तो उलट ही नीति अपनायी थी। शासन यहां करते थे और लाभ ब्रिटेन को पहुंचाते थे। उनके हितों को ही हर दृष्टि से ऊपर रखते थे। ऐसे में भारतीय उद्योगों के पनपने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

माह दिसम्बर, सन् 1919 में 'भंडारण खरीद कमेटी' की नियुक्ति की गई थी। यह भारत में सरकारी स्टोर्स की खरीद को बढ़ावा देने की दिशा में एक महत्वपूर्ण शुरुआत थी। इस कमेटी का एक सुझाव यह भी था कि सरकारी खरीद के लिए भारतीय उत्पादों को एक न्यूनतम ऑर्डर की गारंटी दी जाये। इस आदेश से युद्ध के पश्चात् लोहे तथा इस्पात के उद्योग को आगे बढ़ाने में काफी मदद मिली थी। इस समय अनेकानेक ब्रिटिश तथा यूरोप के उद्योग भी भारत के बाजारों में अपने कम होते आधार को फिर से पाने के यत्न तलाश रहे थे। ऐसे में सरकारी खरीद को दृष्टिगत रखते हुए अनेक बार व्यापारी लागत से भी कम की कीमत में अपनी वस्तुएं देने को तैयार हो जाते थे। बाद के वर्षों में भी भारतीय उद्योगों को प्राथमिकता देने की नीति को ही आगे बढ़ाने की सिफारिशें की जाती रही थीं। परिणामतः बाद के वर्षों में सरकार की क्रय नीति में भी अवश्य ही कुछ बातें भारतीय उद्योगों के पक्ष में रखी गई थीं। फिर भी ब्रिटेन के उद्योगपतियों का दबाव भारतीय सरकार पर बना ही रहा। ऐसे में जब भारत के जहाजों में ब्रिटेन को माल भेजा जाने लगा तो ब्रिटेन के जहाज–मालिक शोर मचाने लगे थे। उन्होंने ब्रिटेन तथा भारत के मध्य व्यापार के लिए भारतीय जहाजों के प्रयोग पर सरकार से प्रतिबंध लगवाकर ही छोड़ा था।

यहां भी यह अंग्रेजी–शासन की कुटनीति काम करती दिखाई देती है कि उन्होंने भारत में औद्योगिक विकास की श्रेणी में उत्पादन कार्य हल्के उद्योगों से प्रारंभ किया था यानी जूट और कपड़े के उद्योग से। परंतु इस संदर्भ में यदि देखा जाय तो किसी भी राष्ट्र के औद्योगिक विकास की दृष्टि से हल्के उद्योगों का विकास निर्णायक महत्व नहीं रखता है। इसके लिए अंग्रेज शासक पहले भारत के भारी उद्योगों का विकास करते यानी लोह व इस्पात का। जिससे मशीनरी तथा इंजीनियरिंग जैसे आधारभूत उद्योगों का विकास पहले होता। उसके बाद कपड़ा–जूट उद्योग को बढ़ावा देना न्यायसंगत रहता। लेकिन, गोरों ने ऐसा नहीं किया। इस दृष्टि से फिर उनकी नीयत

टिप्पणी

पर शक किया जाना स्वाभाविक है। क्योंकि जब आधारभूत उद्योगों का विकास हो जाता है, तब अन्य उद्योग तो स्वाभाविक रूप से स्वयं ही विकास मार्ग पर चलने लगते हैं। अंग्रेज शासकों ने इन आधारभूत सिद्धांतों की भारत में खुलेआम अवहेलना ही की थी क्योंकि वे तो चाहते ही नहीं थे कि भारत औद्योगिक क्षेत्र में आगे बढ़े।

ये सब चलते–चलते 20वीं सदी के शुरू में भारत ने जो कुछ भी उन्नति औद्योगिक क्षेत्र में की थी उसका कारण देशी पूंजीपतियों और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के मध्य निहित स्वार्थों का ताल–मेल अधिक था।

अंग्रेज सरकार की नीति तथा दृष्टिकोण के चलने का असर आज तक भारतीय उद्योग के विकास पर देखा जा सकता है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो पाते हैं कि भारत में एक महान औद्योगिक राष्ट्र बनने के सारे गुण मौजूद हैं। इस कार्य के लिए सभी आवश्यक तत्व देश के ही भीतर हैं। फिर भी आज भारत आर्थिक दृष्टि से दुनिया का एक पिछड़ा हुआ देश माना जाता है। उद्योग धंधों की दृष्टि से तो अभी भी काफी पिछड़ा हुआ है। वस्तुस्थिति आज ये बनी हुई है कि यदि आने वाले कुछ वर्षों में भारत देश अपनी विशाल आबादी की बढ़ी हुई मांग के आधार पर एक अभूतपूर्ण ढंग से अपना औद्योगिक विकास समुचित रूप से आगे नहीं कर सका, तब इस देश के जीवन–यापन का स्तर भुखमरी के कगार पर आकर खड़ा हो जायेगा।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय उद्योग विकास की जान–बूझकर उपेक्षा करना भारत तथा ब्रिटेन के संबंधों के इतिहास का सबसे काला पृष्ठ है। यह भी कहा जा सकता है कि अंग्रेजों के शासन काल में भारत में व्यापार तो तीव्रता से बढ़ा मगर औद्योगिकीकरण के अभाव में उसने उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था के दुर्गुणों को हर दृष्टि से बढ़ावा दिया, जिसका खामियाजा भारतीय उद्योग जगत को भुगतना पड़ा था।

भारत में वाणिज्य के विकास ने यूरोप की भांति औद्योगिकीकरण को विकसित नहीं किया था। विदेश की पूंजी का निवेश रेलवे, बागान, खनिज, बैंकिंग, बीमे तथा सार्वजनिक कर्ज के लिए हुआ था। परंतु इसने चाय बागानों, खनिज तथा जूट की मिलों को छोड़कर भारत में और किसी भी आधुनिक उद्योग को विकास मार्ग पर ले जाने का प्रयास नहीं किया था। इसके लिए सरकारी नीतियां ही जिम्मेवार रही थी।

पहले विश्वयुद्ध के पश्चात् अंग्रेजी सरकार ने अपनी नीतियों में कुछ परिवर्तन किये। इन्हीं परिवर्तनों के अनुसार भारतीय उद्योगों को सरकार ने एक सीमा तक संरक्षण देना स्वीकार कर लिया था। इसके लिए सरकार ने विभेदकारी राजकोषीय संरक्षण नीति लागू की। लेकिन, इतना करने पर भी अंदर से सरकार अभी भी चाल चलने से बाज नहीं आई थी। ऊपर से तो यह नीति ब्रिटिश उद्योगों की अपेक्षा भारत के नये खोले जाने वाले उद्योगों को संरक्षण देने के लिए ही बनायी हुई लगती थी। किंतु, इस नीति को भी सरकार ने जिस चतुराई तथा आधे–अधूरे मन से चलाया था उससे भारत के उद्योग धंधों को संरक्षण देने के नाम पर उसके लाभ ब्रिटिश के पूंजी पतियों को ही प्राप्त हुए। इस तरह भारत के उद्योगों के लिए बनायी गई यह नीति भी ब्रिटिश उद्योंगो के लाभ के लिए ही प्रयोग में लायी गई थी।

सन् 1918 के भारतीय औद्योगिक आयोग ने भारत में आधुनिक उद्योगों के विकास हेतु संरक्षण की नीति अपनाने का सुझाव दिया था। इसमें यह भी कहा गया

टिप्पणी

था कि जो निम्नलिखित तीन कसौटियों पर खरे उतरेंगे केवल उन्हीं उद्योगों को सरकार का संरक्षण प्राप्त होगा। ये कसौटियां इस प्रकार थीं –

1. यह उद्योग ऐसा होना चाहिए जिसके लिए संरक्षण के बिना बिल्कुल भी विकसित होना असंभव हो। तात्पर्य यह था कि जो उद्योग बिना सरकार के संरक्षण के चलने में समर्थ न हो उसके लिए राष्ट्र के हित में कार्य करना आवश्यक होना चाहिए।
2. यह उद्योग ऐसा भी होना चाहिए जो आखिरकार संरक्षण के बगैर ही विश्व स्तर की प्रतियोगिता का सामना करने की क्षमता रखता हो।
3. उद्योग को पर्याप्त प्राकृतिक लाभ वाला होना चाहिए, उदाहरणार्थ कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति, सस्ती बिजली, श्रम की पर्याप्त पूर्ति, और साथ ही एक बड़ा घरेलू विस्तार लिए बाजार भी।

इन कसौटियों को देखने से एक बात की कमी लगती है कि इस सिद्धांत में इस बात पर ध्यान केंद्रित नहीं किया गया कि यदा–कदा कुछ मामलों में आर्थिक तर्कों को भी नजरअंदाज किया जाता है। इस प्रकार के उद्योगों को कभी–कभी बहुत दीर्घकाल के लिए संरक्षण की आवश्यकता होती है। यह संरक्षण देश की सुरक्षा की दृष्टि से भी देना आवश्यक हो जाता है। ऐसा उद्योग जिसका राष्ट्रीय हित के कारण देश के अंदर ही विकास करना आवश्यक हो जाता है, उस उद्योग को दीर्घकालीन संरक्षण देना आयोग का कर्तव्य बन जाता है। वहां उस सूरत में कसौटियों पर ध्यान नहीं दिया जाता है। देश यदि बेरोजगारी अथवा अल्प रोजगार की चपेट में आ जाता है तब भी इन कसौटियों पर ध्यान देना उचित नहीं माना जाता। क्योंकि यह भी सर्वमान्य सत्य है कि सिद्धांत बनाए भी मनुष्य के लिए ही जाते हैं तथा तोड़े भी मनुष्य के लिए ही जाते हैं। यह सब परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इसी परिदृश्य में यह भी माना जा सकता है कि विभेदकारी संरक्षण नीति के अतिरिक्त भारत सरकार की सन् 1923 से सन् 1939 के मध्य संरक्षण की नीति इसलिए भी आलोचना की शिकार बनी थी क्योंकि उसने राजकोषीय आयोग द्वारा बनायी गई कसौटियों का बहुत ही कठोरता से पालन किया था। उदाहरण के लिए यदि किसी उद्योग के पास सब कच्चे माल तो थे, किंतु एक कच्चा माल नहीं था तब उस स्थिति में उसे संरक्षण देने से मना कर दिया गया था। जबकि ऐसे उद्योगों को जापान में संरक्षण दे दिया गया था। संरक्षण प्रदान करने के लिए सरकारी अधिकारियों द्वारा जो तरीका अपनाया गया था, वह भी काफी असंतोषजनक था। उसके बाद भी सरकार ने स्वयं देश की औद्योगिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किसी भी उद्योग को अपनी तरफ से संरक्षण देने की पहल तक नहीं की थी। यह भी सरकार का उपेक्षित व्यवहार ही दर्शाता है।

इन नकारात्मक दृष्टिकोणों के अतिरिक्त यह भी मानना पड़ेगा कि सरकारी विभेदकारी संरक्षण की नीति से निश्चित ही औद्योगिक विकास को आगे ले जाने में कुछ तो मदद सरकार की तरफ से प्राप्त हुई थी। संरक्षण की इस नीति के चलते सर्वप्रथम सन् 1924 में लोहे व इस्पात के उद्योग को सरंक्षण प्राप्त हुआ था। बाद में भी अनेक उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हुआ था, जैसे– कागज उद्योग को सन् 1925 में, सूती वस्त्र उद्योग को सन् 1926 व सन् 1930 में, सन् 1928 में माचिस के उद्योग को, भारी रसायन उद्योग को सन् 1931 में, चीनी उद्योग को सन् 1932 में यह संरक्षण प्राप्त हुआ था। परंतु

टिप्पणी

वास्तविकता यह भी रही कि माचिस उद्योग में ज्यादातर पूंजी विदेशी ही लगी थी। इस उद्योग को संरक्षण देकर सरकार ने एक प्रकार से विदेशी पूंजी को ही संरक्षण दिया था। इसमें भारत का हित तो कम ही था। उस दौर में भारत सरकार की राजकोषीय नीति से जुड़ा जो महत्वपूर्ण मुद्दा सामने आया था, वह शाही साम्राज्य से आने–जाने वाले सामंतों को तथा सामानों को रियायत देने का था। भारतवासी चाहते थे कि सभी वस्तुओं पर समान ही आयात–निर्यात दर कर लगे फिर चाहे उसमें कोई भी देश हो, किसी की भी वस्तु ही क्यों न हो। किंतु अंग्रेजी सरकार की शाही छूट देने की नीति के अनुसार तथा ब्रिटेन और ब्रिटेन के अधिकार क्षेत्र के देशों की नीति के अनुसार, ब्रिटेन तथा ब्रिटेन के अधिकार क्षेत्र के देशों से आने अथवा जाने वाले सामान को विशेष छूट एवं प्राथमिकता दी जानी चाहिए थी।

सन् 1932 में लिए ओटावा के समझौते के अनुसार उन्होंने शाही छूटों की इस नीति पर और भी पक्की मोहर लगा दी थी। ओटावा के इस समझौते के अनुसार ब्रिटेन के बाजारों में इस साम्राज्य के राष्ट्रों की वस्तुओं को प्रवेश करने देने की सुविधा प्रदान की गई थी। उसके स्थान पर ब्रिटिश वस्तुओं के आयात को छूट दी गई थी। इस समझौते के अनुसार ब्रिटेन के बाजारों में भारत की जिन वस्तुओं को बगैर शुल्क के प्रवेश करने की अनुमति प्रदान की गई थी, वे थीं– कपड़े व जूट से निर्मित वस्तुएं, हड्डियां तथा खालें, चावल, कॉफी, चाय, मूंगफली, मैगनीज, मैगनेशियम क्लोराइड तथा गैर जरूरी वनस्पति तेल आदि। इसके बदले में भारत के ब्रिटेन के मोटर यातायात के आयात पर साढ़े सात प्रतिशत और अन्य प्रकार की वस्तुओं के आयात पर 10 प्रतिशत की दर से छूट देना स्वीकार कर लिया गया था। इसके अलावा, ब्रिटेन से आने वाले सूती कपड़े तथा लोहे व इस्पात की वस्तुओं को छूट (रियायत) देने का भी इस समझौते में जिक्र किया गया था।

दूसरे विश्वयुद्ध के मध्य भी राजकोषीय नीतियां ही लागू की जा रही थीं। विदेशों से आयात बंद हो जाने के कारण भारत में अनेकानेक नये उद्योग प्रारंभ किये जा रहे थे। इन उद्योगों को प्रोत्साहित करने के ध्येय से जून, सन् 1940 में सरकार ने राजकोषीय नीति में उदारता भी बरती थी। इस उदारता के कारण ही सरकार ने नये स्थापित उद्योगों से कहा था कि यदि वे सुदृढ़ धरातल पर कार्य करते रहेंगे तो उनकी विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा की जायेगी। यह युद्ध से पहले की नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन माना गया था।

तत्कालीन भारत सरकार ने सन् 1945 के अप्रैल माह में 'युद्ध के बीच अस्तित्व' में आए उद्योगों को संरक्षण देने के मामलों की जांच करने के ध्येय से एक विशेष प्रशुल्क मंडल गठित किया था। इस प्रशुल्क मंडल के मार्गदर्शन हेतु सरकार द्वारा नीचे दिए गए दो मार्गदर्शक सिद्धांत बनाये गए थे–

1. जिस उद्योग की सहायता की जानी थी वह ठोस व्यावसायिक स्तर पर स्थापित हो, तथा कार्यरत भी हो।
2. (अ) या तो वह उद्योग उसे प्राप्त प्राकृतिक एवं आर्थिक लाभों और उसकी वास्तविक व संभावित लागतों को ध्यान में रखते हुए एक उचित समय की सीमा में संरक्षण या सरकारी सहायता के बगैर सफलतापूर्वक अपना काम चलाने में

टिप्पणी

समर्थ हो, अथवा (ब) वह ऐसा उद्योग हो जिसे राष्ट्र के हित में संरक्षण अथवा सहायता प्रदान करना वांछनीय हो। इस प्रकार के संरक्षण अथवा सहायता का संभावित भार बहुत अधिक भी न होता हो।

अब इन सिद्धांतों के तहत भी जिन लोगों ने सन् 1922–1923 की संरक्षण नीति का यह कहकर विरोध किया था कि यह कठोर है, उन लोगों को संतुष्ट करने के लिए ही उपधारा (ब) को पर्याप्त उदार बनाया गया था। यहां संरक्षण के आधार को तो विस्तार दे दिया गया था, परंतु प्रशुल्क मंडल को तीन वर्षों से अधिक समय के लिए संरक्षण स्वीकृत करने का अधिकार नहीं दिया गया था। अतः इसे अपर्याप्त माना गया था। इस संरक्षण की नीति का भी बहुत कुछ लाभ ब्रिटिश पूंजीपतियों व उद्योगपतियों को ही मिला था। भारत की अंग्रेज सरकार ने कदम–कदम पर अपने ही लाभों को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष ढंग से अपने ही फायदे में अधिक रखा था। जो कि किसी भी दृष्टि से न्याय संगत नहीं ठहराया जा सकता था।

अपनी प्रगति जांचिए

9. भारत में शहरी मंडियों व व्यावसायिक केंद्रों का विकास कब हुआ?

   (क) 19वीं सदी में (ख) 18वीं सदी में

   (ग) 17वीं सदी में (घ) 16वीं सदी में

10. भारत में सबसे पहले रेल लाइन कब बिछाई गई।

   (क) 1857 (ख) 1858 ई.

   (ग) 1859 ई. (घ) 1860

4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ग)
3. (क)
4. (ख)
5. (ग)
6. (ग)
7. (क)
8. (क)
9. (क)
10. (क)

टिप्पणी

4.5 सारांश

मध्यकालीन अर्थव्यवस्था के पश्चात भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी की शासन प्रणाली में नवीन अर्थव्यवस्था को स्थापित किया गया। जिसने भारतीय अर्थव्यवस्था को आमूल–चूल परिवर्तित कर दिया जिसका प्रभाव समाज पर भी पड़ा।

ब्रिटिश शासकों का मुख्य उद्देश्य भारत का औपनिवेशिक शोषण करना था। इसके लिए उन्होंने कृषि का व्यवसायीकरण किया तथा भारत के कुटीर धंधों का विनाश किया था। अतः यह सोचना कि ये विदेशी शासक भारत का औद्योगीकरण करने के बारे में कोई कार्य कर सकते थे, पूर्ण रूप से एक भ्रांति है। यह सच है कि अंग्रेजों ने यहां रेलवे, सड़कें, डार तार बंदरगाहों का विकास, बैंकों की स्थापना, बीमा कंपनियों की स्थापना, सिंचाई योजनाओं का निर्माण कार्य किया था लेकिन इनका उद्देश्य भारत का विकास करना नहीं बल्कि साम्राज्यवादी शोषण की नीति थी।

भारत के विशाल साम्राज्य पर अपना अधिकार स्थापित करने के पश्चात इस पर अपना नियंत्रण बनाये रखने और शासन चलाने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने अनेक तरीके अपनाए। 1757 से 1857 ई. की लंबी अवधि के दौरान कंपनी की प्रशासनिक नीति अधिकतर परिवर्तित रही। उसने अपने लक्ष्यों में कभी बदलाव नहीं किया। उसने कंपनी के मुनाफे में बढ़ोतरी, भारत पर अधिकार को ब्रिटेन के लिए फायदेमंद बनाना तथा भारत पर ब्रिटिश पकड़ को कायम रखकर उसे सुदृढ़ बनाना आदि अपने लक्ष्यों में अपनी दृढ़ता अपनाए रखी जिससे वह अपने आर्थिक हितों की पूर्ति कर सके।

अतः उसने बहुत सी भू–राजस्व नीतियों का निर्धारण कर कृषि व्यवस्था में अनेक परिवर्तन कर भारत की अर्थव्यवस्था को कमजोर कर दिया।

4.6 मुख्य शब्दावली

- **विघटन** : अलग होना।
- **अनभिज्ञ** : अनजान।
- **परिलक्षित** : अच्छी प्रकार से निरूपित।
- **पतन** : गिरावट या नीचे गिरना।
- **संकलन** : एकत्रित करना।
- **अनर्जित** : न कमाया हुआ।
- **सततता** : निरंतरता।

4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. स्थायी बंदोबस्त पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. महालवाड़ी व्यवस्था के लाभ बताइए।

टिप्पणी

3. ग्रामीण ऋणग्रस्तता पर प्रकाश डालिए।
4. रैयतवाड़ी व्यवस्था के लाभ बताइए।
5. रीड के कार्य बताइए।
6. देशी रियासतें और अर्थतंत्र को विवेचित कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. अठारहवीं सदी में भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था कैसी थी? यहां भू राजस्व की आवश्यकता क्यों महसूस की गई। विस्तार से प्रतिपादित कीजिए।
2. स्थायी बंदोबस्त की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. महालवाड़ी बंदोबस्त पर विस्तार से निबंध लिखिए।
4. ग्रामीण ऋणग्रस्तता के प्रति अंग्रेजों की क्या नीति रही। विस्तृत विवेचना कीजिए।
5. ब्रिटिश भारत की वित्त संस्थाओं के विकास का वर्णन कीजिए।
6. भारत में ब्रिटिश शासन काल में रैयतवाड़ी व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
7. ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के कृषि पर दुष्प्रभाव की व्याख्या कीजिए।
8. ब्रिटिश नियंत्रण में आने से पूर्व देशी रियासतों में भूमि का वर्गीकरण किस प्रकार किया गया था?
9. अठारहवीं सदी में पश्चिम एवं दक्षिण भारत की आर्थिक संरचना कैसी थी? विस्तार से बताइए।

4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. श्रीवास्तव – बी.के. भारत का इतिहास एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग हाऊस, आगरा 2007
2. दुबे– सत्यनारायण शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी इंदौर
3. वर्मा एस.आर., श्रीवास्तव बी.के. एस. बी.पी.डी. यूनीफाइड पब्लिशिंग हाऊस आगरा
4. चतुर्वेदी ए.के. एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन यूनीफाइड आगरा
5. किरन कम्पटीशन टाइम्स शिव नगर प्रतियोगी पुस्तक अल्लापुर इलाहाबाद
6. लूनिया बी.एन. लक्ष्मीनारायण अग्रवाल आगरा भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास
7. ग्रोवर बी.एल., यशपाल एस. चंद्र एण्ड कंपनी 'आधुनिक भारत का इतिहास' लि. रामनगर दिल्ली
8. मध्यकालीन भारत – महाजन वी.डी. एस. चंद्र एण्ड कंपनी प्रा. लि. रामनगर दिल्ली

टिप्पणी

9. सरकार सुमित – आधुनिक भारत दिल्ली
10. शर्मा एल.पी. आधुनिक भारतीय संस्कृति 2004
11. चंद्रा विपीन – भारत का स्वतंत्रता संघर्ष दिल्ली 2006
12. माथुर – लक्ष्मण प्रसाद आधुनिक भारत का इतिहास जैन प्रकाशन
13. कुछ उद्धरण के लिए नेट से भी सहयोग लिया गया है।

इकाई 5 औपनिवेशिक शासन का विरोध

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 औपनिवेशिक शासन के विरोध की प्रकृति एवं स्वरूप
5.3 1857 से पूर्व किसान जनजाति और सांस्कृतिक विरोध
5.4 1857 का विद्रोह : विचारधारा, कार्यक्रम, विभिन्न स्तरों पर नेतृत्व, लोगों की भागीदारी तथा ब्रिटिश दमन और प्रतिक्रिया
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। भारत में अंग्रेजों के आगमन के समय कृषि समृद्ध थी एवं कृषक खुशहाल जीवन व्यतीत कर रहे थे। सन् 1757 में प्लासी के युद्ध के पश्चात भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन विस्तार पाने लगा। उसी समय इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप भारत को वहां के उद्योगों हेतु कच्चे माल की प्राप्ति के साधन के रूप में देखा गया। अब कंपनी के अधिकारियों ने भारतीय कृषकों को वह उपजाने को बाध्य किया, जिसकी आवश्यकता ब्रिटिश उद्योगों को कच्चे माल के रूप में थी। इसके अलावा ब्रिटिश भूराजस्व नीति (स्थाई बंदोबस्त, महलवाड़ी, एवं रैयतवाडी) ने भी भारतीय कृषकों की रीढ़ तोड़ दी। अत्यधिक भू–राजस्व न चुकाने के कारण कृषक भूमिहीन होने लगे। इससे कृषकों में असंतोष व्याप्त हुआ। कृषक साहूकारों के ऋण–जाल में फंसे थे, अतः साहूकार, जमींदार एवं सरकार तीनों को ही कृषकों ने अपना दुश्मन माना। इनके अत्याचारों ने कृषकों को विद्रोह करने को बाध्य किया। अकालों ने भी कृषक की स्थिति पर आघात डाला। अकाल के प्रति ब्रिटिश सरकार की उदासीनता ने भी कृषकों को आहत किया।

भारत सहित विश्व के कई भागों में जनजातियों और पिछड़ी जातियों के बीच चले छोटे–छोटे आंदोलनों का अध्ययन, उपाश्रयी इतिहास लेखन अथवा निम्नवर्गीय इतिहास लेखन (सबाल्टर्न स्टडीज) के तहत आज अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया है। इतिहास को नीचे से देखने की दशा में भी आंदोलनों का अध्ययन महत्वपूर्ण है। बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा के प्रदेशों में ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना के समय से ही इन प्रदेशों की जनजातियों में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति असंतोष व्याप्त हो गया। स्टीफन फक्स के अनुसार, ''जनजातियों में उन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के विरुद्ध गहरा असंतोष था जो उन पर थोपी गई थीं।' यही कारण है कि इन आंदोलनों को जनजातीय समुदाय द्वारा औपनिवेशक व्यवस्था के विरुद्ध छेड़े गए संघर्ष के रूप में देखा जाता है। कुमार सुरेश सिंह के अनुसार, "इन आंदोलनों में जनजातियों की कराह, व्यथा और

टिप्पणी

निराशा तथा स्थापित व्यवस्था की नई शक्तियों के प्रचंड आघातों से रक्षा करने की गाथा है।" साथ ही वे यह भी लिखते हैं– ''यह विद्रोह अपनी अभिव्यक्ति के लिए चाहे जो रूप ग्रहण करे, पर अंततः, यह शक्तिशाली के विरुद्ध शक्तिहीन एवं संगठित, साधन–संपन्न लोगों के विरुद्ध सीधे–सादे और अबोध लोगों की पहले से ही हारी हुई निराशाजनक स्थितियों से पूर्ण लड़ाई है।''

15वीं सदी के पश्चात से प्रत्येक सदी के मध्य का छठा दशक भारत के इतिहास में अत्यंत घटनाप्रधान रहा है। 1556 ई. में मध्ययुगीन सम्राट अकबर का राज्याभिषेक हुआ और 5 नवंबर, 1556 ई. को इतिहास प्रसिद्ध पानीपत के युद्धों में से एक पानीपत का द्वितीय युद्ध हुआ। उसके 100 वर्ष पश्चात 1657–58 ई. में मुगल शहजादों–दाराशिकोह, औरंगजेब, शाहशुजा एवं मुराद बख्श के बीच इतिहास प्रसिद्ध उत्तराधिकार का युद्ध हुआ जिसमें विजय प्राप्त कर औरंगजेब भारत का शासक बना। इसके ठीक 100 वर्ष पश्चात 23 जुलाई, 1757 ई. को प्लासी का युद्ध हुआ। अब ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक कंपनी से, भारत पर राज्य करने वाली कंपनी में परिवर्तित हो गई। इसकी अपनी स्वार्थपरक, आर्थिक शोषणकारी, सामाजिक हस्तक्षेप संबंधी, सैनिक भेदभाव एवं स्वेच्छाचारी नीतियों से समस्त भारतीय जनमानस को इतना अधिक उद्वेलित कर दिया कि उसके समक्ष अपनी समस्याओं के समाधान का एकमात्र विकल्प था 'क्रांति' और कंपनी राज के ठीक 100 वर्षों पश्चात अंग्रेजों को '1857' के विद्रोह का सामना करना पड़ा।

महान वैज्ञानिक न्यूटन की गति का तीसरा नियम 'प्रत्येक क्रिया के विपरीत एक प्रतिक्रिया होती है' 1857 की क्रांति में सत्य साबित हुआ। 100 वर्षों में कंपनी ने भारतीय महिला, पुरूष एवं बच्चों पर जो अत्याचार किए थे, उसकी प्रतिक्रिया 1857 की क्रांति के तीन माहों – मई, जून एवं जुलाई में देखने को मिली। इन तीन माहों में अंग्रेज महिला, पुरूष एवं बच्चों को कई खौफनाक मंजरों को देखना पड़ा। कानपुर, झांसी एवं सागर सहित कई स्थानों पर अंग्रेजों में अत्यधिक दहशत छा गई। जब कानपुर में अंग्रेजों के भीषण जनसंहार का समाचार इंग्लैंड पहुंचा तो ब्रिटेन की जनता प्रतिशोध एवं भारतीयों को सबक सिखाने की मांग करने लगी। विद्रोह के दमन में लॉर्ड कैनिंग की हैदराबाद, ग्वालियर, पटियाला, नाभा, जींद एवं नेपाल आदि रियासतों ने मदद की। इस प्रकार भारतीयों की मदद से ही भारत के इस प्रथम विद्रोह का दमन कर दिया गया। एक बार पुनः न्यूटन का नियम साकार होता दिखाई दिया। अब विद्रोह के दमन के उपरांत भारतीयों को अत्यंत वीभत्स तरीके से मौत के घाट उतारा गया।

ब्रिटेन की जनता के लिए इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज एवं पंच आदि पत्रिकाओं में 'भारत के विद्रोहियों को मृत्युदंड देते हुए' चित्र छापे गए। इसके द्वारा ब्रिटेन को बताया गया कि हमने विद्रोह पर काबू पा लिया है। विद्रोहियों को ऐसा दंड दिया है कि वे आगे विद्रोह की सोच भी न सकें।

बहादुरशाह जफर, नाना साहब, कुंवर सिंह, बेगम हजरत महल, रानी लक्ष्मीबाई, बख्तवली, मर्दन सिंह, अली बहादुर, लियाकत अली एवं कदम सिंह क्रांति के प्रमुख नेता थे मगर संसाधनों के एवं एक योजनाबद्ध तरीके के अभाव ने इनके मंसूबों पर पानी फेर दिया। क्रांति के प्रमुख सूत्रधार तात्या टोपे थे। उन्होंने क्रांति के दमन के पश्चात भी

अंग्रेजों को बहुत छकाया। विश्वासघात स्वरूप यह देशभक्त पकड़ा गया और शिवपुरी (मध्य प्रदेश) में 18 अप्रैल, 1859 ई. को शाम सात बजे इसको फांसी दे दी गई। इस प्रकार क्रांति का अंतिम दिया भी बुझ गया।

टिप्पणी

क्रांति असफल अवश्य हुई मगर इसने स्वतंत्रता की ऐसी अलख जगायी कि 90 वर्ष पश्चात 1947 ई.में भारत अंततः स्वतंत्र हो गया। क्रांति के ठीक 100 वर्ष पश्चात 1956 ई. में राज्यों का पुनर्गठन हुआ और उसने सिद्ध कर दिया कि प्रत्येक शताब्दी का छठा दशक भारतीय इतिहास का महत्वपूर्ण दशक रहा है।

प्रस्तुत इकाई में औपनिवेशिक शासन के विद्रोह की प्रकृति एवं स्वरूप, 1857 से पूर्व किसान जनजाति और सांस्कृतिक विरोध की स्थिति को समझाते हुए 1857 के विद्रोह का अध्ययन किया गया है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- औपनिवेशिक शासन के विद्रोह की प्रकृति एवं इसके स्वरूप से अवगत हो पाएंगे;
- 1857 से पूर्व के किसान जनजाति एवं सांस्कृतिक विरोध को समझ पाएंगे;
- 1857 के विद्रोह का विवचन कर पाएंगे।

5.2 औपनिवेशिक शासन के विरोध की प्रकृति एवं स्वरूप

'1857' का वास्तविक स्वरूप क्या था, यह विद्वानों के लिए वाद–विवाद का विषय है। वाद–विवाद की स्थिति इसलिए बनती है क्योंकि लिखने वालों का दृष्टिकोण अलग–अलग होता है। यह बात एकदम साफ थी कि 1757 से 1857 तक अंग्रेजों की विविध नीतियों ने भारतीयों को विद्रोह/क्रांति करने को बाध्य किया। अब इस क्रांति/विद्रोह का स्वरूप क्या था, इसको लेकर विभिन्न लोगों ने अपने–अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। इसके स्वरूप के बारे में निम्न विचार सामने आए–

1. यह एक सैनिक विद्रोह था

अधिकांश ब्रिटिश लेखकों एवं कतिपय भारतीय लेखकों ने इसे सैनिक विद्रोह कहा है। जॉन लॉरेन्स ने इसे सैनिक विद्रोह एवं उसका कारण चर्बी वाला कारतूस बताया है। इतिहासकार सीले ने लिखा है कि यह विद्रोह एक पूर्णतः देशभक्ति रहित अैर स्वार्थी सैनिक विद्रोह था। इनके सुर में सुर मिलाते हुए भारत सचिव स्टेनले, के. मैलसन, ट्रेवेलियन, डॉडवेल एवं रॉबर्ट्स आदि ने भी इसे सैनिक विद्रोह करार दिया।

भारतीयों में सर सैयद अहमद खां, मुंशी जीवन लाल, दुर्गादास बंदोपाध्याय एवं रमेशचंद्र मजूमदार आदि ने भी इसे एक सैनिक विद्रोह माना। मजूमदार ने बताया कि बाद में इसने जन आंदोलन का रूप ले लिया।

यह सैनिक विद्रोह मात्र था, इस कथन को स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि–

टिप्पणी

- इसमें भारत की पूरी सेना ने भाग नहीं लिया। बहुत से भारतीय सैनिक अंग्रेजों का साथ दे रहे थे। उदाहरण के लिए सागर में 42वीं देशी पलटन तो विद्रोही थी मगर 31वीं देशी पलटन के सिपाही किले में शरण लिए हुए 370 अंग्रेज पुरूष, महिला व बच्चों की रक्षा कर रहे थे। ऐसी ही स्थिति अधिकांश जगह थी।
- सैनिकों का साथ जनता ने भी दिया। अवध की जनता, कृषक एवं ताल्लुकेदार एवं दस्तकार आदि सभी ने अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह किया था।
- अंग्रेजों ने जो जांच कमीशन बैठाया, उसने भी बताया कि बड़ी संख्या में नागरिकों ने इसमें भाग लिया।

2. मुस्लिम सत्ता की पुनःस्थापना का षड्यंत्र

सर जेम्स आउट्रम एवं डब्ल्यू टेलर ने इस विद्रोह को हिंदू–मुस्लिम षड्यंत्र का परिणाम बताया है। आउट्रम का कहना था 'यह एक मुस्लिम षड्यंत्र था जिसमें हिंदुओं की शिकायतों का लाभ उठाया गया।' वस्तुतः मुस्लिम लोग इस षड्यंत्र द्वारा हिंदुओं का सहयोग प्राप्त कर अपनी सत्ता की पुनर्स्थापना करना चाहते थे। आउट्रम लखनऊ में था एवं लखनऊ में विद्रोह का नेतृत्व बेगम हजरत महल एवं मौलवी अहमद उल्ला शाह ने संभाला। दिल्ली में बहादुरशाह जफर को सम्राट बनाया गया। अतः आउट्रम ने इसे मुगल साम्राज्य की पुनर्स्थापना के रूप में देखा परंतु यह सच नहीं था। विद्रोहियों में हिंदुओं की संख्या अधिक थी। सागर में व्रिदोह का आरंभ मुस्लिम शेख रमजान ने किया मगर बाद में नेतृत्व हिंदू राजा बख्तवली को सौंप दिया। क्रांति के अधिकांश नेता हिंदू थे। अतः आउट्रम का मूल्यांकन एकपक्षीय है। उन्होंने तस्वीर के दूसरे पक्ष की अनदेखी की। आउट्रम चूंकि मुस्लिमों की बहुलता वाले क्षेत्र अवध में रहा और उसने वहां परेशानी देखी अतः उसका आक्रोश मुस्लिमों के प्रति अधिक था। इसीलिए उसने इसे मुस्लिम षड्यंत्र कहा। आउट्रम का विचार इसीलिए मान्य नहीं हुआ।

3. सभ्यता एवं बर्बरता के मध्य संघर्ष

टी. आर. होम्स ने इसे सभ्यता एवं बर्बरता के मध्य संघर्ष बताया है। वे अंग्रेजों को सभ्य एवं भारतीयों को बर्बर मानते हैं। इसके लिए उन्होंने उन कत्लेआमों का जिक्र किया है जो भारतीयों ने क्रांति के दौरान किए थे। मगर होम्स महोदय उस बर्बरता को क्यों भूल गए, जिसका सहारा तथाकथित सभ्य अंग्रेजों ने क्रांति के दौरान लिया था। एलफिस्टन ने स्वयं अंग्रेजों के क्रूरतापूर्ण दमन की नादिरशाह से तुलना की है। अतः होम्स ने भी 1857 के स्वरूप का एकपक्षीय मूल्यांकन किया है; जो उचित नहीं है।

4. धार्मिक संघर्ष

एल. ई. आर. रीज. ने 1857 के विद्रोह को 'धर्मांधों का ईसाइयों के विरुद्ध संघर्ष' (The revolt was a war of fanatic religionists against christians) कहा है। उनके अनुसार भारत के हिंदू एवं मुस्लिम लोग ईसाई धर्म के प्रचार–प्रसार से असंतुष्ट थे। वे उसे उनकी धर्म एवं संस्कृति पर प्रहार के रूप में देख रहे थे। अतः हिंदू एवं मुस्लिमों ने अपने धर्म की रक्षा के लिए संघर्ष किया। इस विद्रोह के स्वरूप को पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता। भारत के समस्त हिंदू–मुस्लिम इस युद्ध में शामिल नहीं थे। कई हिंदू–मुस्लिमों ने अंग्रेजों का साथ दिया।

टिप्पणी

5. प्रथम स्वतंत्रता संग्राम

इंग्लैंड कंजरवेटिव दल के नेता बेंजामिन डिजरैली ने इस विद्रोह को राष्ट्रीय विद्रोह बताया जिसमें सैनिक उपकरण मात्र थे। वी. डी. सावरकर ने इसे भारत की स्वतंत्रता के लिए सुनियोजित संग्राम कहा। के. एम. पणिक्कर, ईश्वरी प्रसाद, आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव एवं ताराचंद्र आदि ने भी इनके इस मत का समर्थन किया।

6. क्रांति

कार्ल मार्क्स ने भारत के राष्ट्रीय विद्रोह को क्रांति की संज्ञा दी। 15 सितंबर, 1857 को न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में प्रकाशित लेख में मार्क्स ने लिखा–

''इन घटनाओं की परीक्षा हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचने को बाध्य करती है कि बंगाल के उत्तर–पश्चिमी प्रदेशों में ब्रिटिश फौज क्रमशः क्रांति के समुद्र के बीच टापूनमा चट्टानों पर बनी चौकियों की स्थिति में पहुंच गई है।''

न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में क्रांति के दौरान मार्क्स ने 21 लेख एवं उनके आग्रह पर फैड्रिक एंगेल्स ने 10 लेख लिखे। ये सभी लेख मास्को से 1959 में प्रकाशित 'The First Indian War of Independence' (भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम) नामक पुस्तक में छपे हैं। मार्क्स ने 1857 को राष्ट्रीय विद्रोह के रूप में देखा और इसे क्रांति की संज्ञा दी।

सुरेंद्र नाथ सेन ने भी लिखा है कि क्रांतियां एक छोटे से वर्ग द्वारा ही की जाती हैं। जनता की सहानुभूति उनके साथ होती है परंतु उनमें से अधिकांश व्यक्ति निष्क्रिय रहते हैं। अमेरिकन स्वतंत्रता युद्ध (1776 ई.) एवं फ्रांसीसी क्रांति (1789 ई.) में भी ऐसा ही हुआ था। इन्हें हम स्वतंत्रता संग्राम मानते हैं। अतः 1857 के व्रिदोह को भी स्वतंत्रता संग्राम माना जा सकता है।

निष्कर्षतः 100 वर्ष की दासता के बाद भारतीयों ने अपनी–अपनी परेशानियों से उबरने के लिए 1857 में स्वतंत्रता हेतु जमकर संघर्ष किया। इसलिए इसे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। भारत की जनता प्राचीन काल से ही कई विदेशी आक्रमणों का निरंतर शिकार होती रही। उसने कभी भी संघर्ष नहीं किया। निश्चित रूप से अंग्रेजों ने कुछ ऐसे भारत विरोधी कार्य किए जिससे जनता उद्वेलित हो गई। आम सैनिक, जनता एवं कृषकों का एक साथ सड़क पर उतरकर अंग्रेजों से संघर्ष करना भारतीय संदर्भ में निश्चित रूप से एक क्रांतिकारी कार्य था। 1857 के विद्रोह को क्रांति कहा जाना भी उचित प्रतीत होता है।

5.3 1857 से पूर्व किसान जनजाति और सांस्कृतिक विरोध

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन काल में प्रारंभ में भारतीय कृषकों पर सर्वाधिक बज्रपात हुआ। भारत का खुशहाल कृषक कंपनी की नीतियों के कारण सर्वाधिक प्रभावित हुआ। कृषकों में बढ़ते अंसतोष के कई कारण थे।

कृषक अंसतोष के कारण

विपिन चंद्र ने लिखा है– "औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों, भू–राजस्व की नई प्रणाली एवं उपनिवेशवादी प्रशासनिक व न्यायिक व्यवस्था ने किसानों की कमर तोड़ दी।"

टिप्पणी

विपिन चंद्र का यह कथन स्पष्टतः कृषक आंदोलनों के प्रमुख कारण को दर्शाता है। कृषक आंदोलन के कारण निम्नानुसार हैं–

- **अत्यधिक लगान**– स्थायी बंदोवस्त, महालवाड़ी एवं रैयतवाड़ी बंदोबस्त द्वारा कृषकों से अत्यधिक लगान वसूला गया। इससे कृषक विद्रोही होने लगे।
- **जमींदारों का अत्याचार**– ठेके पर लगान वसूली देने से जमींदार अधिक से अधिक मुनाफा हेतु कृषकों पर अत्याचार करने लगे। इससे कृषकों में असंतोष व्याप्त हुआ।
- **दूषित न्याय व्यवस्था**– न्याय व्यवस्था खर्चीली एवं भ्रष्ट थी। आम कृषक अपनी भूमि से बेदखली के विरुद्ध मुकदमा दायर करने की स्थिति में भी नहीं था और न ही वह न्याय हेतु बार–बार गांव से तहसील जा सकता था।
- **प्रशासनिक व्यवस्था के दोष**– प्रशासन आम कृषक की समस्याओं के प्रति उपेक्षा का भाव दर्शाता था।
- **कृषि का वाणिज्यीकरण**– ब्रिटिश सरकार ने अपने फायदे के लिए व्यावसायिक फसलों को उपजाने हेतु कृषकों को बाध्य किया। यह कृषि का वाणिज्यीकरण कृषकों के लिए मुसीबत बन गया। वे विद्रोही हो गए।
- **ग्रामीण ऋणग्रस्तता**– अत्यधिक लगान को चुकाने के लिए कृषक ऋण जाल में फंस गए। ऋण का मूल तो वही का वही रहता था बस कृषक द्वारा ब्याज ही चुकाया जाता था। इससे कृषकों में असंतोष व्याप्त हुआ।
- **भूमि का विखंडीकरण**– भूमि की जोत कम होने से भूमि का विखंडीकरण हुआ। इससे उपज में कमी आयी और कृषकों की हालत बद से बदतर होती गई।
- **कृषि के प्रति उपेक्षित व्यवहार**– ब्रिटिश सरकार ने लगान तो अत्यधिक वसूला परंतु कृषि की उन्नति पर कोई ध्यान नहीं दिया। इससे कृषकों को दोहरी हानि हुई।
- **ब्रिटिश सरकार का पूंजीपतियों को समर्थन**– साहूकार एवं जमींदार कृषकों का अत्यधिक शोषण कर रहे थे। कृषक इनके विरुद्ध नहीं जा पा रहे थे, क्योंकि सरकार का उन्हें समर्थन था। इससे कृषक वर्ग असंतुष्ट था।
- **अकाल**– अकाल बार–बार पड़े। भारी संख्या में लोगों की मौत ने भी सरकार की संवेदना को नहीं जगाया। एक ओर अकाल से त्राहि–त्राहि मची थी दूसरी और लॉर्ड लिटन ने दिल्ली में भव्य दरबार का आयोजन कर पानी की तरह पैसा बहाया। इससे भारतीयों में असंतोष बढ़ा।
- **भूमि पर दबाब**– ब्रिटिश सरकार ने अपने उद्योग निर्मित सस्ते माल को भारतीय बाजार में खपाया। इससे भारतीय हस्तशिल्प एवं दस्तकारी का ह्रास

हुआ। ये मजदूर शहर छोड़कर गांव में पहुंच गए। इससे ग्राम की भूमि पर दबाब बढ़ा।

- **कृषक चेतना का विकास**– स्वामी सहजानंद सरस्वती, राहुल सांकृत्यायन एवं एन. जी. रंगा जैसे कृषक नेताओं ने भारतीय कृषकों में चेतना विकसित की।

टिप्पणी

भारत के प्रमुख कृषक आंदोलन

(अ) संथाल विद्रोह– 1810 ई. में जब बुकानन दौरा कर रहा था, गुजरिया पहाड़ (राजमहल के पहाड़ों का एक भाग) के आगे चट्टानों के रास्ते से होकर उसे एक गुजरिया नामक गांव मिला। यद्यपि यह गांव पुराना लग रहा था लेकिन गांव के आस–पास की जमीनें अभी–अभी खेती के लिए साफ की गई थीं, जो उस गांव के लोगों की श्रम–शक्ति की परिचायक थी। बुकानन ने इस गांव की सुन्दरता की तारीफ की है। यहां जमीनों को बुकानन ने चट्टानी जरूर बताया हैं लेकिन वह उपजाऊ थीं। 1800 ई. में आए हुए संथालों ने पहाड़ियों को भगाकर कृषि क्षेत्र की अपनी सीमाएं बढ़ा ली थीं।

बुकानन ने संथालों की तम्बाकू तथा सरसों की फसलों को बढ़िया बताया है। आखिर संथाल राजमहल की पहाड़ियों तक कैसे पहुंचे, यह शोचनीय विषय है। वास्तव में ऐतिहासिक रिकॉर्डों को देखने पर पता चलता है कि 1780 के दशक में संथाल बंगाल पहुंचे, जहां कृषि क्षेत्र विस्तार हेतु नई जमीन तैयार करने के लिए जमींदारों द्वारा उन्हें किराए पर रखा गया।

ब्रिटिश अधिकारियों का ध्यान संथालों की ओर गया। उन्होंने संथालों को राजमहल की पहाड़ियों पर जंगल साफ करने के लिए आमन्त्रण दिया था। ये स्थायी कृषि भी करते थे तथा हल भी चलाते थे। 1832 ई. में इन्हें राजमहल पहाड़ियों के निचले भाग में बसने के लिए एक बड़ा क्षेत्र 'दामिन–इ–कोह' दे दिया गया। इस जगह को संथालों की भूमि घोषित कर यहां तक इनकों सीमांकित कर दिया गया।

संथाल पूर्वी भारत की एक प्रमुख जनजाति थी जो मुख्यतः छोटानागपुर क्षेत्र में निवास करती थी। पहाड़ी क्षेत्रों एवं जंगलों में रहने वाले संथाल अपने क्षेत्रों में मैदानी लोगों के लगातार होते जा रहे प्रवेश से चिंतित थे। राजमहल के पहाड़ी क्षेत्र को संथालों ने साफ करके खेती योग्य बनाया था और अब इस पर बाहरी जमींदारों का अधिकार होता जा रहा था। महाजनों का शोषण चक्र भी यहां चल रहा था। यहां रेलवे निमार्ण कार्य में यद्यपि संथाल मजदूरी में संलग्न थे फिर भी कम मजदूरी देकर उनका शोषण हो रहा था। अंततः संथाल जनजाति ने भूमिकर अधिकारियों के दुर्व्यवहार, पुलिस के दमन चक्र एवं जमींदारों व साहूकारों के शोषण के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

संथाल जनजाति के पक्ष में सर्वप्रमुख बात यह थी कि उसे सिद्धू तथा कान्हू जैसे नेता प्राप्त हुए जिन्होंने अपने नेतृत्व में कंपनी शासन के अंत की घोषणा कर स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर दिया। सिद्धू ने कहा कि– ''ठाकुरजी (ईश्वर) ने मुझे आदेश देते समय कहा कि यह देश साहबों का नहीं है। ठाकुरजी खुद हमारी तरफ से लड़ेगे।'' इस भविष्यवाणी ने संथालों में एक नवीन प्रेरणा का संचार किया और उन्होंने अंग्रेजों

के विरुद्ध एक बड़े विद्रोह की योजना तैयार कर ली। सशस्त्र संथालों ने साहूकारों के दस्तावेज जला दिए, जमींदारों की खड़ी फसलों में आग लगा दी। रेलमार्ग निमार्ण कार्यो में तोड़–फोड़ कर बाधा डाली।

टिप्पणी

संथाल विद्रोह का दमन करने के लिए अंग्रेजों ने क्रूर दमन चक्र चलाया जिसमें उन्हें स्थानीय जमींदारों एवं राजा–रजवाड़ों का भरपूर सहयोग मिला। 1855 ई. में संथाल प्रदेश को विनिमय रहित जिला घोषित कर दिया गया। नारायणी गुप्ता ने लिखा है कि ''कमांडिंग अफसर ने संथालों से उनके हथियार ही नहीं, उनकी डुगडुगियां भी रखवा लीं जिनको बजा–बजा कर वे लोगों को युद्ध हेतु आमंत्रित करते थे। इस प्रकार विस्तृत सैन्य कार्यवाही के पश्चात ही 1856 ई. में स्थिति पर नियंत्रण स्थापित किया जा सका। सरकार ने इनके लिए पृथक से संथाल परगना बनाकर शांति स्थापित की।"

(ब) जनजातियों में असंतोष एवं विद्वेष

कृषकों की भांति ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन काल (1757–1857) में भारत की विभिन्न जनजातियों में भी असंतोष व्याप्त था।

ब्रिटिश शासन के विरुद्ध जनजातीय असंतोष के मूल में एक नहीं, अनेक कारण विद्यमान थे, जो निम्नवत् हैं–

1. राजनीतिक कारण

- **आंतरिक स्वायत्तता पर अतिक्रमण**– प्राचीनकाल से ही भारत की विभिन्न जनजातियां स्वच्छंदतापूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं। ब्रिटिश शासन ने जब उनकी स्वायत्तता छीनने की कोशिश की तो वे लोग विद्रोह के लिए मजबूर हो गए।
- **जनजातियों के प्रमुखों पर नियंत्रण**– ब्रिटिश शासकों को यह अनुभव हो गया था कि विभिन्न जनजातियां अपने प्रमुखों की आज्ञा का शत–प्रतिशत पालन करती हैं। हैमिल्टन के अनुसार, "उनके प्रमुख मूर्ख, विलासी, अत्याचारी व अंधविश्वासी हैं। अतः जनजातियों के प्रमुखों को नियंत्रित कर जनजातियों पर अंकुश लगाया जा सकता है।"

  जब ब्रिटिश शासकों ने जनजातियों के प्रधानों को नियंत्रित करने का प्रयास किया तो जनजातियों को यह अत्यधिक नागवार गुजरा और वे विद्रोह पर उतारू हो गए।
- **जनजातीय क्षेत्रों पर अतिक्रमण**– निहित स्वार्थवश अपनी सामरिक, व्यापारिक एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ब्रिटिश सत्ता ने विभिन्न जनजातीय क्षेत्रों में सड़के बनवायीं, रेलवे लाइनें डालीं, पुलिस थाने एवं सैनिक छावनियां स्थापित कीं। जंगल जनजातीय आजीविका के प्रमुख साधन थे और ब्रिटिश सत्ता ने इन जंगलों को अपने उक्त स्वार्थों हेतु साफ किया तो जनजातियां आंदोलन करने के लिए प्रेरित हो गईं।
- **अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा जनजातियों का शोषण**– जनजातीय क्षेत्रों में ब्रिटिश शासन ने कई कर्मचारियों को नियुक्त किया जिन्होंने आदिवासियों का बहुविधि शोषण किया। आदिवासी इस शोषण से क्रोधित हुए और उन्होंने आंदोलन का रास्ता अख्तियार किया।

2. आर्थिक कारण

ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध आदिवासी विद्रोहों के मूल में आर्थिक कारण सर्वप्रमुख थे, जो निम्नानुसार हैं–

टिप्पणी

- **झूम खेती पर रोक**– झूम खेती जनजातीय संस्कृति का एक प्रमुख अंग थी। झूम खेती के तहत आदिवासी प्रत्येक वर्ष एक नवीन भूमि को चुनकर उस पर खेती करते थे परंतु ब्रिटिश शासन ने उन्हें झूम खेती के स्थान पर स्थायी खेती हेतु बाध्य किया जिसके तहत आदिवासियों को भूमि के एक टुकड़े पर स्थायी रूप से खेती करने को विवश किया गया। आदिवासी नाराज हुए और उन्होंने आंदोलन का रास्ता चुना।
- **वनों पर नियंत्रण**– प्राचीन समय से ही आदिवासी जंगलों से अपना जीविकोपार्जन करते थे। जंगल उनके लिए शहद, फल–फूल एवं लकड़ी आदि की प्राप्ति के प्रमुख साधन थे। खाद्य–संग्रह एवं आखेट जो कि आदिवासी जीविका का प्रमुख आधार था, इसके लिए भी आदिवासी वनों पर ही निर्भर थे। अंग्रेजों ने 1870 ई. में वन कानून लागू किया एवं 1875 ई. में उसमें संशोधन किया। 1878 ई. में जब भारतीय जंगल अधिनियम पारित किया गया तो आदिवासियों की जीविका पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इतना ही नहीं, ब्रिटिश शासकों ने लकड़ी की प्राप्ति हेतु जंगलों को ठेकेदारों को दे दिया और इन ठेकेदारों ने भी जनजातियों का शोषण किया। इस प्रकार जनजातियों को वनों पर नियंत्रण किया जाना पसन्द नहीं आया और वे आंदोलन हेतु बाध्य हो गए।
- **भू–राजस्व की वसूली**– लॉर्ड कॉर्नवालिस ने आदिवासियों को भी स्थायी बंदोबस्त प्रणाली मानने पर विवश किया जिसके तहत वे भी लगान के दायरे में आ गए। जब यह लगान सख्ती के साथ वसूल करने के प्रयास किए गए तो इन जनजातियों के पास आंदोलन करने के सिवा और कोई मार्ग नहीं बचा।
- **जनजातियों का बहुविधि शोषण**–ब्रिटिश शासकों ने जनजातियों का शोषण करने के लिए जमींदारों, ठेकेदारों एवं साहूकारों का बिचौलिए के रूप में इस्तेमाल किया और इस बिचौलिए वर्ग ने आदिवासियों का प्रत्येक स्तर पर शोषण किया। इस शोषण की इन्तहा होने पर भोले–भाले आदिवासी वर्ग आंदोलन करने के लिए मजबूर हो गए।

3. सामाजिक कारण

- **सामाजिक प्रथाओं पर आघात**– लॉर्ड विलियम बैंटिक ने जो सामाजिक सुधार अधिनियम पारित किए, वे आदिवासियों को रास नहीं आए। जब ये कानून जनजातीय क्षेत्रों में लागू किए गए तो इससे आदिवासियों में रोष उत्पन्न हुआ। उड़ीसा की खोंद जनजाति में नर बलि प्रथा प्रचलित थी। जब इस प्रथा को रोकने का प्रयास किया गया तो इस जनजाति ने विद्रोह कर दिया।
- **उच्चवर्गीय समाज से दूरी**– मध्यकाल तक उच्चवर्गीय हिंदू वर्ग एवं आदिवासी समाज के बीच निकटता देखी जा सकती थी। राजपूताना के भीलों की राजपूतों से घनिष्ठता थी परंतु 18वीं शताब्दी में इन दोनों वर्गो के बीच दूरियां बढ़ने लगीं। उच्चवर्गीय समाज आदिवासियों को अपने से हीन समझने लगा। इससे आदिवासी वर्ग में असंतोष व्याप्त था और जब ब्रिटिश सत्ता ने भी इनकी

सामाजिक गतिविधियों पर अंकुश लगाया तो यह असंतोष विद्रोही प्रकृति में परिवर्तित हो गया।

4. धार्मिक कारण

टिप्पणी

- **ईसाई धर्म प्रचारकों की भूमिका**– उच्चवर्गीय हिंदू समाज आदिवासियों को अपने से निम्न समझता था। इस बात का फायदा ईसाई धर्म प्रचारकों ने उठाया और अपने धर्म प्रचार के लिए भारत के विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों को चुना। उन्होंने विपत्ति के समय आदिवासियों की मदद की, उनमें शिक्षा का प्रचार किया और कई जनजातियों को ईसाई धर्म में दीक्षित भी किया परंतु उन्होंने जनजातियों की संस्कृति पर प्रहार भी किया। विभिन्न ईसाई मिशन चाहते थे कि आदिवासी शराब एवं ग्राम–नृत्यों से दूर रहें, जबकि आदिवासी नशीले पदार्थो के सेवन एवं नृत्य–गान में रत रहना ही अपने जीवन का परम लक्ष्य समझते थे। ईसाई धर्म प्रचारकों ने आदिवासियों के पुरोहितों, जादू–टोनों एवं भूत–प्रेत संबंधी पुराने ख्यालों पर भी प्रहार किया जिसे आदिवासियों ने अपनी संस्कृति पर प्रहार माना और वे आंदोलन करने के लिए प्रेरित हुए।
- **प्राचीन गौरव की स्थापना की भावना**– कुछ आदिवासी समाजों में उनके नेताओं जिन्हें भगत कहा जाता था, ने अपने अनुयाययों को समाज के उच्च आदर्शो का पालन करने हेतु प्रेरित किया। उन्होंने अपने अनुयायियों को विश्वास दिलाया कि वे ऐसा करके अपनी स्थिति को सुधार सकते हैं। इन्होंने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध भी आवाज उठायी।

उपर्युक्त सभी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक कारणों के अलावा ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध आंदोलन में इसी समय कुछ प्रमुख आदिवासी नेताओं के आविर्भाव ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन नेताओं में बिरसा मुंडा, सिद्धू–कान्हू, चित्तर सिंह एवं गोमधर कुंअर आदि के नाम प्रमुखता के साथ लिए जा सकते हैं।

(स) बंगाल तथा पूर्वी भारत के जनजातीय आंदोलन

(1) **चुआर विद्रोह (1768 ई.)**– चुआर जनजाति का निवास क्षेत्र बंगाल का मिदनापुर जिला था। अकाल, बढ़े हुए भूमिकर एवं अन्य आर्थिक कारणों के कारण मिदनापुर जिले की इस चुआर जनजाति ने अंग्रेजो के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। चुआर जनजाति के लोगों ने हथियार उठाये और आत्म–विश्वास की नीति अपनाते हुए 1768 ई. में दलभूमि, कैलापाल, ढोल्का तथा बाराभूमि के राजाओं के साथ मिलकर विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह 18 वीं शताब्दी के अंत तक चलता रहा।

(2) **हो आंदोलन (1820–22 ई.)**– हो तथा मुंडा जनजातियों का निवास क्षेत्र छोटानागपुर तथा सिंहभूमि जिला था। 1820 ई. में अंग्रेजों ने सिंहभूमि पर अधिकार कर लिया था। अतः 1820–22 एवं 1831 ई. में हो जनजाति ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और यह 1837 ई. तक चलता रहा।

(3) **कोल विद्रोह (1831 ई.)**– कोल जनजाति का विद्रोह छोटानागपुर क्षेत्र से प्रारंभ होकर रांची, सिंहभूमि, हजारीबाग, पालामऊ तथा मानभूम के पश्चिमी क्षेत्रों में फैल गया। कोल विद्रोह की ज्वाला उस समय भड़की जबकि उनकी भूमि उनके मुखिया मुंडों से छीनकर मुस्लिम कृषकों तथा सिक्खों को सौंप दी गई।

टिप्पणी

इस विद्रोह के तहत 1831 ई. में कोलों ने बुद्धो भगत के नेतृत्व में लगभग 1,000 बाहरी लोगों को या तो जला दिया अथवा उनकी हत्या कर दी। यहां शांति कायम करने के लिए अंग्रेजों को व्यापक तौर पर सैन्य अभियान संचालित करने पड़े थे।

(4) **अहोम विद्रोह (1828 ई.)**– अंग्रेज कंपनी ने जब आसाम के अहोम प्रदेश को अपने प्रदेशों में सम्मिलित करने का प्रयास किया तो 1828 ई. में अहोम प्रदेश में गोमधर कुंअर को अपना राजा घोषित कर जनसमूह ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

(5) **खासी विद्रोह (1829–32 ई.)**– आसाम और मेघालय की पर्वत श्रृंखला के निवासी खासी जनजाति ने तीरत सिंह के नेतृत्व में 1829–32 ई. में अंग्रेजों को अपने क्षेत्र से निकालने हेतु विद्रोह किया। शीघ्र ही यह विद्रोह अंग्रेज विरोधी लोकप्रिय आंदोलन बन गया। 1832 ई. में तीरत सिंह आदि नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और 1833 ई. में सैन्यबल की सहायता से अंग्रेजों ने इस विद्रोह को दबा दिया।

(6) **खोंद विद्रोह (1846–48 ई.)**– उड़ीसा के खौड़मल क्षेत्र में चक्र बिसार्ड के नेतृत्व में 1846–48 ई., 1855 ई. में क्रमशः खोंद जनजाति ने विद्रोह किए जो अंग्रेजों द्वारा दबा दिए गए।

(द) पश्चिमी भारत के जनजातीय आंदोलन

(1) **भील विद्रोह (1812–19 ई.)**– भारत के पश्चिम तट पर खानदेश में भील जनजाति का निवास था। 1818 ई. में जब अंग्रेजों ने खानदेश पर कब्जा किया, उसी समय से भीलों ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा बुलंद किया। अंग्रेजों के अनुसार भीलों के इस विद्रोह को पेशवा बाजीराव द्वितीय एवं उनके प्रतिनिधि त्र्यंबकजी दांगलिया ने भी प्रोत्साहित किया। नई सरकार के साथ–साथ कृषि संबंधी समस्या भी इस विद्रोह के मूल में निहित थी। तब भीलों को अंग्रेजों की बर्मा में मिली असफलता का आभास हुआ तो उनका साहस एवं उत्साह और अधिक बढ़ गया। 1825 ई. में भीलों ने अपने योग्य नेता सेवाराम के नेतृत्व में पुनः एक तीव्र विद्रोह किया। यह विद्रोह 1818 ई. से 1848 ई. तक लगभग 30 वर्ष तक चला। अंततः बलपूर्वक अंग्रेजों ने इस विद्रोह का दमन किया।

(2) **कोल विद्रोह (1824 ई.)**– गुजरात और महाराष्ट्र में स्थित भीलों के पड़ोसी कोल भी अंग्रेजी राज से अप्रसन्न थे क्योंकि आर्थिक शोषण के साथ–साथ अंग्रेजों ने उनके दुर्ग तोड़ दिए थे। अतः 1824, 1828, 1839 एवं 1844–48 ई. में कोल जनजाति ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की कमान संभाली परंतु यह विद्रोह भी अंग्रेजों के दमन चक्र का शिकार हुआ।

(3) **रामोसी विद्रोह (1822 ई.)**– भारत के पश्चिमी घाट में रहने वाली एक अन्य जनजाति रामोसी ने 1822 ई. में अपने नेता सरदार चित्तर सिंह के नेतृत्व में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का बिगुल फूंका। इन्होंने सतारा के आस–पास का प्रदेश लूट लिया। 1825–26 ई. में पुनः विद्रोह किया और यह क्षेत्र 1829 ई. तक अशांत रहा।

टिप्पणी

(4) **नायकड़ विद्रोह (1858 ई.)**– गुजरात के पंचमहल क्षेत्र की नायकड़ जनजाति ने 1858–59 ई. में एवं 1868 ई. में रूप सिंह और जोरिया भगत के नेतृत्व में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया। यह विद्रोह भी अंग्रेजों द्वारा दबा दिया गया। इसमें रूप सिंह और जोरिया भगत मारे गए।

(5) **भील आंदोलन (1913 ई.)** – दक्षिणी राजस्थान के डूंगरपुर एवं बांसवाड़ा क्षेत्र की भील जनजाति ने 1913 ई. में गोविंद गुरु के नेतृत्व में एक शुद्धि आंदोलन चलाया। कालांतर में यह आंदोलन राजनीतिक आंदोलन में तब्दील हो गया और भीलों ने भील राज स्थापित करने का असफल प्रयास किया। ब्रिटिश सेनाओं ने इस आंदोलन को दबा दिया।

अपनी प्रगति जांचिए

1. 1857 के विरोध को सैनिक विद्रोह नहीं मानने वाले विद्वान हैं–
   (क) जॉन लॉरेन्स (ख) कार्ल मार्क्स
   (ग) सीले (घ) रॉबर्ट्स
2. कोल विद्रोह का नेतृत्व किसने किया?
   (क) गोमधर कुंअर (ख) बाजीराव द्वितीय
   (ग) बुद्धो भगत (घ) जोरिया भगत

5.4 1857 का विद्रोह : विचारधारा, कार्यक्रम, विभिन्न स्तरों पर नेतृत्व, लोगों की भागीदारी तथा ब्रिटिश दमन और प्रतिक्रिया

1857 ई. की क्रांति के कारणों को हम पिछले 100 वर्षों के कंपनी राज्य की निरंकुश नीतियों में स्पष्टतः देख सकते हैं। ये अग्रांकित थे–

1. राजनीतिक कारण

वेलेजली (1798–1805 ई.) की सहायक संधियों से भारत में राजनीतिक असंतोष व्याप्त था। रही सही कसर लॉर्ड डलहौजी (1848–1856 ई.) की हड़प नीति ने पूर्ण कर दी। ली वार्नर ने लिखा है – ''डलहौजी कोई भी ऐसी परिस्थिति को छोड़ना नहीं चाहता था जो कि उसे किसी राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने का अवसर देता हो।''

डलहौजी ने अपनी हड़प नीति के तहत सतारा, नागपुर, झांसी, अवध, संभलपुर एवं जैतपुर आदि रियासतों को हड़प लिया। अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर के वंशजों को लाल किला खाली करने का हुक्मनामा सुना दिया। कानपुर में पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहब की पेंशन बंद कर दी। इससे अधिकांश राज्य असंतुष्ट हो गए।

2. आर्थिक कारण

1750 ई. के पश्चात ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति संपन्न हुई। मेनचेस्टर एवं लिवरपूल आदि औद्योगिक शहरों में कपड़ा उद्योग स्थापित हुए। उस समय इंग्लैंड का ऐसा कोई

घर नहीं था जिसमें भारतीय कपड़ा न हो। अब अपने कपड़ा उद्योग की उन्नति के लिए ब्रिटेन ने 3 नीतियां अपनाईं –

टिप्पणी

1. इंग्लैंड में भारतीय कपड़े को प्रतिबंधित किया एवं उसके आयात पर भारी कर लगाए।
2. भारत से अधिक से अधिक कपास प्राप्त करने के लिए यहां के कृषकों को कपास व नील की खेती हेतु बाध्य किया।
3. ब्रिटेन का कपड़ा भारत में व्यापक रूप से बेचने का आधार तैयार किया।

इससे एक तो भारतीय हथकरघा उद्योग नष्ट हुआ, इनमें संलग्न लोग बेकार हुए; दूसरे कृषक अपनी परंपरागत फसल गेहूं, चना, ज्वार, बाजरा आदि के स्थान पर कपास की खेती करने को बाध्य हुए। कई कृषकों ने तो खेती करना ही छोड़ दिया। इस प्रकार भारतीय हस्तशिल्प एवं कृषि का विनाश भारत की एक ऐसी क्षति थी जिसे भारतीय भुला न सके। ऊपर से ब्रिटिश कंपनी की भू–राजस्व नीतियों ने भी भारतीय कृषकों की कमर तोड़ दी। कई जमींदार व ताल्लुकेदार भी इससे परेशान हुए और इन सबका आक्रोश 1857 की क्रांति में उभरकर सामने आया।

3. सामाजिक कारण

लॉर्ड विलियम बैंटिक (1833–1835 ई.) एवं डलहौजी ने भारत में कई सामाजिक सुधार किए। हिंदू समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के लिए कानून बनाए गए। सती प्रथा, कन्या वध एवं बाल विवाह निरोधक कानून बनाए गए। विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित किया गया। यद्यपि ये समाज सुधार भारतीय समाज के हित में थे मगर रूढ़िवादी भारतीयों ने इसे अंग्रेजों द्वारा सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप माना।

1835 ई. से भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार को भारतीय पंडितों एवं मौलवियों ने अपने एकाधिकार पर आघात माना। डलहौजी एवं बैथन द्वारा स्त्री शिक्षा पर बल दिया गया जिससे भारतीयों को लगने लगा कि अंग्रेजी शिक्षा द्वारा अंग्रेज भारतीय सभ्यता पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। शिक्षा संस्थानों को भारतीयों द्वारा 'शैतानी दफ्तर' की संज्ञा दी जाने लगी। यह सामाजिक असंतोष का ज्वार भी 1857 में फूट गया।

4. धार्मिक कारण

क्रांति के धार्मिक कारण उस समय प्रस्फुटित हुए जब 1813 ई. के चार्टर एक्ट ने ईसाई पादरियों को भारत आने की अनुमति प्रदान की। इन्होंने भारतीयों को ईसाई बनाने की मुहिम–सी चला दी। कंपनी के अध्यक्ष मैंगल्ज ने हाउस ऑफ कॉमन्स में भाषण देते हुए कहा था–

"दैव योग से भारत का विस्तृत साम्राज्य ब्रिटेन को मिला है ताकि ईसाई धर्म की पताका भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक फहराई जा सके। हम में से प्रत्येक व्यक्ति को शीघ्र–अतिशीघ्र समस्त भारतीयों को ईसाई बनाने के महान कार्य को पूर्णतया संपन्न करने में अपनी समस्त शक्ति लगा देनी चाहिए।"

1850 में एक अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार धर्म परिवर्तन करने वालों को उनकी पैतृक संपत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा। इससे भारतीयों को पक्का

टिप्पणी

विश्वास हो गया कि अंग्रेज सुनियोजित तरीके से भारतीयों को ईसाई बनाने की तैयारी कर रहे हैं। मेजर एडवर्डज् ने तो स्पष्टतः कहा ही था कि – ''भारत पर हमारे अधिकार का अंतिम उद्देश्य देश को ईसाई बनाना है।'' इससे समस्त भारतीयों में असंतोष व्याप्त था।

5. सैनिक कारण

भारतीय सैनिक जो समुद्र पार जाने का मतलब धर्म भ्रष्ट हो जाना मानते थे, उन्हें जबरन समुद्र पार जाने को बाध्य किया गया। दाढ़ी काटने के आदेश से मुस्लिम सैनिकों में असंतोष व्याप्त था। चमड़े की टोपी पहनने का कुलीन ब्राह्मण सैनिकों ने विरोध किया। उच्च पद केवल अंग्रेज सैनिकों को ही मिलते थे। अंग्रेजों को भारतीय सैनिकों से अधिक वेतन व भत्ते मिलते थे। ब्रिटिश सैनिक अधिकारी भारतीय सैनिकों के साथ दुर्व्यवहार करते थे। सन् 1854 ई.में डाक अधिनियम पारित हुआ, इसके तहत सैनिकों की निःशुल्क डाक सुविधाएं समाप्त कर दी गईं।

इसके अतिरिक्त भारत में अंग्रेज व भारतीय सैनिकों की संख्या के अनुपात में असमानता ने भी विद्रोह को प्रेरित किया। 1856 ई. में भारत की ब्रिटिश सेना में 238000 भारतीय सैनिक एवं 45322 अंग्रेज सैनिक थे।

6. तात्कालिक कारण

यह अफवाह फैल रही थी कि बाजार में ऐसा आटा एवं शक्कर मिल रहे हैं जिमसें सुअर व गाय की हड्डियों एवं खून का चूरा मिलाया गया है। इससे सर्वत्र असंतोष व्याप्त था एवं हिंदू व मुस्लिमों को लग रहा था कि अंग्रेज प्रत्येक तरह से हमारा धर्म भ्रष्ट करने पर तुले हुए हैं।

इसी बीच चर्बी वाले कारतूस 1857 की क्रांति के तात्कालिक कारण बने।

1856 ई. में ब्रिटिश सरकार ने लोहै की पुरानी बंदूक ब्राउन बैस (Brown Bess) के स्थान पर नवीन एनफील्ड रायफल (New Enfield Rifle) सैनिकों को प्रयोगार्थ दीं। इसके कारतूस पर चिकना कागज लगा था। इस कारतूस को बंदूक में प्रयोग करने से पहले इस कागज को दांतों से काटकर खोलना पड़ता था। जनवरी 1857 ई. में बंगाल सेना में यह अफवाह फैल गई कि इन कारतूसों के मुंह पर गाय व सुअर की चर्बी लगाई गई है। कालांतर में यह पता चला कि बुलिच शस्त्रागार में उक्त चर्बी उपयोग की जाती है। इससे हिंदू–मुस्लिम सैनिकों में आक्रोश उत्पन्न हुआ।

23 जनवरी; 1857 को कलकत्ता के पास दमदम में सेना ने कारतूसों का खुलकर विरोध किया। लोगों ने कहना आरंभ कर दिया कि ईस्ट इंडिया कंपनी औरंगजेब की भूमिका में है, अतः अब हमें शिवाजी बनना ही होगा। इस प्रकार चर्बी वाले कारतूस ही 1857 के व्रिदोह का आरंभ होने के तात्कालिक कारण बने।

अफवाहें एवं भविष्यवाणियां

'1857' की क्रांति में अफवाह एवं भविष्यवाणियों की भी अहम भूमिका थी। 1757 में प्लासी युद्ध के पश्चात ईस्ट इंडिया कंपनी ने जो भारत विरोधी निरंकुश व स्वेच्छाचारी नीतियां अपनायीं उससे भारत के प्रायः सभी वर्गों में असंतोष व्याप्त था। इससे भारतवासियों में

टिप्पणी

अंग्रेजों के प्रति अविश्वास की भावना सुदृढ़ हो गई। जब अविश्वास उत्पन्न हो जाता है तो अफवाहों को बल मिलता है। यही कारण है कि 1857 की क्रांति पूर्व कुछ अफवाहों ने क्रांति के लिए एक पुख्ता आधार तैयार करने में अहम भूमिका निभाई।

अविश्वास क्यों? इस प्रश्न का एक निष्पक्ष उत्तर हम रूस से भारत यात्रा पर आने वाले रूसी यात्री गेरासिम स्टीपानोविच लिबिदेव (G.S. Lebedev) के वृत्तांतों में खोज सकते हैं। यह यात्री 1785 ई. से 1797 ई. के बीच 12 वर्ष 4 माह भारत रहा। कलकत्ता में इसने ही मि. लिविदेव बगाली थियेटर स्थापित किया था। इसे भारत में बंगाली रंगमंच का संस्थापक कहा जाता है। लिबिदेव के वृत्तांतों में भारतीय संस्कृति के प्रति लगाव तथा ब्रिटिश विरोधी भावनाएं स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं। वह अपने वृत्तांत में बताता है कि कंपनी के अंग्रेजों ने आम भारतीय से कोई संपर्क नहीं रखा। उनका भारतीयों से संपर्क मुख्यतः चार प्रकार से था – न्यायालयों में, घरेलू नौकरों के साथ, वेश्यालय में एवं व्यापार के सिलसिले में। वह यह भी बताता है कि भारत अंग्रेजों के आगमन के पूर्व एक समृद्ध देश था। कंपनी ने भारतीय हस्तकला का विनाश कर दिया एवं कृषकों को दयनीय स्थिति में पहुंचा दिया।

आम लोगों से संपर्क न रखने के कारण कंपनी को अफवाहों का पता न चला और ये अफवाहें अंततः उनके लिए परेशानी का कारण बनीं। यहां एक और रोचक तथ्य है कि चूंकि लिविदेव एक रूसी यात्री था, अतः अंग्रेज इतिहासकरों ने इसका अपनी इतिहास की पुस्तकों में कहीं कोई उल्लेख नहीं किया। जिन भारतीय इतिहासकारों ने ब्रिटिश इतिहासकारों के ग्रंथ के आधार पर इतिहास लिखा उनके ग्रंथों में भी कहीं लिविदेव का कोई उल्लेख नहीं मिलता। भारतीयों पर अंग्रेजों के अत्याचारों का उल्लेख उसके वृत्तांतों में देखा जा सकता है।

इससे पहले कि हम अफवाहों पर चर्चा करें, एक प्रमुख भविष्यवाणी पर चर्चा करना आवश्यक है।

भविष्यवाणी

यह बड़े जोर–शोर से प्रसारित हो रहा था कि एक भविष्यवाणी की गई कि प्लासी के युद्ध के ठीक 100 वर्ष पूरे होते ही 23 जून, 1857 ई. को भारत में अंग्रेजीराज खत्म हो जाएगा। इस भविष्यवाणी से लोगों में एक नवीन चेतना का संचार हुआ और अफवाहों को और अधिक बल मिला।

चर्बी वाले कारतूस की अफवाह का स्रोत

चर्बी वाले कारतूस की अफवाह आखिर कहां से प्रारंभ हुई? राइफल इंस्ट्रक्शन डिपो के कमांडेंट कैप्टन राइट ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था–

दमदम स्थित शस्त्रागार में कार्यरत निम्न जाति के खलासी ने जनवरी 1857 के तीसरे हफ्ते में एक ब्राह्मण सिपाही से पानी पिलाने बाबत कहा। ब्राह्मण सिपाही ने कहा कि तुम्हें पानी पिलाने से मेरा लोटा अपवित्र हो जाएगा। तब खलासी ने उस ब्राह्मण सैनिक से कहा – ''वैसे भी, शीघ्र ही तुम्हारी जाति भ्रष्ट होने वाली है क्योंकि अब तुम्हें गाय और सुअर की चर्बी वाले कारतूसों को मुंह से खींचना पड़ेगा।''

इस प्रकार यह अफवाह जब प्रारंभ हुई तो फैलती ही गई। इससे समस्त सैनिकों में गहरा असंतोष व्याप्त हो गया।

टिप्पणी

आटे व शक्कर में मिलावट की अफवाह

यह अफवाह भी सैनिक असंतोष को हवा दे रही थी। आम जनता में यह बात फैली कि अंग्रेजों ने भारतीय जनता का धर्म भ्रष्ट करने के लिए बाजार में बिकने वाले आटे व शक्कर में गाय व सुअर की हड्डियों एवं खून के मिश्रण का चूरा मिलवा दिया है। इस प्रकार आम जनता ने ऐसे आटे व शक्कर को छूने से भी इनकार कर दिया।

भारतीयों को लगने लगा कि अंग्रेज उन्हें ईसाई बनाना चाहते हैं और जो नहीं बनेगा उसका धर्म भ्रष्ट करना चाहते हैं।

क्रांति का आरंभ, घटनाक्रम एवं जनभागीदारी

मंगल पांडे को फांसी

23 जनवरी, 1857 को कलकत्ता के पास दमदम में सेना ने खुले रूप से चर्बी वाले कारतूसों का विरोध किया। अंग्रेजों ने इसे अनुशासनहीनता माना। बैरकपुर की प्लाटून को आदेश दिया गया कि वे नये कारतूसों का प्रयोग करें। जब यह सैनिक नहीं माने तो उन्हें अपमानित किया गया। 29 मार्च, 1857 को एक स्वाभिमानी सैनिक मंगल पांडे ने अपने साथियों को विद्रोह हेतु ललकारा। जब उसे रोकने का प्रयास किया तो मंगल पांडे ने सार्जेन्ट मेजर ह्यूसन को गोली से उड़ा दिया। उसके बाद एडजूटेण्ट बाग एवं हडसन वहां आए जिन्हें मंगल पांडे ने अपना शिकार बनाने का प्रयास किया, मगर वे बच गए। मंगल पांडे को गिरफ्तार कर लिया गया। कोर्ट मार्शल में उन्हें मृत्यु दंड सुनाया गया। 8 अप्रैल, 1857 को उनको फांसी दे दी गई। इतिहास में उसका नाम प्रथम शहीद के रूप में अंकित हुआ। मंगल पांडे 34वीं पलटन के सिपाही थे, अतः यह पलटन तोड़ दी गई।

अप्रैल 1857 से उत्तर भारत की प्रायः सभी छावनियों में आगजनी की घटनाएं घटीं। परंतु यह कौन कर रहा है इसका पता नहीं लग पाता था। साथ ही 31 मई, 1857 को एक साथ सारे देश में विद्रोह करने की योजना बनने लगी।

मेरठ में समय ृसे पूर्व 1857 की क्रांति का आरंभ

क्रांति की तिथि 31 मई, 1857 ई. निश्चित की गई थी। भारतीयों में सामान्यतः धैर्य का अभाव रहता है एवं उन्हें क्रोध जल्दी आता है। मेरठ में इसी कारण विद्रोह समय के पूर्व आरंभ हो गया।

9 मई को मेरठ में चर्बी वाले कारतूस लेने से इनकार करने के कारण 85 सैनिकों को हथकड़ी पहनाकर जेल भेज दिया गया। यह दृश्य बाकी के सभी सिपाहियों ने देखा मगर खून का घूंट पीकर रह गए। इनमें से कुछ सिपाही शाम को जब बाजार घूमने गए तो उन पर ताने कसे गए। कुछ औरतों ने व्यंग्य किया कि – ''तुम्हारे भाई जेल में और तुम यहां मक्खी मारते फिर रहे हो। लानत है तुम्हारी जिंदगी को।''

इन परिस्थितियों में सैनिक धैर्य न रख सके। 9 मई की रात को छावनी में गुप्त बैठकें हुईं। 31 मई का इंतजार न कर उन्होंने दूसरे दिन 10 मई रविवार को शाम 5 बजे जेल से अपने 85 साथियों को मुक्त कराया। इस प्रकार मेरठ की 11वीं व 20वीं देशी पलटन ने बगावत का ऐलान कर दिया। 11वीं पलटन के कर्नल फिनिस को गोली से उड़ा दिया। सारा शहर 'फिरंगियों को मारो' की आवाज से गूंज उठा। फिरंगियों के बंगलों को आग लगा दी गई। सारे मेरठ पर क्रांतिकारियों का कब्जा हो गया।

दिल्ली

टिप्पणी

मेरठ पर कब्जा कर 'दिल्ली चलो' का नारा लगाते हुए विद्रोही 11 मई को सुबह दिल्ली पहुंच गए। दिल्ली की 44वीं पलटन विद्रोही बनकर इनके साथ मिल गई। लाल किले में प्रवेश कर उन्होंने मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर को अपना नेता बनाया। बूढ़े बहादुरशाह जफर ने थोड़ी हिचकिचाहट के बाद क्रांति का नेतृत्व करना स्वीकार कर लिया। बहादुरशाह जफर के नेतृत्व करने की खबर जब फैली तो समस्त भारत में उत्साह का संचार हुआ और विभिन्न स्थानों पर क्रांति आरंभ हो गई।

16 मई से 30 मई तक मैनपुरी, इटावा, नसीराबाद एवं अलीगढ़ आदि में विद्रोह हुआ। 31 मई को शाहजहांपुर, मुरादाबाद, बरेली एवं लखनऊ में विद्रोह हुआ। 1 जून से 14 जून के बीच आजमगढ़, सीतापुर, बदायूं, कानपुर, फैजाबाद, इलाहाबाद, झांसी, सुल्तानपुर, जालंधर, बस्ती, ललितपुर, रामगढ़ एवं मंडला आदि में विद्रोह हुआ। 1 जुलाई को यह विद्रोह की उफनती नदी सागर तक पहुंची। मगर यह विद्रोह अधिक दिन तक नहीं चल सका। अंग्रेजों ने इसका दमन कर दिया।

फिरंगी– फिरंगी शब्द फारसी भाषा से बना है। भारतीय लोगों ने फिरंगी शब्द का उपयोग यूरोपियों का मजाक उड़ाने के लिए अंग्रेजों के स्थान पर किया। कभी–कभी इसका प्रयोग अपमान जनक तरीके से भी किया। कुछ कवियों ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। जैसे सुभद्रा कुमारी चौहान ने अपनी प्रसिद्ध कविता की एक पंक्ति में लिखा है 'दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।'

बहादुरशाह जफर मुगल सम्राट था। जब उसे सम्राट एवं विद्रोह का नेता मान लिया गया तो इस क्रांति को एक वैधता प्राप्त हो गई। भारतीयों को विश्वास हो गया कि अब हमारी मुक्ति संभव है और उनमें अत्यधिक साहस का संचार हुआ। यह भी विद्रोह की तीव्रता का एक कारण था। बहादुरशाह के कड़े हुक्म के बाद ही विद्रोहियों ने दिल्ली में अंग्रेजों का कत्लेआम बंद किया।

'How to convert our difficulties into our advantage' (अपनी परेशानियों को अपने फायदे में कैसे परिवर्तित करें) यह अंग्रेजों की सफलता का सूत्र–वाक्य रहा था। उन्होंने दिल्ली के घटनाक्रम को भारतीयों को बदनाम करने का आधार बनाया। उन्होंने जोर–शोर से प्रचार किया कि दिल्ली की सड़कों पर अंग्रेज महिलाओं से दुर्व्यवहार किया गया। ऐसे प्रचारक पादरी थे।

सच्चाई क्या थी यह गुप्तचर विभाग के प्रधान सर विलियम म्योर ने इन शब्दों में बयान की है – ''चाहे कितनी क्रूरता और खून–खराबा हुआ हो, उन कहानियों का जो महिलाओं (अंग्रेज) के अपमान के बारे में फैली थीं, जहां तक मैं जांच–पड़ताल कर सका हूं, कोई संतोषजनक प्रमाण नहीं है।''

विद्रोह की तीव्रता देखकर अंग्रेजों के पसीने छूटने लगे थे। गवर्नर जनरल लॉर्ड कैनिंग (1856–1862) ने स्थिति को नियंत्रित करने के प्रयास किए। उन्होंने विद्रोहियों के नाम यह घोषणा की–

''आप लोगों के धर्म और जाति के मामलों में दखल देने का हमारा कोई भी इरादा नहीं है। अगर आप पसंद करें तो आप कारतूस अपने हाथ से बना सकते हैं। आप लोगों ने जिस कंपनी का नमक खाया है, उसके खिलाफ बगावत करना पाप है।''

टिप्पणी

100 वर्ष जिन्होंने अत्याचार सहा था, उन पर भला कैनिंग की इन लुभावनी बातों का क्या असर होता। अब तो तीर कमान से निकल चुका था। इसी समय बहादुरशाह जफर के नाम से एक घोषणा सारे देश के हिंदू–मुस्लिमों के लिए जारी की गई। इसमें देश एवं धर्म के लिए लड़ने का आह्वान किया गया था। ऐसी ही एक घोषणा 25 अगस्त, 1857 को 'आजमगढ़ घोषणा' के नाम से जारी की गई। इस घोषणा में हिंदू–मुस्लिम एकता की स्पष्ट झलक मिलती है।

अपनी घोषणा पर कोई अमल न होता देख कैनिंग ने दिल्ली में विद्रोह के दमन की तैयारियां आरंभ कीं। समस्त भारत पर मनोवैज्ञानिक दबाव बनाने के लिए यह अत्यंत आवश्यक था। पंजाब से सेना बुलाई गई। देशी रियासतों से मदद प्राप्त हुई। इस प्रकार जॉन निकल्सन, हैनरी बर्नार्ड एवं विल्सन आदि ने दिल्ली को घेर लिया। एक घनघोर युद्ध के पश्चात सितंबर 1857 ई. में दिल्ली पर अंग्रेजों का पुनः अधिकार हो गया। निकल्सन युद्ध में मारा गया।

अब अंग्रेजों ने दिल्ली की जनता से जमकर प्रतिशोध लिया। लोगों को बेहिसाब मारा गया।

कैप्टन हडसन ने बहादुरशाह जफर को हुमायूं के मकबरे से पकड़ कर बंदी बना लिया। उनके दो पुत्रों एवं एक पोते को गोली से उड़ा दिया गया। विद्रोह करने के अपराध में बहादुरशाह जफर को आजीवन कैद का दंड देकर रंगून भेज दिया गया। रंगून में ही 1862 ई. में बहादुरशाह जफर की मृत्यु हो गई।

कानपुर

कानपुर का '1857 की क्रांति' की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। 1840 ई. के लगभग यहां 1857 के महानतम् क्रांतिकारी एक साथ अपना बचपन बिता रहे थे। उन्हें शायद पता नहीं था कि वे सभी जवान होकर 1857 में अंग्रेजों के छक्के छुड़ाएंगे। ये बच्चे थे – धुंडिराज (नाना साहब), मणिकर्णिका उर्फ मनु (रानी लक्ष्मीबाई), बाला साहब एवं रामचंद्र पांडुरंग (तात्या टोपे)। इन्होंने कानपुर में बचपन में साथ तैराकी, घुड़सवारी एवं शस्त्र संचालन सीखा था।

पूना में पेशवा बाजीराव द्वितीय अंतिम पेशवा थे। अंग्रेजों ने इनका पेशवा पद छीनकर इन्हें 8 लाख रुपये वार्षिक पेंशन एवं अपनी मनपसंद जगह पर रहने का विकल्प दिया। बाजीराव द्वितीय ने बिठूर में गंगा किनारे रहना पसंद किया। तात्या टोपे के पिता पांडुरंग भट्ट को उन्होंने धर्म विभाग का अध्यक्ष बनाया। बाजीराव द्वितीय का छोटा भाई चिमनाजी अप्पा रानी लक्ष्मीबाई के पिता मोरोपन्त के साथ काशी में रहता था। चिमनाजी अप्पा की मृत्यु के पश्चात मोरोपन्त बिठूर बाजीराव के पास आकर रहने लगा। बाजीराव द्वितीय ने यद्यपि 11 विवाह किए थे परंतु उसके कोई पुत्र नहीं था। उसकी दो पुत्रियां थी। पुत्र की इच्छा स्वरूप बाजीराव ने अपने रिश्तेदार माधवनारायण भट्ट के तीन वर्षीय पुत्र गोविंद को गोद लिया और उसका नाम धुंडिराज रखा, जो अपने उपनाम नाना साहब के नाम से जाना जाता था। बाजीराव द्वितीय बच्चों से बहुत प्यार करता था। अतः मनु, तात्या, उनके बच्चों नाना साहब एवं बाला साहब के साथ खेलने आते थे। एक बार बाजीराव द्वितीय ने तात्या से प्रसन्न होकर उन्हें एक टोपी भेंट की। उसके बाद से वे तात्या टोपे कहलाने लगे।

टिप्पणी

बाजीराव द्वितीय की मृत्यु के पश्चात डलहौजी ने उनके गोद लिए पुत्र नाना साहब को पेंशन देने से इनकार कर दिया। उनसे रमेल एवं बिठूर की जागीर भी छीन ली। नाना साहब ने अपने प्रतिनिधि अजीमुल्ला खां को अपील करने इंग्लैंड भेजा। वहां उस समय सतारा से छत्रपति प्रताप सिंह की अपील करने रंगो बापू भी आए थे। दोनों की अपील खारिज कर दी गई। वहीं उत्तर भारत में क्रांति का नेतृत्व करने का जिम्मा अजीमुल्ला खां ने लिया और दक्षिण भारत में रंगो बापू ने। इस प्रकार कानपुर में क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार हुई।

कानपुर में 'नाना साहब' के साथ अंग्रेजों के व्यवहार से जनता नाराज थी। मेरठ में विद्रोह का समाचार पाकर कानपुर में अंग्रेजों के विरुद्ध आक्रोश दिखाई देने लगा। वहां के सेनापति व्हीलर ने बिठूर स्थित नाना साहब से सहायता मांगी। अंग्रेज नाना साहब को अपना दोस्त समझते थे, अतः उन्होंने सुरक्षा हेतु खजाना नाना साहब की सुरक्षा में दे दिया। कानपुर में टीका सिंह ने विद्रोह को संगठित किया। यहां 53वीं एवं 56वीं पलटन ने विद्रोह किया। इन सब विद्रोहियों ने क्रांति का नेतृत्व नाना साहब को सौंप दिया। एक नर्तकी अजीमन ने सैनिक भेष धारण कर सैनिकों को प्रोत्साहित किया और 25 जून को व्हीलर ने आत्म–समर्पण कर इलाहाबाद जाने की आज्ञा मांगी।

सतीचौरा घाट हत्याकांड– कानपुर के सतीचौरा घाट पर अंग्रेजों को इलाहाबाद भेजने के लिए 40 नावों का इंतजाम किया गया। जैसे ही अंग्रेज उन पर बैठकर जाने को हुए, सैनिकों ने 27 जून को उन पर हमला बोल दिया। वातावरण फिरंगियों को मारो की आवाज से गूंजने लगा। नाना साहब को जैसे ही पता चला उन्होंनें इस हत्याकांड को रूकवा दिया। 125 अंग्रेज महिला एवं बच्चों को सावदा कोठी भेज दिया गया। इस प्रकार 400 अंग्रेजों में से 125 स्त्रियां, बच्चे व 4 पुरुष जीवित बचे, बाकी सब मारे गए। बची हुई अंग्रेज महिलाओं को जेल में रखा गया। कुछ महिलाओं से चक्की भी पिसवायी गई।

नाना साहब का राजतिलक– 28 जून को कानपुर में नाना साहब का दरबार लगा। दिल्ली सम्राट बहादुरशाह जफर को 101 तोपों की सलामी दी गई। नाना साहब को 21 तोपों की सलामी दी गई। 1 जुलाई को बिठूर में नाना साहब का राजतिलक किया गया। उन्होंने कानपुर के आस–पास का राज संभाल लिया।

बीबीघर हत्याकांड– कानपुर में अंग्रेज महिलाएं व बच्चे बीबीघर में कैद थे। जब कानपुर में पता चला कि विद्रोह के दमन के लिए 17 जुलाई को हैवलाक के नेतृत्व में सेना कानपुर के पास आ गई है। तब लगने लगा कि कानपुर पर अधिक समय भारतीयों का कब्जा नहीं रह सकता। लोगों ने प्रतिहिंसा स्वरूप बीबीघर में स्थित अंग्रेज महिला व बच्चों का कत्ल कर दिया। बेगम हुसैनी खातून ने उनकी लाशें पास के कुएं में फेंक दी।

विद्रोह का अंत– अब बारी अंग्रेजों की थी। एक लंबे युद्ध के पश्चात जनरल हैवलॉक, नील एवं कैंपबेल आदि ने क्रूरतापूर्वक कानपुर में विद्रोह का अंत कर दिया। 20 जुलाई को कैम्पवेल ने कानपुर पर अधिकार कर लिया। तात्या भाग कर झांसी चले गए। नाना साहब निराश होकर नेपाल चले गए, वहीं उनकी मृत्यु हो गई।

यहां नाना साहब पर आरोप लगाया गया कि उन्होंने अंग्रेज महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार किया। अंग्रेजों ने जब जांच कमीशन बैठाया तो वे सभी आरोप झूठे साबित हुए।

टिप्पणी

जिस कुंए में अंग्रेज महिलाओं की लाशें डाली गईं थीं उसे अंग्रेजों ने 'मेमोरियल वेल' नामक स्मारक बना दिया। वर्तमान में इस स्मारक के स्थान पर वहां तात्या टोपे की मूर्ति लगा दी गई है।

अवध

1801 ई. में लॉर्ड वेलेजली ने अवध पर सहायक संधि थोप दी थी। इससे वहां के नवाब की निर्भरता अंग्रेजों पर बढ़ती गई। अवध की जमीन ब्रिटिश उद्योगों के लिए आवश्यक कपास एवं नील की खेती के लिए उपयुक्त थी। साथ ही यह निर्मित माल की खपत के लिए एक उपयुक्त बाजार था। अतः अंग्रेज अवध पर गिद्ध दृष्टि रखते थे और उसे किसी भी तरह हड़पना चाहते थे। 1851 ई. में डलहौजी ने कहा था कि 'यह चैरी का फल एक दिन हमारे मुंह में आकर गिरेगा।' कुशासन के आरोप में 13 फरवरी, 1856 ई. को अवध का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर लिया गया। वहां के नवाब वाजिद अली शाह को कलकत्ता निष्कासित कर दिया गया। अंग्रेजों ने साथ ही यह दलील दी कि लखनऊ में नवाब अलोकप्रिय है। यह आरोप सरासर गलत था, वास्तविकता यह थी कि नवाब जब जा रहे थे तो लोग अत्यधिक दुःखी थे। एक प्रत्यक्षदर्शी ने लिखा था–

'देह से जान जा चुकी थी। शहर की काया बेजान थी...। कोई सड़क, कोई बाजार, कोई घर ऐसा न था जहां से जान–ए–आलम से बिछुड़ने के विलाप का शोर गूंज न रहा हो।'

इसके साथ–साथ तत्युगीन गीत एवं कविताओं में भी यही दुःख स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा था–

'अभिजात और किसान, सब रो रहे थे।

और सारा आलम रोता–चिल्लाता था।

हाय! जान–ए–आलम विदा होकर परदेश चले गए हैं।'

कहा जाता है कि लोग वाजिद अली शाह के पीछे–पीछे कानपुर तक गए थे और अंग्रेज कहते हैं कि वे अलोकप्रिय थे और वहां कुशासन था। इन कथनों से दोनों ही बातें सरासर झूठ प्रमाणित होती हैं।

नवाब के जाने एवं कुशासन के आरोप में अवध हड़पने से समस्त अवध में असंतोष व्याप्त हो गया था। नवाब का जाना अवध की एक संस्कृति का खत्म होना था। दरबार में रहने वाले संगीतकारों, नर्तकों, कवियों, कारीगरों आदि बहुत सारे लोगों की रोजी–रोटी ही छिन गई।

कृषक व ताल्लुकेदारों में असंतोष– नवाब के जाने से जनता के साथ–साथ अवध के ताल्लुकेदारों को भी आघात लगा। इनके पास हथियारबंद सिपाही होते थे। कुछ बड़े ताल्लुकेदारों के पास 12000 तक सिपाही थे। इनके ये विशेषाधिकार छिन गए। एकमुश्त बंदोबस्त लागू होने से भी उन्हें नुकसान हुआ। ताल्लुकेदारों से जमीन का मालिकाना हक छीनकर वास्तविक मालिक के हाथ में सौंप दिया गया और अब वे सीधे कृषकों से कर वसूलने लगे।

टिप्पणी

वस्तुतः यहां ताल्लुकेदारों एवं कृषकों के बीच एक निष्ठा एवं संरक्षण का बंधन था। कृषक अपने उत्पीड़न के बावजूद इन ताल्लुकेदारों से प्रसन्न थे क्योंकि विवाह एवं तीज–त्यौहारों के अवसर पर इनसे कृषकों को कर्जा एवं मदद मिल जाती थी। अब अंग्रेजों से तो उत्पीड़न के अलावा और कोई उम्मीद कृषकों को न बची। इससे एक ओर ताल्लुकेदार अंग्रेजों से असंतुष्ट हुए तो दूसरी ओर अवध के कृषकों में भी असंतोष व्याप्त था।

अवध के सिपाहियों में असंतोष– यूं तो समस्त उत्तर भारत के सिपाहियों में असंतोष था मगर अवध के सिपाहियों में तुलनात्मक रूप से अधिक असंतोष व्याप्त था। बंगाल आर्मी के सिपाहियों में अधिकांश सिपाही अवध एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश से भर्ती होकर आए थे। इनमें भी ब्राह्मण एवं ऊंची जाति के सिपाहियों का आधिक्य था। इसी कारण अवध को **'बंगाल आर्मी की पौधशाला'** कहा जाता था। यहां एक तथ्य उल्लेखनीय है कि 1820 के दशक तक अंग्रेज अफसरों एवं इन सिपाहियों के बीच अच्छे संबंध थे। वे साथ–साथ शिकार पर जाते थे व तलवारबाजी करते थे। 1840 के पश्चात ब्रिटिश अफसरों में जातीय अहंकार एवं श्रेष्ठता का भाव आने लगा। अब वे भारतीय सिपाहियों के साथ गाली–गलौज एवं शारीरिक हिंसा करने लगे। इससे अब इन सिपाहियों में भी विद्रोह की भावना बलवती होने लगी। चूंकि ये सिपाही ग्रामीण अंचलों से भी आए थे, बहुत से तो किसानों के बेटे थे। अतः अवध की ग्रामीण जनता एवं किसान भी अत्यधिक आक्रोश से भर गए।

विद्रोह का आरंभ– कहा जाता है कि स्प्रिंग को जितना अधिक दबायेंगे उतनी ही तेजी से वह अधिक उछलेगी। यही स्थिति अवध में दिखी। 30 मई को रात्रि 9 बजे तोप दागकर 71वीं पलटन ने लखनऊ में विद्रोह का आरंभ कर दिया। विद्रोहियों ने अंग्रेजों के आवासों पर हमले किए एवं कई अंग्रेज मारे गए। 31 मई को हैनरी लारेन्स विद्रोह का दमन करने आया। मगर इसके साथ के सातवें रिसाले ने विद्रोह कर दिया और वह विद्रोहियों से जा मिला। शाम तक 48वीं पलटन भी विद्रोहियों के साथ मिल गई।

अब तो सारे सैनिक, हिंदू–मुस्लिम जनता, कृषक, ताल्लुकेदार सभी के सभी विद्रोही हो गए। अंग्रेज 'काटो तो खून नहीं' की स्थिति में आ गए। फैजाबाद के जेलखाने से मौलवी अहमदशाह को मुक्त करा लिया गया। 10 जून तक सारा अंग्रेजी राज अवध में समाप्त कर दिया गया। इस विद्रोह का नेतृत्व अवध की बेगम हजरत महल ने किया। चूंकि नवाब वाजिद अलीशाह कलकत्ता में थे, अतः उनके बेटे विरजिस कादिर को अवध का नवाब घोषित कर दिया गया। लखनऊ के चीफ कमिश्नर जनरल हैनरी लॉरेन्स ने अपने लगभग 2000 अंग्रेज एवं भारतीय सिपाहियों के साथ लखनऊ में ब्रिटिश रेजीडेंसी बिल्डिंग में शरण ली। 1 जुलाई, 1857 को इस रेजीडेन्सी भवन को घेर लिया गया। हैनरी लारेन्स तोप का एक गोला लगने से मारा गया।

विद्रोह का दमन– हैवलॉक, कैंपबेल, आउट्रम आदि ने एक भीषण संघर्ष के पश्चात अवध में विद्रोह का दमन कर दिया। गोरखा रेजीमेंट ने इनकी मदद की। 31 मार्च, 1858 को लखनऊ पर अंग्रेजों ने पुनः अधिकार कर लिया।

निष्कर्षतः अवध का विद्रोह 1857 की क्रांति का एक विहंगम परिदृश्य उपस्थित करता है। समस्त भारत में क्रांति के कारण अवध में देखे जा सकते हैं। यहां की जनता,

टिप्पणी

नवाब, कृषक एवं ताल्लुकेदारों में आत्मीयता का संबंध था। अंग्रेजों ने सुशासित अवध को कुशासन के आरोप में हड़पकर एवं नवाब को निर्वासित कर यहां के लोगों को उत्तेजित किया। इस विद्रोह में हजरत महल, फैजाबाद के मौलवी अहमदशाह, शाहगंज के ताल्लुकेदार मानसिंह एवं रायबरेली के पास कालाकांकर के राजा हनवंत सिंह ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई

यहां एक महत्वपूर्ण तथ्य उल्लेखनीय है कि अवध के लोग आवभगत में लोगों के साथ आत्मीयता रखने में आगे थे, मगर अंग्रेजों ने अति कर दी थी। ताल्लुकेदार हनवंत सिंह की सोच का उल्लेख हमें मिलता है जो कि सभी ताल्लुकेदारों की सोच का प्रतिनिधित्व करता है। विद्रोह के दौरान एक डरे हुए अंग्रेज को हनवंत सिंह ने सुरक्षित स्थान पर पहुंचाया था और उससे आखिरी मुलाकात के समय कहा था–

''साहब आपके मुल्क के लोग हमारे देश में आए और उन्होंने हमारे राजाओं को खदेड़ दिया। आप अफसरों को लेकर जिले–जिले में जागीरों की मालिकाने की जांच कराते हैं। एक ही झटके में आपने मेरे पुरखों की जमीन मुझसे छीन ली, मैं चुप रहा। फिर अचानक आपका बुरा वक्त शुरू हो गया। यहां के लोग आपके खिलाफ उठ खड़े हुए। तब आप हमारे पास आए, जिसे आपने बर्बाद किया था। मैंने आपकी जान बचाई है लेकिन अब मैं अपने सिपाहियों को लेकर लखनऊ जा रहा हूं, ताकि आपको देश से खदेड़ सकूं।''

जो अंग्रेज कहते हैं, हम पर अमानवीय व्यवहार हुआ, उनके लिए यह कथन उन्हें चुप करता है। हनवंत सिंह स्वयं अंग्रेजों का सताया हुआ था, इसके बावजूद उसने शरणागत की रक्षा की और इसके बाद वह इस शरणागत के अन्य साथियों को खदेड़ने लखनऊ जा रहा था। यह तहजीब थी अवध की और भारत की।

झांसी

झांसी का नाम सुनते ही एकदम रानी लक्ष्मीबाई और रानी लक्ष्मीबाई का नाम सुनते ही प्रसिद्ध कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान की ये पंक्तियां स्वतः ही जेहन में कौंध जाती हैं–

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में आयी फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुंह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी।
नाना के संग पढ़ती थी वह नाना के संग खेली थी,
बरछी ढाल कृपाण कटारी उसकी यही सहेली थी,
बुझा दीप झांसी का तब डलहौजी का मन हरषाया
राज्य हड़प करने का उसने यह अच्छा अवसर पाया,
इस स्वतंत्रता–महायज्ञ में कर्म वीरवर आए काम,
नाना, धुन्धू पंत, तात्या, चतुर अजीमुल्ला सरनाम,

टिप्पणी

अहमद शाह मौलवी ठाकुर, कुंअर सिंह सैनिक अभिराम,
भारत के इतिहास गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम,
रानी बढ़ी कालपी आई कर सौ मील निरंतर पार,
विजयी रानी आगे चल दी, किया ग्वालियर पर अधिकार,
पर पीछे ह्यूरोज आ गया, हाय घिरी अब रानी थी,
बुंदेले हरबालों के मुंह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी .....
तो भी रानी मार–काट कर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार,
घोड़ा अड़ा नया घोड़ा था, इतने में आ गए सवार,
रानी एक शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार पर वार,
घायल होकर गिरी सिंहनी, उसे वीरगति पानी थी।
खूब लड़ी .....

हां, अवध में यदि विद्रोह का नेतृत्व बेगम हजरत महल ने किया तो झांसी में रानी लक्ष्मीबाई ने क्रांति का नेतृत्व किया। बिठूर में पेशवा बाजीराव द्वितीय की सेवा में रहे मोरोपन्त एवं उनकी पत्नी भागीरथी बाई के यहां 19 नवंबर, 1835 ई. को काशी में मणिकर्णिका (मनु) का जन्म हुआ। मई 1842 ई. में मनु का विवाह झांसी के राजा गंगाधर राव से हुआ। अब वह झांसी की रानी लक्ष्मीबाई बन गई। 1851 में उनके एक पुत्र हुआ जो 3 माह की अल्प आयु में मर गया। तब राजा गंगाधर राव ने वासुदेव निवालकर के 4 वर्षीय पुत्र आनंद राव को गोद ले लिया और उसका नाम दामोदर राव रखा। इसके कुछ दिनों बाद ही 21 नवंबर, 1853 को राजा गंगाधर राव की मृत्यु हो गई। चूंकि दामोदर राव दत्तक पुत्र था, अतः डलहौजी ने अपनी हड़प नीति के तहत झांसी को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। रानी लक्ष्मीबाई को 5 हजार रुपये मासिक पेंशन व नगर का महल रहने के लिए दे दिया। जब मेजर एलिस झांसी पर आधिपत्य की सूचना लेकर रानी के पास पहुंचा तो रानी ने कहा – ''मैं अपनी झांसी नहीं दूंगी'' और ये शब्द उनके जीवन के मूल मंत्र बन गए। अंग्रेजों ने रानी को बहुविध परेशान किया और यह आक्रोश बढ़ता रहा।

मेरठ में क्रांति का समाचार पाकर झांसी में भी विद्रोह की भूमिका बनने लगी। 4 जून को अंग्रेज छावनी की देशी पलटन ने यहां विद्रोह कर दिया। विद्रोहियों ने स्टार फोर्ट पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों ने झांसी का राज्य प्रबंध संभालने के बाद शहर के बाहर एक छोटा किला बनवाया था जिसे स्टार फोर्ट कहते थे। मेजर डनलप एवं कैप्टन टेलर को विद्रोहियों ने मार डाला व दो बंगलों में आग लगा दी। गार्डन ने इन विपरीत परिस्थितियों में रानी लक्ष्मीबाई से सुरक्षा की मांग की। चूंकि इनमें कई अंग्रेज महिला एवं बच्चे थे अतः रानी ने उन्हें झांसी के किले में पहुंचा दिया।

झोकन बाग हत्याकांड– 8 जून को सुबह कैप्टन गार्डन जब खिड़की से झांक कर विद्रोहियों को देख रहा था तब उसे गोली मार दी गई, वह मारा गया। विद्रोहियों का नेतृत्व रिसालेदार काले खां एवं दरोगा बख्श अली कर रहे थे। अंग्रेजों ने सागर जाने

टिप्पणी

की मांग की। काले खां ने कहा कि किला यदि हमें सौंप दो तो आप सभी को सुरक्षित सागर जाने दिया जाएगा। अंग्रेजों ने आत्मसमर्पण कर दिया और सब बाहर आ गए। विद्रोहियों ने अंग्रेजों को घेरे में ले लिया। उन्हें झोकन बाग ले जाया गया। इन अंग्रेजों में कमिश्नर स्क्रीन भी था। इसे देखकर दरोगा बख्श अली का खून खौल उठा।

एक बार डाकू सागर सिंह को पकड़ कर कैप्टन स्क्रीन ने दरोगा बख्श अली की जेल में रखा था। रात को सागर सिंह डाकू फरार हो गया। इसके लिए कैप्टन स्क्रीन ने दरोगा बख्श अली को दोषी माना। सार्वजनिक रूप से दरोगा बख्श अली को पैरों से ठोकरें मारीं।

... आज 8 जून को स्क्रीन को देखते ही बख्श अली के जख्म हरे हो गए। अपने अपमान को याद कर उसका खून खौल उठा। आज मौका देखकर उसकी प्रतिशोध लेने की भावना जाग्रत हो गई। दरोगा बख्श अली ने विद्रोहियों से झूठ बोला कि रिसालेदार काले खां का आदेश है कि अंग्रेजों को खत्म कर दो। विद्रोही अंग्रेजों पर टूट पड़े। कैप्टन स्क्रीन सहित कुल 110 अंग्रेज इस झोकन बाग हत्याकांड में मारे गए। इनमें 75 अंग्रेज पुरूष, 12 औरतें एवं 23 बच्चे थे।

इस हत्याकांड के बाद विद्रोही रानी लक्ष्मीबाई के पास पहुंचे। रानी ने इस हत्याकांड के विरुद्ध नाराजगी व्यक्त की। इनमें से कुछ सिपाही रानी से कहकर दिल्ली चल गए। दामोदर राव के नाम पर रानी लक्ष्मीबाई ने झांसी का राज्य एवं विद्रोह का नेतृत्व संभाल लिया। तीन महिलाएं – सुंदर, मुंदर एवं काशीबाई रानी की कर्नल बनीं। जासूस विभाग की प्रधान मोतीबाई एवं उसकी नायब जूही बनी। रानी ने काफी वीरतापूर्वक अंग्रेजों केा परास्त किया। मगर 3 अप्रैल, 1858 ई.को ह्यूरोज ने झांसी पर पुनः अधिकार कर लिया। रानी भागकर काल्पी पहुंच गईं। कानपुर से नाना साहब के भाई राव साहब एवं तात्या टोपे उनसे मिल गए। ह्यूरोज ने इन्हें काल्पी में भी परास्त किया। ये वहां से ग्वालियर पहुंचे और ग्वालियर पर रानी लक्ष्मीबाई व तात्या टोपे ने जून 1858 में अधिकार कर लिया। यहां अंग्रेजों से भीषण युद्ध हुआ। मगर रानी का घोड़ा मुरार–ग्वालियर मार्ग की रोड पर सोन रेखा नाले को पार करते हुए अड़ गया। एक अंग्रेज की तलवार के वार से रानी 18 जून, 1858 को मारी गईं। 20 जून को ग्वालियर पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। रानी लक्ष्मीबाई के प्रबलतम शत्रु ह्यूरोज ने स्वयं कहा – 'She was the bravest and the best Military leader of the rebels' (वह विद्रोहियों की सर्वाधिक वीर एवं श्रेष्ठतम सेनापति थी।)

सागर

मेरठ, कानपुर, अवध, झांसी एवं ललितपुर आदि में विद्रोह की उफनती नदी का सागर आना तय मानकर सागर स्थित अंग्रेजों का दशहत के मारे बुरा हाल था। असल में 15 वर्ष पूर्व 1842 ई. में बुंदेला विद्रोह के दौरान अंग्रेज सागर क्षेत्र के बुंदेला विद्रोहियों के तेवर देख चुके थे। इस विद्रोह को बड़ी मुश्किल से शाहगढ़ राजा बख्तवली की सहायता से अंग्रेजों ने दबाया था। बुंदेला विद्रोह दब अवश्य गया था मगर उसकी दहशत की दास्तान अभी भी अंग्रेज भूले नहीं थे। इसी कारण वे इस आशंका से परेशान थे कि यदि 1857 में सागर में भी विद्रोह हो गया तो क्या होगा।

अंग्रेजों की नीतियों से सागर की जनता व यहां स्थित 31वीं एवं 42 देशी पलटन के सिपाहियों में सर्वत्र असंतोष को भांपकर सुरक्षा की दृष्टि से बिग्रेडियर सेजे ने सागर

टिप्पणी

के छावनी स्थित आवासों को खाली करा लिया। सभी 370 यूरोपियनों जिनमें 173 पुरुष, 63 महिलाएं एवं 134 बच्चे थे, ने सागर के किले में शनिवार 27 जून, 1857 को शरण ले ली। इन अंग्रेजों को शायद यह अंदेशा भी न था कि वे शनिवार को गहरी नींव देकर किले में शरण ले रहे हैं; जहां से पूरे 222 दिन बाद इन्हें मुक्ति मिलेगी।

1 जुलाई को सागर में अपेक्षित विद्रोह का ऐलान 42वीं देशी पलटन के सीनियर सूबेदार शेख रमजान ने मस्जिद के द्वार पर नगाड़ा बजाकर किया। समस्त 42वीं पलटन के सिपाही व 31वीं देशी पलटन के कुछ सिपाही और सागर की जनता ने शेख रमजान को अपना जनरल घोषित किया। समस्त सागर पर शीघ्र ही विद्रोहियों का अधिकार हो गया। ब्रिगेडियर व्हीलर ने लिखा है –

''विद्रोह की दशहत के मारे सागर में पदस्थ सभी कर्मचारी भाग गए। सागर की दो मील की परिधि में किसी भी कर्मचारी का अता–पता नहीं था। उस समय सागर में न तो पुलिस थी और नही सुरक्षा के लिए कोई बल। उस समय तो शासन नागरिकों के हाथों में था।''

शाहगढ़ राजा बख्तवली ने अपना खोया इलाका गढ़ाकोटा पाने के लालच में 1842 के विद्रोह के दमन में अंग्रेजों का साथ दिया था। अंग्रेजों ने जब उसे गढ़ाकोटा नहीं लौटाया तो वह सहयोगी से असहयोगी बन गया। इसी प्रकार बानपुर राजा मर्दनसिंह को अंग्रेजों ने उसका चंदेरी सिंधिया से वापस नहीं दिलाया। अतः वह भी अंग्रेजों से नाराज था। बख्तवली ने सागर में विद्रोह का नेतृत्व संभाल लिया। मर्दन सिंह उसकी मदद को आ गया। बख्तवली, उसके सेनापति बोधन दौआ एवं मर्दन सिंह ने सागर के आस–पास के इलाकों पर कब्जा कर लिया। इनका आतंक अंग्रेजों के सिर चढ़कर बोलने लगा। मर्दन सिंह के अंग्रेजों पर छाये आतंक की झलक इस लोकगीत में स्पष्टतः परिलक्षित होती है –

का कइये वानपुर वारे की
मर्दन सिंह नश्पत जुझारे की ।
सेना सजन, बजन रमतूला, चोटें समन नगारे की।।
अंगरेजन के गरें उतर गई, पैनी धार दुधारे की।
का कइये वानपुर वारे की।
मर्दन सिंह नश्पत जुझारे की।।

बख्तवली किले में स्थित अंग्रेजों को मार भगाने के लिए बांदा नवाब अली बहादुर द्वितीय से पत्र व्यवहार कर रहा था। जब सागर के डिप्टी कमिश्नर मिस्टर वेस्टर्न को यह पता चला तो उसकी आंखों के सामने झांसी का झोंकन बाग हत्याकांड, कानपुर का सतीचौरा एवं बीबीघर हत्याकांड घूमने लगा। उसने 22 अगस्त, 1857 को एक पत्र लिखकर सागर में अत्यधिक फौज भेजने की मांग की। जबलपुर कमिश्नर अर्सकाइन ने भी भारत सरकार को डिप्टी कमिश्नर सागर की चिंताओं से 7 नवंबर, 1857 को पत्र लिखकर अवगत कराया।

सागर सहित समस्त बुंदेलखंड की स्थिति पर नियंत्रण पाने हेतु मेजर जनरल ह्यूरोज के अधीन महू में सेन्ट्रल इंडिया फोर्स का गठन हुआ। ह्यूरोज जैसा मजबूत

टिप्पणी

जीवट वाला व्यक्ति भी सागर की विपरीत परिस्थितियों से अत्यंत चिंतित था। उसने लिखा था–

''मेरी सबसे बड़ी चिंता और व्यग्रता तो यही है कि सागर को विद्रोहियों के चंगुल से कैसे मुक्त किया जाए। वह तो पांच माह से विद्रोहियों के चंगुल में है। इस किले में बहतु–सा गोला बारूद और शस्त्रास्त्रों का विपुल भंडार है। इसके अलावा इस किले में छोटी से बुड्ढी तक महिलाएं और बच्चे बंद, हैं, अभी तक किले पर जैसे–तैसे अंग्रेजों का कब्जा बना हुआ है।''

बुंदेलखंड में विद्रोह का दमन करने के लिए सागर ही उपयुक्त स्थान है, यह बात भी ह्यूरोज ने अपने 21 दिसंबर, 1857 के पत्र में ब्रिटिश सरकार को बताई थी। उसकी नजरों में सागर सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थल था। वह लिखता है–

''सागर का जबलपुर से अधिक महत्व है। सेन्ट्रल इंडिया की तो यह आयुधशाला ही है जहां शस्त्रादि बनाए जाते हैं तथा यहीं से प्रदान किए जाते हैं। यही नहीं सागर की स्थिति ऐसी है कि वह मध्य में है तथा पश्चिम से उत्तर पूर्व एवं दक्षिण भारत के लिए संचार साधनों का यह माध्यम है। मंदसौर, कोटा, कालपी, लखनऊ के विद्रोही झांसी से रीवा तक फैले हुए हैं। सागर ही ऐसा मुकाम है जहां पर सेन्ट्रल इंडिया की रियासती फौजें तथा ब्रिटिश सेना एकत्रित होकर विद्रोहियों का विनाश कर सकती हैं।''

ह्यूरोज के इस कथन पर ध्यान दिया गया। सेंट्रल इंडिया फोर्स ने सर्वप्रथम 3 फरवरी, 1858 को सागर आकर सागर के विद्रोह का दमन किया। पूरे 7 माह 7 दिन बाद किले से 370 अंग्रेज पुरूष, महिला एवं बच्चों को मुक्त कराकर उनके आवासों में भेजा गया।

बिहार

जगदीशपुर के 80 वर्षीय राजकुमार कुंअर सिंह ने बिहार में क्रांति के दौरान अंग्रेजों को अत्यधिक परेशान किया। तात्या टोपे की तरह इसने भी गुरिल्ला युद्ध प्रणाली को अपनाया। कुंअर सिंह के भाई अमर सिंह एवं उनके मित्र निशान सिंह ने भी क्रांति में बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया। यहां 12 जून, 1857 को विद्रोह आरंभ हुआ था। इन्होंने मिलमैन एवं डेंस को परास्त किया। अप्रैल 1858 में कुंअर सिंह की मृत्यु हो गई। अक्टूबर 1858 में अमर सिंह को अंग्रेजों ने परास्त किया। जनरल वेन एवं टेलर ने दिसंबर 1858 तक विद्रोह का दमन कर दिया।

शिवपुरी में तात्या टोपे को फांसी

1857 की क्रांति का सर्वप्रथम, अग्रगण्य, वीर सेनापति, व्यूह रचनाकार, शत्रु को चकमा देने वाला, निर्भीक एवं कुशल संगठक तात्या टोपे था। महाराष्ट्र के अहमदनगर के ग्राम टोवला में 1814 ई.में तात्या टोपे का जन्म हुआ था। उसका वास्तविक नाम रामचंद्र पांडुरंग भट्ट था। उसके पिता की विद्वता से प्रभावित होकर उसे अंतिम पेशवा बाजीराव द्वितीय ने अपनी सेवा में ले लिया। उन्हीं के साथ पांडुरंग बिठूर आ गए। यहां बचपन में तात्या टोपे नानासाहब, राव साहब एवं रानी लक्ष्मीबाई के साथ खेले थे। बाद में कानपुर में तात्या टोपे ने नाना साहब के साथ मिलकर अंग्रेजों को परास्त किया। कानपुर पर कब्जा होने के बाद वे झांसी आ गए और रानी लक्ष्मीबाई का साथ दिया। झांसी पर अंग्रेजों के कब्जे के बाद उन्होंने कालपी में क्रांति के समस्त नेताओं, रानी

टिप्पणी

लक्ष्मीबाई, राव साहब, बख्तवली, मर्दन सिंह, बांदा नवाब अली बहादुर द्वितीय आदि को एकत्र कर अंग्रेजों से लोहा लिया। काल्पी में ह्यूरोज ने इन्हें परास्त किया। तब रानी लक्ष्मीबाई, राव साहब व तात्या टोपे ने ग्वालियर पर अधिकार किया। रानी लक्ष्मीबाई की 18 जून, 1858 को मृत्यु के बाद से तात्या टोपे निरंतर अंग्रेजों से छापामार युद्ध करते रहे और उन्हें परेशान करते रहे।

तात्या टोपे 1857 की क्रांति की अंतिम चिंगारी थी और अंग्रेज इसे बुझाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थे। इसका पीछा करने वाले अंग्रेजों का पीछा करते–करते बुरा हाल था। सिल्वेस्टर ने तात्या टोपे की तुलना रॉबिन हुड से की है। वह बताता है कि द्रुतगति वाला तात्या टोपे ब्रिटिश सेनाध्यक्षों को भाग–दौड़ के लिए बाध्य करता रहा।

चूहे–बिल्ली का खेल– 18 जून, 1858 को रानी लक्ष्मीबाई की मृत्यु से लेकर 7 अप्रैल, 1859 को पकड़े जाने तक पूरे 10 माह तात्या टोपे ब्रिटिश सेना के साथ चूहै–बिल्ली का खेल खेलते रहे। बिल्ली खिसियाती रही, भागती रही मगर तात्या छकाता रहा। उसने हमला करो एवं भाग लो की नीति अपनायी। इसी कारण तात्या को विश्व के सर्वश्रेष्ठ सेनानायक के रूप में प्रसिद्धि मिली। 18 जनवरी, 1859 के टाइम्स समाचार–पत्र ने लिखा था कि – तात्या टोपे सर्वव्यापी मालूम होता है। लगभग आधा दर्जन फौजी दस्ते उसके पीछे पड़े हुए थे किंतु उसने उनके बीच से ही खिसक जाने की व्यवस्था कर रखी थी।

तात्या का पकड़ा जाना– नरवर के राजपूत राजा मानसिंह ने कुछ कारणों से विश्वासघात किया और 7 अप्रैल को तात्या टोपे को धोखे से पकड़ लिया गया। उसे मेजर मीड के कैम्प में ले जाया गया। शिवपुरी में 15 अप्रैल, 1859 को तात्या टोपे पर मुकदमा चला। उसे फांसी की सजा सुनाई गई। 18 अप्रैल, 1859 ई. को शिवपुरी में ही शाम 7 बजे तात्या टोपे को फांसी दे दी गई।

8 अप्रैल, 1857 को बैरकपुर में मंगल पांडे को फांसी देने की घटना से विद्रोह की चिंगारी भड़की थी। 18 अप्रैल, 1859 को तात्या टोपे की फांसी के साथ ही वह चिंगारी पूर्णतः शांत हो गई। मंगल पांडे यदि इस महासंग्राम का प्रथम शहीद था तो तात्या टोपे अंतिम शहीद।

दुर्लभ–पत्र– तात्या टोपे ने बुंदेलखंड में विद्रोह को संगठित करने के लिए कई नेताओं–बख्तवली, मर्दन सिंह आदि को पत्र लिखा था। इसी तरह कई नेताओं पारीछत, विक्रमजीत, गणेशजू, मुकुन्द सिंह आदि ने तात्या टोपे को पत्र लिखे थे। ये पत्र भोपाल के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं। शिवपुरी के डॉ. परशुराम शुक्ल विरही ने बताया है कि उन्होंने कुल 125 पत्रों को देखा था जिनमें से 117 पत्र तात्या टोपे के नाम लिखे गए हैं। ये पत्र हमें 1857 की क्रांति की वास्तविकताओं से परिचित कराते हैं।

शिवपुरी वर्तमान में मध्यप्रदेश का जिला है। यह ग्वालियर से दक्षिण की ओर 117 कि.मी. एवं झांसी से पश्चिम की ओर 97 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। प्रत्येक वर्ष 18 अप्रैल को शिवपुरी में दो दिवसीय मेले का आयोजन किया जाता है जिससे यह पक्तियां चरितार्थ होती हैं –

''शहीदों की चिताओं पर, लगेंगे हर बरस मेले।
वतन पर मरने वालों का, यही बाकी निशां होगा।।''

टिप्पणी

इस मेले के समय शिवपुरी स्थित शिवपुरी क्लब में 1857 की क्रांति से संबंधित पत्रों एवं हथियारों की प्रदर्शनी लगायी जाती है। इन पत्रों के संग्रह को परशुराम शुक्ल 'विरही' के संपादन में नगरपालिका परिषद शिवपुरी द्वारा प्रकाशित भी किया गया है।

1857 की क्रांति के असफलता के कारण

1857 की क्रांति की असफलता के एक नहीं अनेक कारण थे, जो निम्नवत् हैं –

1. **योग्य नेतृत्व का अभाव**– क्रांति के नेता बहादुरशाह जफर अत्यंत वृद्ध थे। नाना साहब, रानी लक्ष्मीबाई, बख्तवली, बेगम हजरत महल आदि क्षेत्रिय नेता थे। तात्या टोपे ने सभी नेताओं को संगठित करने का प्रयास किया मगर तब तक देर हो चुकी थी। दूसरी ओर हैवलॉक, कैंपबेल एवं आउट्रम अत्यंत योग्य सेनापति थे। भारत में अखिल भारतीय स्तर पर एक योग्य नेता का अभाव था।
2. **समय से पूर्व**– क्रांति की तिथि 31 मई, 1857 तय की गई थी। मगर क्रांति समय के पूर्व 10 मई को ही आरंभ हो गई। मेलसन ने लिखा है, ''यदि विद्रोह निर्धारित योजनानुसार सभी स्थानों पर एक साथ होता तो अंग्रेजों के सामने विकट समस्या आ सकती थी।''
3. **देशी राजाओं का अंग्रेजों को सहयोग**– राजस्थान, मैसूर, महाराष्ट्र, पूर्वी बंगाल, हैदराबाद, गुजरात आदि में शासकों ने विद्रोह को फैलने नहीं दिया। हैदराबाद, ग्वालियर, पटियाला, जींद एवं नेपाल आदि ने तो विद्रोह के दमन में अंग्रेजों का साथ दिया।
4. **विद्रोह के क्षेत्र का सीमित होना**– विद्रोह भारत के कुछ भागों तक ही सीमित रहा।
5. **गोरखा व सिक्खों द्वारा अंग्रेजों को मदद**– इन लोगों ने अंग्रेजों की मदद की।
6. **अनेक वर्गों की उदासीनता**– कुछ वर्ग इस विद्रोह के प्रति उदासीन रहे। कुछ शिक्षित वर्ग के लोग अंग्रेज शासन को भारत के लिए हितकर मानते थे।
7. **सीमित संसाधन**–विद्रोहियों के पास संसाधनों का अभाव था।
8. **अंग्रेजों की अनुकूल परिस्थितियां**– अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर परिस्थितियां अंग्रेजों के अनुकूल थीं।
9. **कैनिंग की उदारता**– राबर्टसन ने लिखा है कि कैनिंग की उदारता ने विद्रोह को जल्दी समाप्त करने में मदद की। उसने घोषणा की कि बिना जांच के किसी को भी दंड नहीं दिया जाएगा। अंग्रेजों ने इसी कारण उस पर व्यंग्य कार्टून बनाए एवं उसे 'दयावान कैनिंग' की उपाधि तक दी।
10. **वैचारिक एकता का अभाव**– विद्रोह के नेताओं के बीच वैचारिक स्तर पर एकता का अभाव था।

1857 की क्रांति के प्रभाव

सन् 1857 की क्रांति की घटना आधुनिक भारत की विशाल विभाजक रेखा है। 1857 ई. का विद्रोह यद्यपि असफल हो गया किंतु अपने मानसिक अभिव्यक्ति के

प्रतिचिह्नों को अंग्रेजी साम्राज्य के महलों पर अंकित कर गया, और विस्फोट के ये प्रतिचिह्न कलांतर में अंग्रेजों को झर–झर करते रहे।

टिप्पणी

मेरठ से प्रारंभ हुई क्रांति की चिंगारी जिस तेजी से देशभर में फैल गई उसी तेजी के साथ कुछ समय उपरांत अंग्रेजों के दमनचक्र एवं कुछ देशी रियासतों के द्वारा अंग्रेजों का साथ दिए जाने के कारण शीघ्र ही बुझ गई। यद्यपि इस आग ने देश के लाखों लोगों को भस्म कर दिया और ऐसे जख्म दिए कि जो आज भी इतिहास के पन्नों में हरे हैं। क्रांति की देशव्यापी असफलता के प्रभाव से भारत के विभिन्न क्षेत्र भी नहीं बच पाये और यहां पर भी क्रांति का दमन कर दिया गया।

सन् 1857 की क्रांति को अंग्रेजों ने अपनी सैन्य शक्ति से दबा दिया था किंतु इस क्रांति ने ब्रिटिश सरकार की जड़ें हिला दीं। इस क्रांति का अंग्रेज तथा भारतीयों के पारस्परिक संबंधों पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा तथा इसने भारतीय प्रशासन को आधारभूत रूप में परिवर्तित कर दिया। क्रांति के दमन के पश्चात ब्रिटिश सरकार का अंतःकरण जाग उठा और वह इस निष्कर्ष पर पहुंची कि भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रशासन का तत्काल ही अंत कर दिया जाना चाहिए।

लॉर्ड क्रोमर ने इस संदर्भ में कहा कि काश अंग्रेजों की युवा पीढ़ी भारतीयों के विद्रोह के इतिहास को पढ़े, ध्यान दे, सीखे और इसका मनन करे। इसमें बहुत से पाठ और चेतावनियां निहित हैं।

इसी संदर्भ में अशोक मेहता ने कहा कि सन् 1857 की क्रांति ने हमारे राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह को बदल दिया।

भारत पर नियंत्रण की विधियां यद्यपि परिपक्व हो गई थीं किंतु इनको पुनः स्थापित किया गया। निहित स्वार्थों को अच्छी प्रकार से सुरक्षित किया गया और वे भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के स्तंभ बन गए। अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति का जान बूझकर अनुसरण किया और यह अंग्रेजी नियंत्रण का मुख्य आश्रय बन गया और सैनिक असैनिक प्रशासन में मुख्य पदों पर यूरोपियन नियंत्रण कड़ा कर दिया गया।

सन् 1857 की क्रांति का जो प्रभाव पड़ा, उसका विवरण निम्नलिखित है–

1. कंपनी के शासन का अंत

सन् 1857 ई. के विद्रोह के पश्चात सर्वप्रथम 1858 के अधिनियम के द्वारा भारतीय प्रशासन का नियंत्रण कंपनी से छीन कर ब्रिटिश ताज व पर्लियामेन्ट के हाथों में सौंप दिया गया। इसके पश्चात कंपनी की सभी सेवायें ब्रिटिश ताज के अधीन कर दी गईं और ब्रिटिश सरकार का भारतीय सरकार पर नियंत्रण अपेक्षाकृत दृढ़ हो गया। गर्वनर जनरल को वायसराय कहा जाने लगा।

2. द्वैध शासन का अंत

देश में बोर्ड ऑफ कंट्रोल एवं निर्देशक प्राधिकरण के द्वैध शासन का अंत हो गया एवं इनके स्थान पर भारत सचिव की नियुक्ति की गई और इनकी सहायता हेतु 15 सदस्यीय भारत परिषद का गठन किया गया जो ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था।

अंततः कंपनी के प्रशासन के अंत के पश्चात धीरे–धीरे भारत के मामलों में संसद का नियंत्रण कम होता चला गया। संसदों को इस बात से संतोष हो गया कि अब भारत ने, जो संसद के प्रति उत्तरदायी था, प्रशासन का भार संभाल लिया था।

टिप्पणी

3. ब्रिटिश साम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया की सुधारों में परिवर्तन की घोषणा

भारत में नई व्यवस्था का आरंभ महारानी विक्टोरिया की घोषणा के साथ हुआ। घोषणा 1 नवंबर, 1858 को इलाहाबाद में आयोजित एक विशेष दरबार में की गई थी। यह घोषणा अधोलिखित है–

- सर्वप्रथम कंपनी के कर्मचारियों की अपने–अपने पदों पर नियुक्ति की पुष्टि की गई।
- देशी राजाओं के साथ पूर्व में किए गए समझौतों, अनुबंधों को स्वीकार किया गया एवं उनके अधिकारों एवं गौरव के प्रति सम्मान व्यक्त किया गया और उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने तथा साम्राज्य विस्तार न करने का वचन भी दिया गया। इसके अलावा सामाजिक, धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करने तथा जनता के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक उत्थान का वचन दिया गया।
- सीमा विस्तार की नीति का परित्याग कर दिया गया। इसके अलावा देशी राज्यों के अस्तित्व को कायम रखने के लिए उनके साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखने की नीति के साथ–साथ सरकार ने जमींदारों और तालुक्केदारों को भी बनाए रखने की नीति अपनाई एवं जो जमींदार व ताल्लुकेदार अंग्रेजो के प्रति ईमानदार थे उन्हें उनकी भूमि सौंप दी गई।

  1857 ई. के विद्रोह के दौरान ब्रिटिश प्रजा की हत्या के दोषी अपराधियों को छोड़कर शेष को क्षमा कर दिया जाएगा। इस प्रकार अहस्तक्षेप सुधारात्मक प्रयासों की ओर कदम बढ़ाये गए। यद्यपि क्षतिपूर्ति न हो सकी, किंतु इन्हीं घोषणाओं ने जनता में अदम्य लालसाओं की प्यास को जाग्रत किया।

महारानी के घोषणा पत्र में दिए गए आश्वासनों का सही अर्थों में पालन नहीं किया गया। इनके आश्वासन तो महज भारतीयों के लिए रोते हुए बच्चों को टॉफी के समान लग रहे थे। सन् 1857 के विद्रोह की ज्वाला महारानी विक्टोरिया की छलपूर्ण घोषणाओं से बुझी नहीं।

4. देशी राजाओं से संबंधों में परिवर्तन

किसी भी देशी राज्य को अंग्रेजी राज्य में नहीं मिलाने एवं गोद लेने के अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए अहस्तक्षेप व सुरक्षा की नीति अपनाई गई किंतु फिर भी देशी राज्यों को अंग्रेजों की सहायता के बिना वैदेशिक एवं व्यापार संबंधी कार्य करने की अनुमति नहीं दी गई थी साथ ही भारतीय नरेश जनता के प्रति उदासीन व कठोर हो गए और अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति पहले से अधिक वफादार हो गए।

5. सैनिक प्रभाव

सन् 1857 के विद्रोह के पश्चात सैनिकों के लिए विभिन्न नियम बनाए गए। भारतीय सेना का पुनर्गठन किया गया। इसका गठन विभाजन की नीति पर किया गया था।

टिप्पणी

यूरोपीय सैनिकों एवं भारतीय सैनिकों का अनुपात बंगाल में 1:2; बंबई, मद्रास में 1:3 रखा गया एवं मुख्य पद यूरोपीयनों के लिए ही आरक्षित किए गए (सेना व तोपखाने में)। स्थानीय लोगों से अलग रखने हेतु बंगाल के सैनिकों को मद्रास में तथा मद्रास के सैनिकों को पंजाब व उ.प्र. में रखा गया और जब सेना का संगठन किया गया तो उस समय स्थानीयता, जातीयता, साम्प्रदायिकता जैसे जहीरले तत्वों को ध्यान में रखा गया। भारतीय सैनिकों की संख्या आधी कर दी गई जबकि यूरोपीयनों की संख्या 1) (डेढ़) गुनी कर दी गई।

6. राष्ट्रीयता का उदय

सन् 1857 ई. के विद्रोह के उपरांत भारतीय जनता में राष्ट्रीयता की दबी हुई भावना जाग्रत हो गई और समस्त देश सारे भेदभावों को भूलकर विदेशियों के खिलाफ एकजुट होकर उनके अत्याचारों का सामना करने के लिए तैयार हो गया। भारतीयों में संगठित आंदोलन, योग्य नेतृत्व तथा एकता द्वारा अंग्रेजों को खदेड़ने की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। जबकि दूसरी ओर अंग्रेजों द्वारा पहाड़ी प्रदेशों पर किसानों, मजदूरों को बसाकर चाय व नील की खेती करवाने पर, ईसाई धर्म व अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार करने इत्यादि प्रतिक्रियावादी कार्यों से भारतीय शिक्षित वर्ग व श्रमजीवी अंग्रेजों के विरोधी होते गए एवं राष्ट्रीयता विकसित होती चली गई।

7. सांप्रदायिकता

सन् 1857 ई. के विद्रोह के पश्चात अंग्रेजों ने सिक्खों को मुसलमानों के विरुद्ध, मुसलमानों को हिंदुओं के विरुद्ध भड़काया जिसके पश्चात धार्मिक भावना को आधार बनाकर कलांतर में बंगाल का विभाजन हुआ। इसी साम्प्रदायिकता की कोख से मुस्लिम लीग का जन्म हुआ और इस तरह अंग्रेजों की ''फूट डालो और राज्य करो'' की नीति कामयाब हो गई। हिंदू–मुस्लिम के मध्य बनती खाई बढ़ती चली गई जो भारत के लिए दुर्भाग्यशाली थी।

8. आर्थिक प्रभाव

चाय, कपास, तंबाकू, काफी, नील, जूट के व्यापार को अत्यधिक प्रोत्साहित किया गया और भारत में पूंजी लगाने का आमंत्रण दिया गया। भारत से गेहूं, कपास को निर्यात किया जाने लगा एवं देश के प्रत्येक कोने में तैयार अंग्रेजी माल बिकने लगा और यहां से सस्ता श्रम, कच्चा माल ब्रिटेन के लिए लाभदायी सिद्ध हुआ। अंग्रेजों ने भारतीयों का शोषण कर उन्हें कर्जदार बना दिया। जाते–जाते कंपनी भारत पर 36 लाख पौंड का कर्ज छोड़ गई। निश्चित रूप से आर्थिक दुर्दशा ने देश को जर्जर किंतु अंग्रेजों के खिलाफ बर्बर मानसिकता से युक्त कर दिया।

9. राज्य परिवर्तन

1857 ई. में मुगल बादशाह सत्ता, खजाना, सेना इत्यादि की दृष्टि से भले ही कमजोर था किंतु शासन उसके नाम का चलता रहा। सन् 1857 के पश्चात अंग्रेजों ने इस डूबते सूरज का अंत कर व युग परिवर्तन कर सत्ता के मुकुट को महारानी के सिर पर पहुंचा दिया।

टिप्पणी

10. वैधानिक विकास

1857 ई. में वैधानिक परंपराओं का जन्म हुआ। प्रांतों में भी विधान सभाएं बनाई गईं। इसी परंपरा द्वारा 1861, 1892, 1909, 1919, 1935 आदि अधिनियम बने। इनमें सन् 1858 का अधिनियम एक दुखद अंत, सुखद प्रारंभ था। इसने भारत को गुलामी से आजादी की ओर प्रवृत्त किया और स्वतंत्रता की प्यास को जन्म दिया।

वैधानिक विकास विधानों का विकास हो सकता है किंतु यह एक प्रकार से लोकतांत्रिक सशक्तिकरण था। यह स्पष्ट है कि इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप स्वतंत्रता व राष्ट्रीयता की धारणाओं का विकास हुआ।

11. सशस्त्र विद्रोह और युद्ध की नीति की उपेक्षा

1857 ई. के विद्रोह की असफलता से भारतीयों की यह धारणा दृढ़ हो गई कि भारतीय जनता हथियारों से खुले रणक्षेत्र में युद्ध करके अंग्रेजों को परास्त नहीं कर सकती। सशस्त्र विद्रोह की अपेक्षा अहिंसात्मक आंदोलन अधिक कारगर और प्रभावकारी होगा। उनको यह विश्वास हो गया कि भविष्य का आंदोलन देशव्यापी होगा एवं उसे जनता का पूर्ण समर्थन, सहयोग व सहायता प्राप्त होगी।

12. भारतीयों के पूर्वाग्रह का विनाश

इस विद्रोह का एक विशिष्ट परिणाम यह हुआ कि भारतीय बाहरी आडंबरों, अंधविश्वासों और कूपमंडूकता की परिधि से बाहर आ गए और उनके पूर्वाग्रह नष्ट हो गए। अब वे आधुनिक, संवैधानिक और प्रशासकीय सुधारों, नवीन राजनीतिक विचारों तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों और खोजों की ओर अधिक आकृष्ट हुए।

निष्कर्षतः अंग्रेजी प्रतिकार की एकीकृत भावना विभिन्न दृष्टिकोणों व स्वार्थो से सही समय पाकर एकीकृत हुई; जो 1857 ई. में विद्रोहात्मक स्वरूप में अभिव्यक्त हुई किंतु सीमित संसाधन, नेतृत्व की अस्पष्टता, समय पूर्व प्रारंभ, समग्रता का अभाव, जनसाधारण का असहयोग इत्यादि ने इसे असफलता की ओर उन्मुख कर दिया। सन् 1857 ई. का विद्रोह स्वतंत्रता न दिला सका किंतु इसने स्वतंत्रता प्राप्ति का पथ निर्माण अवश्य किया एवं राष्ट्रीयता, एकता, स्वतंत्रता की भावपूर्ण अभिव्यंजना से युक्त होकर एक राष्ट्रीय परिवेश का निर्माण किया। कलांतर के स्वतंत्रता संघर्ष एवं इस दौरान अर्जित उपलब्धियां अप्रत्यक्षतः 1857 की क्रांति की उपलब्धियां मानी जा सकती हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

3. दमदम (कोलकाता) में सेना ने ब्रिटिश कारतूसों का खुला विरोध कब किया?

(क) 23 जनवरी, 1857 (ख) 31 मई, 1857

(ग) 23 जून, 1857 (घ) इनमें से कोई नहीं

4. लक्ष्मीबाई की जन्मभूमि है–

(क) झांसी (ख) काशी

(ग) दिल्ली (घ) अवध

5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

टिप्पणी

1. (ख)
2. (ग)
3. (क)
4. (ख)

5.6 सारांश

1757 में भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन आरंभ हुआ। धीरे–धीरे ब्रिटेन के उद्योंगों के लिए कम कीमत पर कच्चे माल की प्राप्ति हेतु कंपनी ने भारतीय कृषक वर्ग का शोषण आरंभ किया। किसानों को बड़ी फसल उपजाने पर बाध्य किया, जिसकी कि कच्चे माल के रूप में आवश्यकता थी। इसके अलावा अग्रेजों की भू–राजस्व नीति ने भी भारतीय कृषक वर्ग को असंतुष्ट किया। अत्यधिक लगान ने किसानों की कमर तोड़ दी। इससे धीरे–धीरे कृषक असंतोष बढ़ने लगा। इस असंतोष की परिणति कृषक आंदोलनों के रूप में सामने आयी। कृषको की भांति ही भारतीय जनजातियां भी कंपनी के शोषण का बहुविध शिकार हुईं।

ये जनजातियां अपने जंगलों के साथ अमन चैन की जिन्दगी व्यतीत कर रही थीं। कंपनी शासन ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए इनका अमन–चैन छीन लिया। व्यापारियों, साहूकारों, महाजनों, ठेकेदारों को बिचौलियों के रूप में रखकर जनजातियों का शोषण कराया। हर स्तर पर अपना शोषण होता देख जनजातीय समाज तिलमिला उठा। उसके सब्र का बांध टूट गया। उनके बाद जब इस शोषण से बचने का कोई मार्ग न बचा तो वे विद्रोह करने पर बाध्य हुए। विभिन्न जनजातीय नेताओं ने अपने आपको दैवीय शक्तियों से युक्त बता कर कंपनी शासन के विरुद्ध जनजातीय समाज का नेतृत्व किया। ये जनजातियां भूल गईं कि वे एक ऐसी क्रूर एवं अमानवीय सशक्त शक्ति से मुकाबला करने जा रही हैं जो अपनी दमनात्मक कार्यवाही में क्रूरता की सभी सीमाएं लांघ जाती है। इस प्रकार कृषक एवं जनजातियों के जितने भी विद्रोह हुए उनका कंपनी शासकों ने क्रूरतापूर्वक दमन किया। वस्तुतः ये जनजातियां तीर, तलवार, भाले से सशक्त बंदूकों का सामना कैसे कर सकती थीं। फलतः ये परास्त हुए और अंग्रेजों का शोषण बरकरार रहा।

1787 ई. में भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन की स्थापना से लेकर डलहौजी के गवर्नर जनरल के कार्यकाल 1857 तक भारत में हर वर्ग के मन में अंग्रेजों के प्रति आक्रोश, असंतोष एवं विद्रोही भावना व्याप्त थी। इन 100 वर्षों में एक साथ कई ऐसे कारण निर्मित हुए जिन्होंने भारतीय जनमानस में विद्रोह की ज्वाला जाग्रत की। समस्त भारत में विद्रोह की ज्वाला रूपी बारूद बिछ गया था इस बारूद में विस्फोट के लिए मात्र एक चिंगारी की आवश्यकता थी। चर्बी वाले कारतूस की घटना ने चिंगारी का काम किया और 10 मई, 1857 को मेरठ से क्रांति का आरंभ हो गया। मेरठ के पश्चात दिल्ली, कानपुर, झांसी, सागर, अवध इत्यादि कई स्थानों पर क्रांति की ज्वाला

टिप्पणी

पहुंची और स्थानीय स्तर पर अंग्रेजों को मुसीबतों का सामना करना पड़ा। कानपुर के सतीचौरा घाट हत्याकांड, बीबीघर हत्याकांड एवं झांसी के झोकनबाग हत्याकांड में कई अंग्रेज मौत के घाट उतार दिए गए। सागर में 370 अंग्रेजों ने क्रांतिकारियों के डर से किले में 7 माह 7 दिन शरण लेकर जान–माल की रक्षा की। 1858 में अंग्रेजों द्वारा क्रांतिकारियों का दमन चक्र चला जिसमें हजारों भारतीयों को मौत के घाट उतार दिया गया। अंततः काफी मुश्किलों के पश्चात अंग्रेजों द्वारा क्रांति का दमन कर दिया गया। इस क्रांति में जनभागीदारी एवं हिंदू–मुस्लिम एकता की अद्‌भुत मिसाल देखने को मिली। किसी विद्वान ने इसे क्रांति कहा तो किसी ने मात्र सैनिक विद्रोह, किसी ने इसे भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम कहा, किसी ने सभ्यता एवं बर्बरता का संघर्ष करार दिया। 1857 की क्रांति का सर्वप्रमुख प्रभाव यह हुआ कि भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त कर ब्रिटिश सम्राट का शासन आरंभ हो गया। अब अंग्रेजों ने भारतीयों के रीति–रिवाज एवं परंपराओं में हस्तक्षेप करना कम कर दिया।

5.7 मुख्य शब्दावली

- **औपनिवेशिक** : उपनिवेश संबंधी।
- **विखंडीकरण** : खंड–खंड करना।
- **ऋणग्रस्तता** : ऋण ग्रस्त होने की अवस्था।
- **जीविकोपार्जन** : रोजी कमाना।
- **अलख** : जो देखा न जा सके।
- **दत्तक** : गोद लिया हुआ।
- **प्रस्फुटित** : विकसित, खिला हुआ।
- **प्रतिहिंसा** : हिंसा के बदले में की गई हिंसा

5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. संथाल कौन थे?
2. संथाल विद्रोह से क्या आशय है?
3. जनजातीय विद्रोह के राजनीतिक कारण क्या थे?
4. जनजातीय विद्रोहों में ईसाई मिशनरियों की क्या भूमिका थी?
5. भील विद्रोह का उल्लेख कीजिए।
6. 1857 की क्रांति का तात्कालिक कारण क्या था?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. ईस्ट इंडिया कंपनी के विरुद्ध कृषक असंतोष के कारणों का वर्णन कीजिए।
2. बंगाल एवं पूर्वी भारत के जनजातीय विद्रोहों की विवेचना कीजिए।

3. 1857 की क्रांति में जनभागीदारी का रेखांकन कीजिए।
4. 1857 की क्रांति में अफवाहों एवं भविष्यवाणियों की भूमिका को समझाइए।
5. 1857 की क्रांति के प्रभावों की व्याख्या कीजिए।

टिप्पणी

5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. Arthur Marwic, The Nature of History, 1973.
2. Bajpayee, S. R., Methods of social survey and research, kitabghar, Kanpur, 1984.
3. Bhargav, K. D., An Introduction to Archives, Director of Archive, Government of India, New Delhi, 1958.
4. Basu, Purnendu, Archives and Records : Why are they ? National Archives of India, New Delhi, 1960.
5. कुमार रवींद्र, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1997.
6. पामदत्त रजनी, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी दिल्ली, 2011.
7. माथुर एल. पी., आधुनिक भारत का इतिहास, जैन पुस्तक मंदिर जयपुर, 1992.
8. महाजन विद्याधर, आधुनिक भारत का इतिहास, एस. चंद्र एंड कंपनी, नई दिल्ली, 1993.
9. श्रीवास्तव, बी. के., इतिहास लेखन : अवधारणा विधाएं एवं साधन, एस. बी. पी. डी. पब्लिशिंग हाऊस, आगरा, 2008.
10. श्रीवास्तव, बी. के., भारतीय इतिहास की विषयवस्तु, एस. बी. पी. डी. पब्लिकेशन, आगरा, 2010.